श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

# मोक्षशास्त्र प्रवचन

## १९, २० व २१ भाग

प्रवक्ता—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक—

खेमचन्द जैन सर्राफ,

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

(१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

प्रथम संस्करण १०००
सन् १९७८

लागत बिना जिल्द १)८५ रु०
जिल्द का पृथक् १)५० रु०

भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मंदिरके संरक्षक

(१) श्रीमती राजो देवी जैन ध० प० स्व० श्री जुगमंदरदासजी जैन आढ़ती, सरधना
(२) श्रीमती सरलादेवी जैन ध० प० श्री ओमप्रकाश जी दिनेश वस्त्र फैक्टरी, सरधना

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके सरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ
(२) श्रीमती फूलमाला देवी, ध० प० ला० महावीरप्रसादजी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ
(३) श्रीमान् ला० लालचन्द विजयकुमार सर्राफ, सहारनपुर
(४) श्रीमती शशिकान्ता जैन ध० प० श्री धनपालसिंह जी सर्राफ, सोनीपत
(५) श्रीमती मुक्टी देवी जैन, सरावगी गिरीडीह
(६) श्रीमती जमना देवी जैन ध० प० श्री भवरीलाल जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया

नवीन स्वीकृत संरक्षक

(७) श्रीमती रहती देवी जैन ध० प० श्री विमलप्रसादजी जैन, मंसूरपुर
(८) श्रीमती श्रीमती जैन ध० प० श्रीनेमिचदजी जैन, मुजफ्फरनगर
(९) श्रीमान् शिखरचंद जियालाल जी एडवोकेट, ,,
(१०) श्रीमान् चिरजीलाल फूलचंद बैजनाथजी जैन बडजात्या नई मडी, ,,
(११) श्रीमती पूना बाई ध० प० स्व० श्री दीपचन्द जी जैन गोटेगाव

**सहजानन्द-साहित्य-उद्घोष**

वस्तु सामान्यविशेषात्मक है, द्रव्यपर्यायात्मक है। अतः स्याद्वाद द्वारा समस्त विवाद विरोध समाप्त कर वस्तुका पूर्ण परिचय कीजिए और आत्मकल्याणके अनुरूप नयोको गौण मुख्य करके अभेदपद्धतिके मार्गसे आत्मलाभ लीजिए।

## परमात्म-आरती

ॐ जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी,
स्वामी जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी,
शाश्वत स्वविहारी ॐ·· ॥टेक॥

काम क्रोध मद लोभ न माया,
समरस सुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन,
सकल क्लेशहारी ॥ १ ॥ ॐ·

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना,
भव सन्तति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत,
सहत विपति भारी ॥२॥ ॐ····

परसम्बध बध दुख कारण,
करत अहित भारी ।
परमब्रह्म का दर्शन,
चहु गति दुखहारी ॥३॥ ॐ ··

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन सचारी ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ॥ ४ ॥ ॐ ···

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शातिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥ ५ ॥ ॐ ··

# आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥ टेक ॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मै हूं वह हैं भगवान ॥ १ ॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥ २ ॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥ ३ ॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुचू निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥ ४ ॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

[ धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोपर निम्नांकित पद्धतियों मे भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है। आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए ]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोके बीचमे श्रोतावो द्वारा सामूहिक रूपमे।

२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर।

३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा।

४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमे एकत्रित बालक-बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा।

५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओ द्वारा।

# मोक्षशास्त्र प्रवचन

## १६, २० व २१ भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तार कर्म भूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

पहले ५ अध्यायोमें जीव और अजीव तत्त्वका वर्णन आया । पचम अध्यायमे पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्यका वर्णन किया गया । अब उद्देश्य के अनुसार जैसा कि प्रथम अध्यायके जीवाजीवास्रव आदिक चतुर्थसूत्रमे ७ तत्त्वोके नाम लिया उस क्रमके अनुसार अब आस्रव तत्त्वका वर्णन करना प्राप्त होता है । सो आस्रवतत्त्व की प्रसिद्धिके लिए यह सूत्र कहते हैं—

## कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ ६-१ ॥

**योगका लक्षण और सूत्रप्रयुक्त कर्म शब्दके अर्थपर विचार**—शरीर, वचन और मन का कर्म योग कहलाता है । इस सूत्रमे दो पद हैं । प्रथम पदमे समास इस प्रकार है कि कायश्च वाक्चमनश्च कायवाङ्मनांसि तेषांकर्मइति कायवाङ्मनः कर्म । यहाँ कर्म शब्दका अर्थ क्रिया है अर्थात् शरीर की क्रिया, मनकी क्रिया, वचनकी क्रिया, यद्यपि कर्मशब्दके अर्थ अनेक होते हैं । कही तो कर्मकारकमे प्रयोग होता है, कही पुण्य पाप अर्थ लिया जाता है, कही क्रिया अर्थ लिया जाता है । यहाँ क्रिया अर्थ है, अन्य अर्थ यहा घटित नही होते । कर्म शब्दका एक अर्थ कर्मकारक है, वह यहाँ इस कारण घटित नही होता कि शरीर वचन और मन यहाँ कर्म नही माने जा सकते, क्योकि कर्म होते हैं तीन प्रकारके (१) निर्वर्त्य (२) विकार्य और (३) प्राप्य । निर्वर्त्य कर्म उसे कहते हैं जो रचा जाय ।

जैसे लोहेकी तलवार बनायी जा रही है तो यहाँ बनाने वाला लोहार है और वह तलवार को बनाता है तो वह तलवार किस तरह बनती है कि वह लोहा ही पसर फैलकर उस रूपमे आ जाता है। तो यह रचना हुई लोहेकी। तो कोई कर्म तो रचनारूप होते हैं, कोई कर्म विकार्य होते हैं, जैसे सेठानी जी दूधसे दहीको बना रही है तो दहीका बनाना क्या ? दूधमे जामन डालना और उसका विकार बन गया, उस विकारका नाम दही है। तो दही जो निष्पन्न हुआ है वह दूधका विकार रूप है। निर्वर्त्यमे और विकार्यमे अन्तर क्या आया ? निर्वर्त्यमे विकार नही है लोहा था उसे पसारकर, आकार बदलकर एक रचना ही तो हुई पर विकार नही आया, दहीमे विकार आया है। उसकी बदल बन गई है। रूप भी दूसरा, रस भी दूसरा, गंध भी दूसरा, स्पर्श भी दूसरा हो गया। एक होता है प्राप्यकर्म जैसे देवदत्त स्टेशनको जाता है तो यहाँ स्टेशन कर्म है तो वह प्राप्य कर्म है, अर्थात् न तो स्टेशन निर्वर्त्य है कि देवदत्तने किसी चीजसे स्टेशनकी रचना की और न वह विकार्य कर्म है कि कोई चीज मिलाकर किसी चीजका विकार बन गया हो स्टेशन किन्तु वह प्राप्य कर्म है। देवदत्त दो मील दूर था। अब वहाँसे चलकर उसने स्टेशनको प्राप्त कर लिया तो यो होता है प्राप्यकर्म। तो यहाँ देखिये कि ये तीनो ही प्रकारके कर्म कर्तासे भिन्न हैं। पर यहाँ शरीर, मन, वचनके जो योग हैं वे कर्तासे भिन्न हैं क्या ? अगर इन्हें कर्म मानते तो इससे भिन्न कर्ता क्या ? तो ये कर्म कारकमे नही आते। यहाँ एक बात विशेष जानना कि अध्यात्मशास्त्रमें कर्ता कर्म आदिकका अभेद बताया जाता। उसकी दृष्टि और है। निश्चयनयकी दृष्टिमे एक ही पदार्थमे षट्कारक निरखना हुआ करता है। मगर रूढिमे, आमरिवाजमे जो कर्ता कर्मकी रूढ़ि है तो वह भिन्न-भिन्नमे हुआ करती है। यहाँ स्थूल दृष्टिसे चिंतन चल रहा है कि शरीर, वचन और मन ये कर्मकारक नही है। तो दूसरा कहा गया था कि ये पुण्य, पापरूप होंगे सो पुण्य पापरूप भी कर्म यहाँ नही मानना, क्योंकि यदि इनका पुण्य पापरूपसे अभिप्राय होता तो आगे सूत्र स्वयं कहा जायगा—"शुभपुण्यस्याशुभ: पापस्य" यदि पुण्य पाप यहाँ प्रयुक्त कर्मका अर्थ माना जाता तो आगे इस पुण्य पापका जिक्र क्यो करते, इससे पुण्य पाप वाला कर्म भी इस सूत्रमे कहे गए कर्म शब्दका अर्थ नही है। तब फिर क्रिया ही अर्थ रहा। शरीर, वचन और मनकी क्रिया योग है अथवा कर्मकारकरूपसे भी समझना हो तो कर्ता मानो आत्माको और उसके कर्म हुए शरीर, वचन, मन, तो इस प्रकार कर्म लगाये जा सकते हैं, पर यहाँ मुख्यता क्रिया की है। यहाँ यह बात भी समझने योग्य है, योग परमार्थसे शरीर, वचन, मनकी क्रिया नही है, किन्तु शरीर, वचन, मनकी क्रिया करनेके लिए उस क्रियाके अभिमुख जो आत्मप्रदेशोका परिस्पद है वह योग

कहलाता है।

(२) **कर्म शब्दकी निष्पत्ति व योगकी त्रिविधता**—कर्म शब्दकी निष्पत्ति कैसे हुई है। तीनो साधनोमे कर्म शब्दकी निष्पत्ति हुई है। जैसे—आत्माके द्वारा जो परिणाम किया जाता है वह कर्म है। तो 'आत्मना क्रियते तत् कर्म' यह कर्म साधन हो गया। 'आत्मा द्रव्य भावरूप पुण्य पापं करोति इति कर्म'। आत्मद्रव्य भावरूप कर्मको करता है तो यह कर्तृ साधन हो गया। और जब ऐसी क्रियापर ही दृष्टि हुई तो वह भाव साधन हो गया। 'करणं कृतिर्वा कर्म' निश्चयसे तो आत्माके द्वारा आत्माका परिणाम ही किया जाता है, पर निमित्तनैमित्तिक भाव के कारण व्यवहारदृष्टिसे आत्माके द्वारा योग शब्द भी कर्ता, कर्म, करण साधनमें प्रयुक्त होता है। यहां एक शंकाकार कहता है कि आत्मा तो अखण्ड द्रव्य है और तीनो प्रकारके योग आत्मा के परिणाम स्वरूप हैं। तो परमार्थदृष्टिसे तो तीन भेद योगके न होना चाहिए। फिर यहां ये तीन भेद कैसे किए गए ? उत्तर—पर्यायदृष्टिसे ये व्यापार भिन्न-भिन्न है, इस कारण योगके तीन भेद हो गए। जैसे मानो आम्रफलका परिचय करना है तो आम तो एक पदार्थ है, उस मे भेद क्यो हों ? लेकिन चक्षु इन्द्रियसे देखनेपर आममे रूप विदित होता है तो घ्राणइन्द्रियसे परिचय करनेपर आममे सुगध परिचत होती है और रसना इन्द्रियसे परिचय करनेपर मीठा खट्टा, इस प्रकार परिचय होता है, और स्पर्शन इन्द्रियसे परिचय करनेपर कोमल, कठोर ऐसा कुछ अनुभव होता है। तो आम तो एक वस्तु है दृष्टान्तके लिए, किन्तु इन्द्रियके व्यापारके भेद से उसमे चार भेद जैसे विदित हो गए है इसी तरह पर्यायके भेदसे योगमे भी भेद समझ लेना चाहिए। तो यहां आम्रफलमे तो चक्षुइन्द्रिय आदिकके निमित्तसे रूप, रस आदिक पर्यायभेद सिद्ध हुए हैं, क्योकि ग्रहण भेदसे ग्राह्य भेद होता ही है। इस प्रकार आत्मामे पूर्वकृत कर्मोदय के निमित्तसे, क्षयोपशम आदिकके निमित्तसे शक्तिभेद भी होता है और योगभेद भी होता है।

(३) **योगोंकी निष्पत्तिका सहेतुक विधान**—देखिये पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्मके उदयसे शरीरादिक मिले है तो वहां शरीर, वचन, मनकी वर्गणामेसे किसी वर्गणाके आलम्बन होनेपर और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे और मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जो अंतरंगमे वचन-लब्धि प्राप्त हुई है तक वचनके परिणमनके अभिमुख आत्माका जो प्रदेश परिस्पंद है वह वचन योग कहलाता है। इस प्रकार सीधे स्पष्ट जानें कि योग तो आत्माका प्रदेश परिस्पंद है। वह योग यदि वचनके अभिमुख है, वचन व्यापार करनेके लिए निमित्तभूत हो रहा है तो वह कहलाता है वचनयोग। पर वचनयोग होनेके लिए प्रथम तो शरीर चाहिए ना, वह शरीर नामकर्मके उदयसे मिल गया, फिर उसकी शक्ति चाहिए, सो वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम से शक्ति मिल गई, फिर इतना ज्ञान चाहिए कि जिससे वह वचन बोल सके, तो मतिज्ञाना-

वरणका क्षयोपशम मिल गया, ऐसी स्थितिमे वचनवर्गणाका आलबन होनेपर जो आत्माका प्रदेश परिस्पद है उसे वचनयोग कहते हैं, इसी तरह मनोयोग भी वह आत्माका प्रदेश परिस्पंद है जो मनके परिणामके अभिमुख है इसमे भी क्या क्या साधन हुआ करते हैं कि पहिले तो शरीर नामकर्मका उदय चाहिए ताकि शरीर मिला सो वह भी मिल गया और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम हुआ और मनोज्ञानावरणका क्षयोपशम हुआ, इस प्रकार जब मनकी लब्धि प्राप्त हो जाती है वहाँ फिर अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कारण मिलने पर विचारके अभिमुख जो आत्माके प्रदेश परिस्पंद होते हैं वह है, मनोयोग। इसी प्रकार काययोग भी जानना। इतने साधन तो सभीमे चाहने पडते हैं शरीर नामकर्मका उदय, वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और इसके होने पर औदारिक आदिक जो ७ प्रकारकी कायवर्गणायें हैं उनमे से किसी वर्गणाका आलम्बन लेकर जो आत्मप्रदेशका परिस्पद है वह काययोग है। योग प्राय: क्षयोपशमके होने पर होता है, किन्तु सयोगकेवलीके ज्ञानावरण व वीर्यान्तरायके क्षयपर भी होता है। वह क्षयोपशम निमित्तक रहा तो केवली भगवानमे क्षय निमित्तक योग रहा। यह क्षय निमित्तक तो है पर इसका अर्थ यह नही कि क्षय हो चुके तो सदैव योग बना ही रहे। जो क्रियाका परिणमन करे ऐसे आत्माके कायवर्गणा वचनवर्गणा, मनोवर्गणाके आलम्बनसे जो प्रदेश परिस्पंद होता है वह सयोगकेवलीके योगकी रीति है, पर इसका आलम्बन आगे नही चलता इसलिए १४ वें गुणस्थानमे और सिद्ध भगवानमे योग नही होते हैं।

(४) **योगकी आत्मासे कथंचित् भेदाभेदका संदर्शन व योगका प्रकृतार्थ**—यहाँ एक बात यह भी जान लेना कि योग और आत्मामे कथञ्चित् भिन्नपना है, कथञ्चित् अभिन्नपना है। अभिन्नपना है ऐसा समझनेमे तो कुछ कठिनाई नही है, आत्मा है और प्रदेश परिस्पंद हो रहा उसका। तो आत्मासे प्रदेश जुदा नही और प्रदेश परिस्पंद जो हो रहा उससे आत्मा जुदा नही, लेकिन लक्षण सज्ञा आदिकके कारण उनमे भेद भी माना जा सकता है। जैसे एक पुरुष पुजारी है, किसान है, व्यापारी है। तो है तो वही पुरुष, मगर सज्ञा लक्षण आदिकके भेदसे वे भिन्न-भिन्न रूपमे परखे जाते हैं। अतएव वे व्यापार इससे भिन्न भी हो गए। तो ऐसे ही आत्मद्रव्यकी दृष्टिसे तो एकपना ही है, आत्मा व योग तीन नही हो गया, मगर क्षयोपशम जुदा-जुदा है, शरीर पर्याय जुदा जुदा है। उसकी दृष्टिसे योग तीन प्रकारका हो गया। यहा योग शब्दका अर्थ है प्रदेश परिस्पद। योगका अर्थ ध्यान न लेना। ध्यानका वर्णन आगे ध्यानके प्रकरणमे होगा। वैसे योग शब्द दोनोका पर्यायवाची है। युज् धातु समाधि अर्थमे भी आती है, पर उसका वर्णन आगे किया जायगा। यहां उसके आस्रव बताये जा रहे हैं तो ध्यानसे कही आस्रव होता है? प्रदेश परिस्पंदसे आस्रव होता है। तो यहा योगका मत-

लब शरीर, वचन, कायकी क्रिया है। योग शब्दका अर्थ जोड़ भी होता है। जैसे बच्चोको सवाल दिया जाता है दो तीन संख्यावोकी लाइन रख दी और कहा कि इनका योग करो याने समुदाय अर्थमे भी योगका नाम चलता है, पर यहाँ समुदाय अर्थ नही किया जा रहा है। समुदाय अर्थ तो प्रथम पदमे ही आ गया कि शरीर, वचन और मनका कर्म तो कर्म शब्द सबके साथ लिया जायगा। शरीरकर्म, वचनकर्म और मन। कर्म। पर यहाँ योग शब्द का अर्थ प्रदेशपरिस्पद ही है।

(५) **आस्रवकारणपना व कायादिक्रमरहस्यका संदर्शन**—इस सूत्रका तात्पर्य यह हुआ कि नवीन कर्मका आश्रव योगका निमित्त पाकर होता है, आत्माके प्रदेशमें जो परिस्पद है वह नवीन कर्मके आश्रवका कारण है। कार्माणवर्गणामे कर्मत्वका आ जाना यह आत्माके प्रदेशपरिस्पदके कारण होता, यहाँ तक एक साधारण बात रही, पर उस कार्माणवर्गणामे स्थिति और अनुभाग आ जाय तो वह होता है कषायके निमित्तसे। यहाँ केवल आश्रवका प्रकरण है। तो जो आश्रवका सीधा निमित्त है उसका ही वर्णन किया जा रहा है। शरीर, वचन और मन ये तीनो अजीव पदार्थ हैं, पर जीवके साथ सम्बध होनेसे वे जीवित कहलाते हैं। तो वहाँ दो पदार्थ पड़े है–जीव और ये काय आदि पुद्गल। तो उपादानकी दृष्टिसे देखा जाय तो शरीर, वचन, मनकी क्रियायें उन पुद्गलोमे ही होती हैं और आत्माके प्रदेशपरिस्पद रूप क्रियायें आत्मामे होती हैं, किन्तु जो आत्मप्रदेशपरिस्पंद काय, वचन, मनमे से जिसकी क्रियाके लिए हो रहा हो उसमे उसका नाम जोडा जाता है। तो आरोप होनेसे योगके तीन नाम हो जाते हैं—काययोग, वचनयोग और मनोयोग प्रायः करके योगके जहाँ नाम आते हैं तो उनका क्रम इस प्रकार रहता है मन, वचन, काय, किन्तु यहाँ काय, वचन, मन इस क्रम से प्रयोग किया गया है तो इसमे यह बात ध्वनित होती है कि कायकी क्रियाविशेषविदित होने वाली और और विशेष परिस्पद वाली है। वचनकी क्रिया कायकी क्रियाकी अपेक्षा कुछ कम चेष्टा वाली और वचनकी अपेक्षा मनकी क्रिया परिस्पंद भीतर ही उससे भी सूक्ष्म ढंगसे है। तो स्थूल और सूक्ष्मकी अपेक्षा इस सूत्रमे काय, वचन और मन इस क्रमका प्रयोग किया गया है। एक बात यह जाहिर होती है कि कोई काय चेष्टा बिना विचारे भी हो जाती है, पर उसकी अपेक्षा वचनकी क्रिया बिना विचारे नही होती, कम होती है। वचन बोलनेमे काययोगकी अपेक्षा विचार अधिक चलता है और मनोयोगमे तो वह विचाररूप ही है। तीसरी बात लौकिक दृष्टिसे कायसे होने वाला अनर्थ सबसे बडा अनर्थ है, वचनसे होने वाला अनर्थ उससे कम है और मनमे ही कोई बात सोच ले तो उससे दूसरेका अनर्थ नही होता, वह कम अनर्थ है, पर सिद्धान्तकी दृष्टिसे काययोगसे अधिक अनर्थ वचनयोगमे है, वचनयोगसे अधिक अनर्थ मनोयोगमें है। ऐसे अनेक रहस्योको संकेत करने वाले इस सूत्रमे यह बात कहना प्रारम्भ

किया है कि जीवके साथ कर्मोंका आते रहना किस प्रकार होता है ? उसमे सर्वप्रथम आश्रव होता, उस आश्रवका इस सूत्रमे सकेत किया है।

## स आश्रवः ॥ ६-२ ॥

(६) आस्रवका स्वरूप—इससे पूर्व सूत्रमें तीन प्रकारकी क्रियावोको योग कहा गया है। वह योग ही आश्रव है, ऐसा बतानेके लिए यह सूत्र कहा गया है कि वह जो मन, वचन, कायका कर्मरूप योग है सो आश्रव है। यहाँ यह जानना कि वास्तविक आश्रव तो प्रदेशपरिस्पद मन, वचन, काय इनमेसे जिसके अभिमुख हो रहा है, जिसके लिए प्रदेशपरिस्पद हो रहा है उस उस नामसे उनकी क्रियावोको उपचारसे योग कह देते है। प्रदेशपरिस्पद आश्रव है, इसका भी अर्थ यह जानना चाहिए कि योग नवीन कार्माण, स्कधोमे कर्मत्व होनेका निमित्तभूत है यों निमित्तमे आश्रवपनेका उपचार किया है, अथवा जीवके लिए देखें तो जीवाश्रवमे यही आश्रव है। जीवका स्वभाव है निष्क्रिय रहना, निस्तरग प्रदेश परिस्पदसे रहित रहना, सो यह स्वभाव अभिभूत होकर क्रिया परिस्पन्द जीवमे हो रहा, इसलिए यह आश्रव जीवाश्रव है।

(७) षष्ठ अध्यायके प्रथम और द्वितीय सूत्रको एक सूत्र न बनानेका कारण——यहाँ एक शकाकार कहता है कि पूर्व सूत्रको और इस सूत्रको एक मिला दिया जाय तो योग शब्द न कहना पडेगा व शब्द भी न कहना पडेगा और सधि होनेसे एक अक्षर और भी कम हो जायगा। ऐसा करनेपर सूत्ररूप होगा– 'कायवाङ्मनः कर्माश्रवः' और सूत्रका लघु होना विद्वानो के लिए शुद्धि और प्रसन्नताका कारण होता है। इसके समाधानमे कहते हैं कि यदि ऐसा सूत्र बनाया जाता और वहाँ योग शब्द न आता तो लोग योगसे अपरिचित रहते और फिर सीधा ही यह ही जानने कि काय, वचन, मनकी क्रिया ही आश्रव है। निमित्तनैमित्तिक भाव और वास्तविक आश्रवभावका परिचय नहीं रहता। तो योग शब्द आगममे प्रसिद्ध है और उसका अर्थ यहाँ न कहा हुआ हो जाता, जिससे अर्थमे भी बाधा आती और योग शब्दका कथन न रहनेका दोष भी रहता। अब शकाकार कहता है कि योग शब्द भी रख लिया जाय फिर भी दोनो सूत्रोको मिला देनेसे सः शब्द न रखना पडेगा तो भी लघु हो जायगा। उस समय सूत्र का रूपक होगा 'कायवाङ्मन कर्मयोग. आश्रवः'। इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि दोनोको एक मिला देनेसे समस्त योगोमे आश्रवपना आ जायगा। यद्यपि मिला देना भी शाब्दिक दृष्टि से ठीक बैठना है फिर भी न मिलाया तो यह पृथक्करण इस बातको सूचित तो करता है कि योग आश्रवके हेतु है, परन्तु सर्व योगमे समान आश्रवपना नही है और स्थितिकी दृष्टिसे १३ वें गुणस्थानमे सयोगकेवलीके केवली समुद्घातमे बडा योग होने पर भी आश्रव नही होता।

वीतराग आत्माओंके साम्परायिक आश्रव नही कहा गया और साम्परायिक आश्रव ही वास्तव मे आश्रव है। ईर्यापथाश्रव तो निष्फल है, उसका तो एक समय भी ठहरना नही होता। यद्यपि सयोगकेवलीमे सूक्ष्मकाययोग है और उसके निमित्तसे जो आश्रव है वह अत्यन्त अल्प है, स्थिति ऐसी है मगर दोनों सूत्रोंको एक मिला देनेसे उनका भी आश्रवपना सिद्ध हो जाता।

**(८) सानुभाग व निरनुभाग आस्रवके हेतुभूत योगको जाननेके लिये सूत्रपार्थक्य** — और भी देखिये—वर्गणावोका आलम्बनके निमित्तसे योग होता है और उसे आश्रव कहा है, मगर जिस समय दण्ड आदिक समुद्धात होते हैं वे वर्गणावोके आलम्बनके निमित्तसे नही होते। इस कारण सयोगकेवलीके आश्रवपना नही माना गया। अब शंकाकार कहता है कि सयोगकेवली गुणस्थानमे दंडादिक समुद्धात होनेपर अन्य आश्रव नही माने गए तो सर्वथा निर्बंध हो जायेंगे, निराश्रव हो जायेंगे, पर करणानुयोगमे सयोगकेवली गुणस्थान तक अथवा ११वें, १२वें, १३वें तीनो वीतराग आत्मावोके ईर्यापथाश्रव कहे गए हैं, अथवा प्रकृतिबंध, प्रदेशबध नामका बध माना गया है तब तो यह आगमके विरुद्ध हो जायगा। इसके समाधानमे कहते हैं कि वहाँ जो भी आश्रव हो रहा, बंध हो रहा, स्थिति अनुभागसे रहित जो कार्माणवर्गणायें आ रही, उसमे दंडादि योग निमित्त बंध नही है। तो क्या है? कार्माण वर्गणाके निमित्तसे आत्मप्रदेशका परिस्पंद है और तन्निमित्तक वहाँ बध है सो भी स्थितिअनुभागरहित है। शंकाकार कहता है कि जैसे केवली भगवानके इन्द्रिय होनेपर भी इन्द्रियका व्यापार न होनेसे इन्द्रियजन्य बध नही हो रहा है उसी प्रकार दंडादिक समुद्धात होनेपर भी तन्निमित्तक बंध न होनेसे इसका आश्रवपना न हो सकेगा। तो पूर्वोक्त आपत्ति न आनेसे दोनो सूत्रोको एक बना देनेपर भी तो कुछ हर्ज नही है। इसके उत्तरमे कहते हैं कि भिन्न-भिन्न सूत्र बनानेमे यह अर्थ निकलता है कि शरीर वचन और मनकी वर्गणावोके आलम्बन से जो प्रदेश परिस्पद है वही योग है और वही आश्रव कहलाता है अर्थात् कोई ऐसा भी योग है कि जिस योगसे आश्रव नही होता, यह बात तब ही तो शुद्ध बनेगी जब दो सूत्र भिन्न कहे जायेंगे। यहाँ आश्रवमे मुख्य साम्परायिक आश्रव लेना।

**(९) आस्रव शब्दका शब्दार्थ, निरुक्त्यर्थ व प्रकृतार्थ**—अच्छा अब देखो आश्रव नाम क्यो रखा गया है कर्मंमे कर्मत्व आनेका? आश्रव कहते है किसी द्वारसे चूकर निकलनेको। जैसे किसी पर्वतमे किसी स्थलपर चू कर पानी निकलता है तो ऐसे ही योगकी नालीके द्वारा आत्माके कर्म आते हैं, इस कारण वह योग आश्रव नामसे कहा जाता है जैसे कोई गीला कपडा वायुके द्वारा लायी गई धूलको अपने प्रदेशोमे ग्रहण कर लेता है अर्थात् चारो ओरसे चिपटा लेता है, ऐसे ही कषायरूपी जलसे गीला यह आत्मा योगरूप वायुके द्वारा लायी गई

कर्मधूलको अपने सर्व प्रदेशोंसे ग्रहण कर लेता है अथवा जैसे कोई गर्म लोहेका गोला पानीमें डाल दिया जाय तो वह गोला चूंकि बहुत तेज लाल गर्म है सो वह चारो तरफसे पानीको खीच लेता है, ऐसे ही कषायकी महती अग्निसे संतप्त हुआ यह जीव योगसे लाये गए कर्मों को सर्व प्रदेशोंसे ग्रहण कर लेता है और इस प्रकारके आश्रव होनेमे आत्मप्रदेश परिस्पंद साक्षात् निमित्त है और वह हुआ मन, वचन, कायके अभिमुख होकर, इस कारण यहाँ तीन योगोको आश्रव कहा गया है। अब यहाँ भी जिज्ञासा होती है कि कर्म दो प्रकारके माने गए हैं--(१) पुण्यकर्म और (२) पापकर्म। तो क्या वहाँ अविशेषतासे वह योग आस्रवणका कारण है या कुछ उन दोनोमे भेद है ? अर्थात् पुण्यकर्मका आश्रव हो, पापकर्मका आश्रव हो, दोनो एक समान विधिसे हैं अथवा इनमे कुछ अन्तर है इसके उत्तरमे सूत्र कहते हैं—

**शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ६-३ ॥**

**( १० ) शुभयोग और अशुभयोगका स्वरूप, विश्लेषण एवं कार्य**--शुभयोग पुण्य का आश्रव करता है और अशुभयोग पापका आश्रव करता है। शुभयोग क्या होता है ?.... उत्तर—शुभपरिणामपूर्वक होने वाला योग शुभयोग कहलाता है। शुभयोग भी तीन प्रकारके हैं—(१) शुभकाययोग, (२) शुभ वचनयोग, (३) शुभ मनोयोग। और अशुभयोग भी तीनो ही प्रकारके हैं--(१) अशुभ काययोग, (२) अशुभ वचनयोग और (३) अशुभमनोयोग। शरीरसे खोटी चेष्टायें होनेको अशुभकाययोग कहते हैं। जैसे कोई जीवहिंसाकी प्रवृत्ति करता है, चोरी, मैथुन आदिक प्रवृत्तियाँ करता है तो वह अशुभ काययोग है। कोई पुरुष झूठ बोलता है, कठोर वचन कहता है तो वह अशुभ वचनयोग है। कोई पुरुष विचार गंदे रखता है, किसीको मारनेका विचार, किसीसे ईर्ष्या करनेका विचार, किसीसे मात्सर्य रखनेका विचार, तो वह अशुभ मनोयोग कहलाता है, ऐसे ही अशुभयोग अनन्त प्रकारके होते हैं—अब शुभयोग सुनो– जीवदया, हिंसासे निवृत्तिका परिणाम, अचौर्यभाव, ब्रह्मचर्यभाव ये सब शुभकाय योग हैं। सच हितकारी परिमित बोलना शुभवचनयोग है। वीतराग प्रभुकी भक्ति, तपश्चरणकी प्रीति, श्रुतशास्त्रका विनय आदिक विचार शुभमनोयोग कहलाते हैं। ये सब अध्यवसाय कहलाते हैं। अध्यवसायके स्थान यद्यपि असख्यात लोक प्रमाण है फिर भी अनन्तानन्त पुद्गलसे बँधे हुए जो कर्म हैं ज्ञानावरणादिक उनके क्षयोपशमके भेदसे वे तीनो योग अनन्त प्रकारके हो जाते हैं, क्योकि जितना उनमे क्षयोपशम उदय आदिक पड़े हैं उतने ही अनन्तानन्त प्रदेश वाले कर्मोंका ग्रहण होता है और फिर जीव अनन्तानन्त हैं, उस दृष्टिसे तीनो योग अनन्त प्रकारके हो जाते हैं।

**(११) शुभयोगसे विषय स्वरूपके विषयमे चर्चा**—यहाँ एक बात विशेष जानना

कि जो शुभ अशुभ योगमे शुभ अशुभपना है वह इस कारणसे नही है कि जो शुभकर्मका कारणभूत योग हो वह अशुभयोग कहलाये, क्योंकि शुभयोग होनेपर भी ज्ञानावरणादिक अशुभ कर्मोंका बध चलता रहता है। फिर शुभ अशुभपना किस प्रकार है ? जिसमे साता-वेदनीय आदिक पुण्य प्रकृतियोंका विशेद आस्रव हो उसका निमित्तभूत योग शुभ है, पाप-प्रकृतियोके आस्रवका निमित्तभूत योग अशुभ है। अथवा यहां यह अवधारण करना कि शुभ योग ही पुण्यका आस्रव करता है, इससे यह सिद्ध होगा कि कुछ शुभयोग होने पर भी पाप का आस्रव होता रहता है।

(१०) पाप और पुण्यके विषयमें स्वरूप निरुक्ति, विश्लेषण आदिकी चर्चा—पुण्य शब्दकी निरुक्ति है 'पुनाति आत्मानं अथवा पूयते अनेन' इति पुण्यं जब कर्तृसाधनकी विवक्षा हो तो उस स्वतत्रताकी विवक्षामे तो यह निरुक्ति हैं कि जो आत्माको प्रीति उत्पन्न कराये, हर्ष उत्पन्न कराये वह पुण्य है और जब करणसाधनकी विवक्षा हो, जिसकी रीति परतंत्रता की विधिका प्रयोग है तो वहां अर्थ होता है कि हर्षरूप होता है जिसके द्वारा वह पुण्य कहलाता है। वे पुण्य प्रकृतियां क्या हैं सो स्वयं इस ग्रन्थमे आगे कहा जायगा कि साता वेदनीय आदिक पुण्य प्रकृतियां है। पाप पुण्यका प्रतिपक्षी है और पाप शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है 'पातिरक्षति आत्मानं शुभपरिणामात् इति पाप,' धातुके अर्थकी दृष्टिसे अर्थ होता है कि जो आत्माको शुभ परिणामसे बचाये उसे पाप कहते हैं अर्थात् शुभ परिणाम न होने दे, खोटे परिणाम रहे वह पाप है। पाप कर्म असातावेदनीय आदिक है सो आगेके अध्यायोमे कहेंगे। यहां शङ्काकार कहता है कि जैसे वेडी चाहे सोनेकी हो अथवा लोहेकी हो, उस वेड़ीके प्रयोग से परतंत्रता होना यह इनसे समान ही पाया जाता है तो फल तो वरावर ही रहा। पुण्य भी परतंत्रताका कारण रहा, पाप भी परतंत्रताका कारण रहा, क्योंकि पुण्यफलमें भी ससार मे ही रहना पड़ता, पापके फलमे भी संसारमे रहना पड़ता, तो समान ही निमित्त बना रहा केवल नामकाका भेद करना अच्छा नही। वास्तविकतापर ध्यान दें तो दोनोंका निमित्तभूत जो योग है वह एक समान है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते है कि हां एक दृष्टिसे ऐसा ठीक है मगर इष्ट और अनिष्टका निमित्त होनेमे उन दोनोमे भेद है। पुण्यकर्म तो इष्टगति जाति शरीर इन्द्रिय विषय आदिकका निर्माण करने वाला है और पापकर्म अनिष्ट गति जाति शरीर आदिक सभी अनिष्ट विषयोंका रचने वाला है। यह इनमे भेद है, सो जो शुभ योग है वह तो पुण्यका आस्रव करता है और जो अशुभ योग है वह पापका आस्रव करता है।

(११) शुभ अशुभ योग व पुण्य पापके सामर्थ्योंका संदर्शन—यहां शंकाकार कहता है कि जब शुभ परिणाम होते रहते घातिया कर्मोंका बंध होता ही रहता है, तो यह विभाग

करना गलत रहा कि शुभ परिणाम पुण्यके आश्रवका कारण है, लो शुभ परिणाम तो पाप का भी आश्रव कराता है। इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि यह पुण्य पापकी जो चर्चा है वह अघातिया कर्मकी दृष्टिसे समझना। अघातिया कर्मोंमे जो पुण्य है उनमे आश्रवका कारण अशुभयोग है अथवा शुभयोग पुण्यका ही कारण है, यह निश्चय नही कर रहे, किन्तु यह निश्चय करना कि शुभयोग ही पुण्यका कारण है, इससे यह भी बात आ गयी कि शुभयोग होते हुए भी घातिया कर्मोंका, पाप कर्मोंका आश्रव हो सकता है। शंकाकार पुनः कहता है कि यदि शुभ पापका और अशुभ पुण्यका भी कारण होता है तो जो आगममे बताया है कि सब कर्मोंका उत्कृष्ट स्थितिबध उत्कृष्ट सक्लेशसे बताया गया है और जघन्य स्थिति बध मद सक्लेशसे बताया गया है। तो ये दोनो ही बातें जो आगममे कही है वे निरर्थक हो जायेंगी। इस शंकाके उत्तरमे कहते हैं कि इन दोनो सूत्रोका अर्थ यो देखें कि तीव्र संक्लेश से उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और मद संक्लेशसे जघन्य स्थितिबध जो बताया है सो अनुभाग बधकी अपेक्षा जानना, क्योकि फलमे मुख्य निमित्त अनुभाग बध होता है। कितने ही कर्मपरमाणु बँध जायें और कितनी ही स्थितिके बँध जायें, यदि उनमे अनुभाग विशेष नही है तो वह फल विशेष नही दे सकता। तो चारो प्रकारके बधोमे अनुभाग बंध बडा प्रबल बध है। सो यह अर्थ लेना कि समस्त शुभ प्रकृतियोका उत्कृष्ट अनुभाग बध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामसे होता है और समस्त अशुभ प्रकृतियोका उत्कृष्ट अनुभाग बंध तीव्र सक्लेश परिणामसे होता है और स्पष्ट बात फिर यह है कि जैसे लोकमे कोई पुरुष बहुत तो उपकार करता है और कदाचित् थोडा अपकार भी कर दे तो लोग उसको उपकारक ही मानते हैं, ऐसे ही शुभयोग होनेपर कुछ पापकर्मका बध भी हो जाय तो चूंकि अधिक पुण्यका ही बध है इस कारण उसे पुण्यबधका ही कारण कहा जाता है। अब यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि क्या ये आश्रव समस्त ससारी जीवोके समान फल देनेके हेतुभूत है या कुछ विशेषता है ? इसके समाधानमे सूत्र कहते हैं—

## सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ६-४ ॥

(१४) आस्रवकी द्विविधताका व आस्रवके स्वामीका वर्णन—कषायसहित जीवोके साम्परायिक आश्रव होते हैं और कषायरहित जीवके ईर्यापथास्रव होता है। चूंकि आश्रवके दो प्रकारके स्वामी हैं। इस अपेक्षासे आश्रवके दो भेद कहे गए हैं। यद्यपि आश्रवके स्वामी अनन्त हैं। जितने जीव हैं उन सबमें परस्पर भेद भी हैं, तिसपर भी उन सब जीवोको एक दृष्टिसे सक्षिप्त किया जाय तो दो प्रकारोमे आते हैं। कोई कषायसहित है, कोई कषायरहित है, कषाय किसे कहते हैं ? जो आत्माको कसे उसे कषाय कहते हैं। 'कषति आत्मान इति

कषाय, क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार परिणाम आत्माका घात करते है, कसते है, इसे दुःखी कर डालते है। बेचैन हो जाते है आत्मा कषायोंसे ग्रस्त होकर। और फिर अगले भव मे कुगति भी मिलती है सो आगे भी उसका फल भोगना पडता है। तो आत्माको ये कषायें चोटती हैं, घात करती हैं इस कारण इन्हे कषाय कहते हैं। अथवा कषायें दूध, गोंद आदिक की तरह कर्मोंको चिपकाती है इसलिए वे कषाय कहलाती। जैसे बड़ आदिकके पेडसे जो गाढा दूध अथवा गोद जैसा निकलता है वह दूसरे पदार्थोंको चिपकानेमे कारण है, ऐसे ही क्रोधादिक भाव भी आत्माको कर्मसे चिपकानेमे कारण बन जाते हैं या आत्मासे कर्मको चिपकनेमे कारण बनते है, इस कारण कषायकी तरह होनेको कषाय कहते है। जो इन कषायोसे युक्त भाव है वे सकषाय कहलाते है। और जो कषायोसे रहित है, जहाँ कषायें नही पायी जाती वह अकषाय कहलाता है। तो कषायसहित जीवके साम्परायिक आश्रव है, कषायरहित जीवके ईर्यापथाश्रव है।

(१५) साम्परायिक व ईर्यापथ आस्रवका निरुक्त्यर्थ भावार्थ स्वामित्व आदि विषयक चर्चा—साम्पराय शब्दमे मूल शब्द है सम्पराय और उसकी व्युत्पत्ति है कि चारो ओरसे कर्मोंके द्वारा आत्माको पराभव होना सो साम्पराय है। 'कर्मभिः समन्तात आत्मनः पराभवः इति साम्परायः,' और यह साम्पराय जिसका प्रयोजन हो, जिसका कार्य हो इस साम्परायके प्रयोजन वाला काम साम्परायिक कहलाता है। इन दोनो आश्रवोमे साम्परायिक आश्रव कठिन है, कठोर है, ससारका बढाने वाला है, ससारफल देने वाला है, सुख दुःखका कारण है, किन्तु ईर्यापथास्रव केवल आता है और तुरन्त निकल जाता है, आत्मामे ठहरता नही है। ईर्यापथ शब्दमे दो शब्द हैं—(१) ईर्या और (२) पथ। ईर्या नाम है योगकी गतिका, ईरणं ईर्या अर्थात् आत्मप्रदेशपरिस्पंद होना इसे कहते है ईर्या, और ईर्याके द्वारसे जो कार्य होता है उसे कहते हैं ईर्यापथ। 'ईर्याद्वार यस्य तत् ईर्यापथ' इस सूत्रमे दो पद हैं और दोनोंमे द्वन्द्व समास है और इसी कारण दोनो ही पद द्विवचनमे हैं, जिनका विभक्ति अनुसार अर्थ है कि कषायसहित जीवके साम्परायिक कर्मका आश्रव होता है। कषायरहित जीवके ईर्यापथकर्मका आश्रव होता है। मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक इन १० गुणस्थानोमे कषायका उदय रहता है। सो कषायके उदयसे सहित जो परिणाम है ऐसे परिणाम वाले जीवके योगके वशसे कर्म आते हैं और वे गीले चमड़ेमे धूल लगनेकी तरह स्थिर हो जाते है वे साम्परायिक कर्म कहलाते है, और ११वें गुणस्थानसे लेकर १३वें गुणस्थान तक उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय और सयोगकेवली ये तीनो कषायरहित हैं, वीतराग है, किन्तु योगका सद्भाव है तो इसके योगके वशसे जो कर्म आते है सो आयें तो सही, पर कषाय न

होनेसे बंध नही होता। जैसे सूखी भीत पर कोई लोघा गिर जाय तो वह तुरन्त ही अलग हो जाता है, चिपटता नही है, इसी प्रकार कषाय न होनेसे वह आत्मा सूखेकी तरह है। वहां जो कर्म आते हैं वे डलेकी तरह तुरन्त दूर हो जाते हैं, इसका नाम है ईर्यापथ।

(१६) **सकषाय अकषाय शब्दोंके सूत्रोक्त अनुक्रमकी मीमांसा**—एक शकाकार कहता है कि इस सूत्रमे पहले पदमे दो स्वामियोका वर्णन किया है—१–कषायसहितका और २–कषायरहितका। तो इन दो स्वामियोके बीच प्रशंसनीय तो कषायरहित है, इस कारण कषायरहित शब्द पहले कहना चाहिए था फिर सकषाय शब्द बोलते। इस नीतिका उल्लघन क्यो किया गया? इसके उत्तरमे कहते हैं कि बात तो यह सही है। अकषाय आत्मा पवित्र है, पूज्य है और सकषाय आत्मा उससे निकृष्ट है, किन्तु पहिले कुछ वर्णन सकषाय जीवके बारेमे होना है। अकषाय जीवके बारेमे क्या विशेष वर्णन होगा? वहा कर्म स्थितिको ही प्राप्त नही होते। तो बहुत वक्तव्यता होनेसे सकषाय शब्दको पहले रखा गया है और इस कारण साम्परायिक होता है सो दूसरे पदमे प्रथम साम्परायिक शब्द रखना पडा है। यहा यह बात शिक्षामे आती है कि जीव यदि अपने स्वरूपकी सभाल करे, पूर्वकृत कर्म का उदय होने पर कषायकी छाया आये भी तो भी ज्ञानदृष्टिके बलसे वहा बध अति अल्प होता है और जब कषायका सस्कार ही न रहे, निमित्तभूत मोहनीय कर्म भी न रहे, उसका विपाक न आये तो छाया भी न पडेगी तो वहां फिर योगवश जो कर्म आयेंगे वे ईर्यापथ है। इस जीवका ससारमे भ्रमण कराने वाला कषायभाव ही है। अब जिज्ञासा होती है कि जब साम्परायिक आस्रव पहला वक्तव्य है, इसके विषयमे बहुत अधिक वर्णन किया जाना है तो उसके पहले भेद बतलावो कि साम्परायिक आस्रवके कितने भेद है। इसी जिज्ञासाकी पूर्तिके लिए सूत्र कहते हैं।

**इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ।६-५।**

(१७) साम्परायिक आस्रवके भेद—इन्द्रियां ५, कषाय ४, अव्रत ५ और क्रिया २५, ये सब मिलाकर ३९ साम्परायिक आस्रवके भेद हैं। इन्द्रियका लक्षण पहले कहा गया था वे दो प्रकारकी हैं (१) द्रव्येन्द्रिय और ( ) भावेन्द्रिय। इनके विषय ५ होते हैं—रूप, रस, गध, स्पर्श और शब्द। इन ५ विषयोंमे इन्द्रियकी वृत्ति होनेसे कर्माश्रव होता है और वह साम्परायिक आश्रव होता है। कषायें चार होती हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। क्रोध गुस्साको कहते हैं, मान गर्व करनेको कहते हैं, माया छल कपटको कहते हैं और लोभ तृष्णा करनेको कहते हैं। ये चारो कषायें साम्परायिक आश्रवके मुख्य कारण हैं। ५ अव्रत हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, किसी प्राणीका ख्याल करके उसके मारने, वध करने,

पीटने, नुक्सान पहुंचाने आदिकका विचार रखते हुए जो खुदको दुःखी और परको दुःखी करना है वह हिंसा कहलाती है। असत्यसम्भाषण करना, दूसरोको अहितकर वचन बोलना यह झूठ है। बिना दूसरेके दिए हुए, स्वामीके भीतरी अभिप्रायके बिना चीज लेनेको चोरी कहते है। परस्त्री या परपुरुषके प्रति कामवासनाका भाव रखना कुशील कहलाता है। बाह्यपदार्थों मे तृष्णा करना परिग्रह है। क्रियायें २५ होती हैं जो कि साम्परायिक आस्रवके कारण हैं। इन क्रियावोमे कोई क्रिया शुभ है कोई क्रिया अशुभ है, सभी क्रियायें कर्मके आस्रवका कारण है।

( १८ ) सम्यक्त्वक्रियादि साम्परायिक आस्रवसम्बन्धित दश क्रियावोंका निर्देश— [१] सम्यक्त्वक्रिया—चैत्यगुरु शास्त्रकी पूजा आदिक करनेरूप सम्यक्त्वको बढाने वाली क्रिया सम्यक्त्वक्रिया कहलाती है। यद्यपि सुननेमे यह भली लग रही है और शुभ भी है, परन्तु आश्रवके प्रकरणमे जिन घटनावोमे परिणामोमे रागका अंश भी हो, चाहे वह शुभ है तो भी वहाँ आश्रव बताया गया है, इस क्रियामे शुभ आश्रव होता है। [२] मिथ्यात्वक्रिया—रागी द्वेषी देवताओका स्तवन करना, कुगुरु आदिककी भक्ति करना, जो मिथ्यात्वहेतुक है वे सब प्रवृत्तियाँ मिथ्यात्वक्रिया कहलाती है। [३] प्रयोगक्रिया—शरीरादिकके द्वारा जाना आना आदिक प्रवृत्ति करना प्रयोगक्रिया है। इस क्रियामे वीर्यान्तिरायका, ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर अंगोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे प्राप्त मन, वचन, कायकी चेष्टायें चलती है अथवा इन योगोके रचनेमे समर्थ पुद्गलका ग्रहण करना भी प्रयोगक्रिया है। [४] समादान-क्रिया—सयम धारण करनेपर भी कुछ अविरत भावकी ओर झुकना सो समादानक्रिया है। [५] ईर्यापथक्रिया—ईर्यापथाश्रवके कारणभूत जो भी परिस्पदात्मक क्रिया है वह ईर्यापथके कर्ममे निमित्तभूत है। परिस्पंदरूप चेष्टाको ईर्यापथक्रिया कहते है। [६] प्रादोषकीक्रिया—क्रोधके आवेशमे जो भी चेष्टायें होती है वे प्रादोषकी क्रिया कहलाती है। इससे कर्मोंका आश्रव होता है। यहाँ एक अन्तर समझना कि क्रोध प्रदोषमे कारण होता है अतः क्रिया कारणके भेदसे क्रोधकषाय और प्रादोषकी क्रियामे भेद है। क्रोध तो बिना बाह्य निमित्तके भी होता है अथवा क्रोध प्रदोषके निमित्तसे नही है, किन्तु प्रादोष क्रोधरूप निमित्तसे होता है। जैसे माया चुगलीके स्वभाव वाला कोई व्यक्ति इष्ट स्त्रीहरण, धनका विनाश आदिक निमित्तोंके बिना भी क्रोध करता है, जिसको ईर्ष्या लगी है ऐसा पुरुष प्रकृत्या क्रोध करता है तो क्रोध निमित्त है और प्रादोष उसका कार्य है। [७] कायकी क्रिया—प्रादोषके बाद जो चेष्टायें होती है उस प्रादोषयुक्त पुरुषका उद्यम कायकी क्रिया कहलाती है। [८] आधिकरणकी क्रिया—हिंसाके उपकरणोको ग्रहण करनेसे जो विकार जगता है वह आधिक-

रणकी क्रिया कहलाती है। [९] पारितायिकी क्रिया—दूसरोंको दु:ख उत्पन्न करने वाली चेष्टा पारितायिकी क्रिया कहलाती है। [१०] प्राणातिपातिकी क्रिया—आयु इन्द्रिय बल आदिकका वियोग करने वाली चेष्टायें प्राणातिपातिकी क्रिया कहलाती हैं याने ऐसी क्रिया जिससे प्राणघात हो, ऐसी क्रियासे अशुभ आश्रव होता है।

(१६) **दर्शनक्रियादिक साम्परायिकास्रव संबंधित पांच क्रियावोंका निर्देश**— [११] दर्शनक्रिया—रागसे कषायसहित होकर किसी सुन्दर रूपके देखनेका अभिप्राय करना दर्शनक्रिया है। जो रूप इष्ट लगता हो उस रूपको देखनेका भाव होना वह दर्शनक्रिया है। देख सके या न देख सके, देखनेका भाव ही किया तो वही आत्माके लिए क्रिया हो गई, क्योंकि कर्मोंका आश्रव जडकी क्रियासे नही होता, किन्तु आत्मभावमे विकार आनेसे कर्मका आस्रव होता है। [१२] स्पर्शनक्रिया—प्रमादके वश होकर जिस चीजको छूना चाहिए, जो इष्ट लग रहा हो उसको छूनेका अनुभव करना, छूनेका अभिप्राय करना वह सब स्पर्शन क्रिया है। ये सब साम्पराय आस्रवके कारण बताये जा रहे हैं जिससे ससारमे रुलना होता है। यहां एक शका होती है कि जब इन्द्रियको भी आस्रवका कारण कहा है तो देखना, छूना यह तो इन्द्रियमे ही गर्भित हो जाता और यह क्रिया अलगसे क्यो कही जा रही? तो उत्तर इसका यह है कि पहले जो ५ इन्द्रियोको साम्परायिक आस्रवका कारण कहा है वहा तो इन्द्रियविज्ञान अर्थ लेना है और इस क्रियाके प्रकरणमे इन्द्रियसे ज्ञान करनेके पूर्वक आत्माके प्रदेशोमे परिस्पद हुआ, कुछ चेष्टा हुई यह भाव लेना है। [१३] प्रात्ययिकी क्रिया—कोई नया अधिकरण बना, नई चीज बनी, नया साधन बना विषयका या कषायका उस साधनके बननेको प्रत्यायिकी क्रिया कहते हैं। [१४] समन्तानुपात क्रिया—स्त्री, पुरुष, पशु आदि जिस जगह बैठा करते हो, रहा करते हो उस जगह मलमूत्रका क्षेपक्ष करना समतानुपात क्रिया है। इन सब क्रियावोंमे साम्परायिक आस्रव होता है। [१५] अनाभुक क्रिया—बिना शोधे हुए, बिना देखे हुए जमीन पर बैठ जाना सो जाना अपने शरीरके अगोका निक्षेपण करना यह अनाभुक क्रिया है। **इन सब क्रियावोमे प्रमाद कितना बसा हुआ है** इस कारण इन क्रियावोसे साम्परायिक आश्रव होता है।

(१६) स्वहस्तक्रिया—जो क्रिया दूसरेके द्वाराकी जानी चाहिए उस क्रियाको स्वयं करना यह स्वहस्तक्रिया कहलाती है। जैसे बाल नाई बनाया करते हैं और कोई खुद ही रेजर उस्तरा आदिसे बाल बना ले तो यह स्वहस्तक्रिया है। ये आश्रवके ही कारण बताये जा रहे। इसमे कोई यह सोचे कि ऐसी स्वहस्त क्रिया नही होनी चाहिये, सो ऐसी ऐसी अनेक क्रियायें चल रही हैं, जिनसे आश्रव होता है तो यह भी आश्रव है अथवा दूसरेमे काम कराये वहां भी

आश्रव है वह भी आश्रवमे गिना है। तो कर्मोंका आश्रव जिनसे होता है वे सब क्रियायें बतायी जा रही है। अपने हाथसे करे वहाँ भी आश्रव दूसरेसे कराये वहाँ भी आश्रव। आश्रवके भेद बताना यह प्रयोजन है।. (१७) निवर्ग क्रिया—पाप ग्रहण करना आदिककी प्रवृत्ति विशेषका ज्ञान करना या सुगमतया होना यह निसर्गक्रिया कहलाती है। (१८) विदारण क्रिया—आल· स्यसे शुभ क्रियाको न करना और दूसरेके द्वारा किए गए पापादिक कार्योंका परिग्रहण करना विदारण क्रियायें कहलाती है। [१९] आज्ञाव्यापा रिकी क्रिया—जैसी शासनमे आज्ञा है आवश्यक कार्य करना चाहिए, उन क्रियावोको कर्मोदयवश नहीं कर सकते है तो उसका अन्य प्रकारसे अर्थ लेना, विरूपण करना आज्ञाव्यापारि की क्रिया है। कोई व्रत नियम ले रखा है और वह विशिष्ट चरणानुयोगके अनुसार पालन नही कर सकता है तो उसका अन्य प्रकारसे निरूपण करना वह आज्ञाव्यापारिकी क्रिया है। [२०] अनाकांक्षक्रिया—मूर्खतासे या आलस्यमे आगममे बताई हुई विधिके अनुसार कर्तव्य न कर सके, उन कर्तव्योमें अनादर भाव रखे तो वह अनाकांक्षक्रिया कहलाती है।

(२०) **आरम्भक्रियादिक साम्परायिकास्रवसंबंधित पांच क्रियावोंका निर्देश—** [२१] आरम्भक्रिया—छेदना भेदना आदिक क्रियावोमे तत्परता होना या दूसरे लोग कोई छेदन भेदन आदिक आरम्भ कर रहे हो तो उसमे हर्ष परिणाम होना आरम्भ क्रिया कह· लाती है। [२२] पारिग्राह्यकी क्रिया—परिग्रह नष्ट न हो, सुरक्षित रहे, कहाँ धरना, कहाँ जमा करना, उसके अविनाशके लिए जो सकल्प विकल्प हैं या चेष्टायें हैं। वे सब पारिग्राह्य की क्रियायें कहलाती हैं। [२३] मायाक्रिया—ज्ञान दर्शन आदिकके विषयमे प्रवचना करना, छल कपट करना मायाक्रिया है। जैसे कोई जानता है और कोई पूछे तो न बताना चाहे तत्त्वोपदेशकी या चर्चाकी बात किसी प्रयोजनसे हो तो भी उसे टाल देना, अन्य उत्तर देना यह मायाक्रिया हुई। या जैसे कोई जानता नही है और कोई पूछ रहा है तो उस सम्बन्धमे मूर्खता जाहिर न हो तो कपट करके अन्य प्रकार उत्तर देना या समय टालना सब माया-क्रिया है। [२४] मिथ्यादर्शन क्रिया—मिथ्यादर्शनके कार्योंके करनेमे या करानेमे जो लगे हो उनकी उनको प्रशसा आदिक करके ऐसे ही कुकार्योंमे दृढ़ कर देना मिथ्यादर्शनक्रिया कह· लाती है। इस क्रियामे इस तरहकी स्तुति सी होती है कि आप बहुत अच्छा कर रहे हैं, कि· तना ऊँचा आपका तपश्चरण है आदिक बातें कह कर मिथ्यादर्शन वाली क्रियावोमे उन्हे दृढ कर देनेको मिथ्यादर्शन क्रिया कहते हैं। [२५] अप्रत्याख्यानक्रिया—सयमको घातने वाले कर्मोंके उदयसे विरक्त निवृत्ति त्यागका परिणाम न होना, त्याग न कर सकना अप्रत्याख्यान क्रिया कहलाती है।

(२१) **सख्यावोंका इन्द्रियादिका साथ अकुक्रम योजन व इन्द्रियादिका आत्मासे भेद अभेदकी मीमांसा**—इस सूत्रमे जो संख्याके नाम दिये गये हैं वे नाम पूर्वपदमे दिए गए नामो मे क्रमसे लगते हैं। जैसे ५ इद्रिय ४ कषाय, ५ अव्रत और २५ क्रियायें, ये सब किसके भेद हैं ? यह बतानेके लिए सूत्रमे पूर्वस्य शब्द आया है। इससे पहले सूत्रमे दो प्रकारके आस्रव बताये गए थे। साम्परायिक और ईर्यापथ उनमे से पूर्वके ये भेद हैं अर्थात् साम्परायिक आस्रवके ये भेद हैं। भेद तो असख्यात प्रकारके हो सकते, पर उन सब असख्यात प्रकारके आस्रवोका सक्षेप किया जाय तो वे मूलमे चार भेद रूप और उनके सूत्रोक्त उत्तर भेदोको गिनने से ३६ भेद होते हैं। यहां एक शङ्काकार कहता है कि इन्द्रिय कषाय अव्रत क्रियायें जो भी यहां बतायी जा रही हैं वे क्या आत्मासे भिन्न हैं या अभिन्न है ? यदि ये भिन्न हैं तो आत्माके आस्रव कैसे कहलाये जा सकते हैं ? यदि ये अभिन्न हैं तो वे सब आत्मा ही रहे, फिर आश्रव क्या कहलाये ? इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि इन्द्रिय आदिक आत्मासे कथञ्चित भिन्न हैं और कथञ्चित अभिन्न हैं। यह बात अनेकान्त विधिसे समझना चाहिए। जब अनादि पारिणामिक चैतन्यरूप द्रव्यार्थिककी दृष्टि करते हैं अथवा केवल एक रूपमे निरखते हैं तो इन्द्रिय आदिकका भेद वहाँ नही जचता इस लिए उस दृष्टिमे अभिन्न है, और जब कर्म के उदय क्षयोपशमके निमित्तसे होने वाली पर्यायकी दृष्टिसे निरखते है तो उनमे परस्पर भेद है और आत्मस्वरूपसे भी भेद है। इस कारण वे भिन्न हैं। दूसरी बात यह भी है कि इन्द्रिय आदिकके वियोग हो जाने पर भी द्रव्यका अवस्थान रहता है इस कारण आत्मामे और इस इन्द्रिय आदिकमे भिन्नता है। और इस भिन्नताके आधार पर ही पर्यायकी दृष्टिसे ५ आदिक जो सख्यायें बतायी है, उनका निर्देश ठीक बैठना है।

(२१) **क्रियामे इन्द्रिय कषाय अव्रत गर्भित हो जानेसे इन्द्रियादिकके ग्रहण करनेकी अनर्थकताकी आशंका और उसका समाधान**—अब यहाँ एक शका होती है कि इन्द्रिय कषाय और अव्रत ये भी तो क्रिया रूप ही हैं, क्रियाके स्वभावसे ये अलग नही हैं, इस कारण एक क्रियाके कहनेसे ही इन सबका बोध हो जाता, फिर इन्द्रिय, कषाय और अव्रत इनका ग्रहण करना निरर्थक है या केवल एक विस्तार बनाना मात्र है। इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि इन्द्रिय कषाय और अव्रतसे जो पृथक् ग्रहण किया गया है उसका कारण है और वह कारण अनेकान्तसे स्पष्ट होता है। यहाँ यह एकान्त नही चल सकता कि इन्द्रिय, कषाय और अव्रत ये क्रिया स्वभाव ही हैं। कैसे यह एकान्त न चलेगा ? देखिये इन्द्रिय, कषाय और अव्रत चार-चार रूप समझिये—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। उनमेसे नाम, स्थापना और द्रव्य इन तीन निक्षेपोसे परखे गये ये शब्द क्रिया स्वभाव नही बैठते। जैसे कि नाम इन्द्रियमे क्रिया

नही है, नाम मात्र है वह तो और स्थापना रूप इन्द्रियमें भी मुख्य क्रिया नही है, उनका तो एक वचन और बुद्धिमे स्थापनाकी प्रवृत्ति मात्र हुई है। कही परिस्पद नही हुआ। पर इस द्रव्यनिक्षेपकी दृष्टिसे जो इन्द्रिय कहलाती है, अतीत कालकी इन्द्रिय या भविष्यकालमे हो सकने वाली इन्द्रिय उनमें अभी परिस्पन्द कहाँ है ? क्योंकि द्रव्यनिक्षेपका विषय वर्तमानकाल नही होता। जैसे जो पहले कोतवाल था और अब न रहा तो उसे लोग कोतवाल साहब कहते हैं। यहाँ द्रव्यनिक्षेपका विषय है अथवा जो अभी राजा नही है, राजपुत्र है और वह राजा बनेगा तो उसे अभीसे राजा कहना यह द्रव्यनिक्षेपका विषय है। ऐसे ही इन्द्रियमे भी द्रव्यनिक्षेपकी इन्द्रिय अतीत और भविष्य है। वहाँ तो वर्तमानपना है ही नही इसलिए परिस्पंदकी क्रिया भी नही है। इसी प्रकार नाम स्थापना और द्रव्यनिक्षेपसे कषाय और अव्रतोमे भी घटित कर लेना। अतः यह एकान्त न रहा कि इन्द्रिय, कषाय और अव्रत, यह क्रियास्वभाव ही है, क्योकि यहाँ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयसे यह परखा जाता है कि जब द्रव्यार्थिकनय गौण हो और पर्यायार्थिकनय प्रधान हो तब इन्द्रिय, कषाय और अव्रतको कथञ्चित् क्रियारूप कह सकते है और जब पर्यायार्थिकनयको गौण किया जाय और द्रव्यार्थिकनयकी मुख्यता की जाय तब इन्द्रिय, कषाय, अव्रतका लक्षण और है और २५ क्रियावोका लक्षण और है, अतः इन सबका आश्रवके भेदोमे निर्देश किया गया है।

(२३) **इन्द्रिय कषाय अव्रत शब्दोंकी निरर्थकताके प्रतिषेधके विषयकी अन्य मीमांसा**—एक शङ्काकार कहता है कि यहा ऐसा अर्थ लगाना चाहिए कि इन्द्रिय कषाय और अव्रत ये शुभ और अशुभ आस्रव परिणामके अभिमुख हैं, इसलिए द्रव्यास्रवरूप हैं और भावास्रव कर्मोंका ग्रहण करना है और वह कर्म २५ क्रियावोके द्वारा आता है। इस कारण से इन्द्रिय, कषाय और अव्रतका ग्रहण किया है, यह समाधान भी बन जायगा। इसके उत्तर मे कहते हैं कि इस तरहका अर्थ और समाधान करना उचित नही है, क्योकि इसमे प्रतिज्ञात कथनसे विरोध होता है। अभी पूर्व सूत्रोमे यह बताया गया कि शरीर वचन और मन की क्रिया योग है और वह आस्रव है। तो इन सूत्रोसे द्रव्याश्रवका निरूपण किया गया है। अथवा यहाँ निमित्तनैमित्तिक विशेषका ज्ञान करानेके लिए इन्द्रिय आदिकका पृथक् ग्रहण किया गया है। छूना, चखना, सूघना आदिक क्रोध, मान आदिक, हिंसा आदिक ये ही तो इन्द्रिय, कषाय और अव्रत है। तो ये क्रियायें आश्रव हैं और ये २५ क्रियाये इन क्रियावोसे उत्पन्न होती है। तो यदि इन्द्रिय, कषाय, अव्रतको क्रियारूपसे देखा जाय तो यह क्रिया तो कारण बनती है और जो २५ क्रियायें कही गई है वे क्रियारूप बनती है, जैसे मूर्छा, ममत्व परिणाम करना कारण है तो परिग्रह सचय होना कार्य है। और इन दोनोके होनेपर जो

पारिग्राहिकी क्रिया बनी है, परिग्रहकी तृष्णा और उसके रक्षणका ध्यान बनानेमे जो परिग्रह की क्रिया बनी है वह भिन्न ही रही, तो इससे यह सिद्ध है कि इन्द्रिय कषाय आदिकका ग्रहण करना आश्रवका विवरण स्पष्ट करनेके लिए युक्त ही है। और भी देखिये जैसे क्रोध करना कारण है और दूसरेसे मनमुटाव होना यह कार्य है और इससे प्रादोषकी क्रिया होती है, और भी देखिये—मान कषाय कारण है और नम्र न रहे, इठलाये यह कार्य है और इससे प्रात्यायिकी क्रिया बनती है सो वह भिन्न सिद्ध होती ही है। प्रात्यायिकी क्रियामे कुछ अधि-करणको ग्रहण करना या रचना आदिक विचार चलते हैं। और भी उदाहरण लीजिए, जैसे माया कारण है और कुटिलता करना कार्य है और इससे फिर मायाप्रवृत्तिरूप क्रिया होती है। और भी उदाहरण हैं, जैसे प्राणोका घात करना कारण है और प्राणानिपातिकी यह क्रिया है, और भी जैसे झूठ, चोरी, कुशील ये पाप कारण हे और इन अव्रत कारणोका आज्ञा-व्यापादिकी क्रिया कार्य है मायने आज्ञा न मानना और जो शास्त्रोमे लिखा है उसका अर्थ विपरीत करने लगना कार्य है। तो इस प्रकार इन्द्रिय, कषाय और अव्रत ये कारण रूप होते है और २५ क्रियायें कार्यरूप हैं। अतः इन सबका सूत्रमे जुदा-जुदा निर्देश करना युक्त ही है।

(२४) **सूत्रमे कषाय, अव्रत, क्रियाका ग्रहण करनेकी निरर्थकताकी शकाका समाधान**—अब यहाँ एक शका और होती है कि सिर्फ इन्द्रियका ही ग्रहण करना चाहिए था, उस ही से समस्त आश्रव होते हैं। उत्तर—यह शका सही नही है, क्योकि इन्द्रियका अभाव होनेपर भी कही आश्रव पाया जाता है तो यहाँ उस आश्रवकी बात नही कही जा रही जो इन्द्रियकी अपेक्षासे ही कहा जाय, किन्तु साम्परायिक आश्रवका यहाँ कथन है। शकाकारका कहना यद्यपि स्थूल दृष्टिसे ठीक है कि केवल इन्द्रियको ही साम्परा-यिक आश्रवका कारण मान लिया जाय तो सूत्र बहुत ही छोटा बन जायगा और जितनी भी क्रियावोमे मनुष्य लोग प्रवृत्ति करते हैं वे इन्द्रियके द्वारा कुछ प्राप्त करके विचार करके क्रियावोमे प्रवृत्ति करते हैं। सो इन्द्रिय कहनेसे ही सब अर्थ निकल आता। कषाय, अव्रत और क्रियावोका ग्रहण न करना चाहिए, यह बात स्थूल दृष्टिसे ठीक लगती है, और सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो यह युक्त नही है, क्योकि इन्द्रियविषयका अभाव होनेपर भी कही आश्रव पाया जाता है। यदि इन्द्रियविषयको ही आश्रव कहा जाय तब तो छठे गुणस्थान तक ही आश्रव बनता है। अप्रमत्त अर्थात् ७वें और ७वें गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थानोमे फिर आ-श्रव नही बनता, क्योकि प्रमत्त पुरुष ही चक्षु आदिक इन्द्रियके द्वारा रूपादिक विषयोके सेवनके लिए अनुरक्त होता है अथवा प्रमत्त पुरुष याने कषायसहित पुरुष जिसको प्रमादयुक्त

कषाय है वह विषयोंका सेवन न भी करे तो भी हिंसा आदिकके कारणभूत अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण वाली ८ कषायोंसे युक्त है ना, इस कारण वह हिंसा आदिक करता ही है। भावकी अपेक्षा देखिये तो चाहे वह विषयसेवन करे या न करे, प्रमादी होनेसे निरन्तर कर्मोंका आश्रव करता है। इस अप्रमत्त व्यक्ति याने जिसके इन्द्रिय, कषाय अव्रत विषयक प्रमाद न रहे, केवल योग और प्रमादरहित कषाय ही है वह भी आश्रव करता है, सो केवल इन्द्रियविषयको ही आश्रवोंका कारण माननेपर फिर इन आश्रवोंका ग्रहण न होगा। अथवा एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तकके जीवोमे किसीके मन नही, किसीके कान नही, किसीके आँख नही, किसीके नाक नही, किसीके जीभ नही, तो इनके न होनेपर भी क्रोधादिक हिंसा होती ही रहती है, कर्मोंका आश्रव होता ही रहता है। तो यदि सूत्रमे केवल इन्द्रियका ही ग्रहण किया जाय, अन्यका ग्रहण न हो तो इसका सग्रह करनेके लिए सूत्रमे इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, क्रिया इन सबका ग्रहण किया गया है।

**(२५) सूत्रमें केवल कषाय अथवा केवल अव्रत शब्दका ही ग्रहण करनेकी शंकाका समाधान**—यहाँ कोई शंकाकार अब यह शंका रख रहा है कि जिस जीवमे रागद्वेष नही है वह तो इन्द्रियसे विषय ग्रहण करता है, न हिंसा आदिक कोई पाप करता है इस कारण सिर्फ कषाय ही साम्परायिक आश्रवका कारण हुआ। अतः सिर्फ कषायका ही ग्रहण किया जाय, इन्द्रिय कषाय और अव्रतका ग्रहण न किया जाय। इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि यदि साम्परायिक आश्रवके भेदका निरूपण करने वाले इस सूत्रमे केवल कषायका ही ग्रहण करते, अन्यका ग्रहण नही करते तो कषायके सद्भावमात्रमे भी आश्रवका प्रसंग आ जायगा, याने जिन जीवोके कषाय उपशान्त है, पर सत्तारूपमे पडी है सो चक्षु आदिक इन्द्रियके द्वारा रूपादिकका ज्ञान तो हो ही रहा है। अब उसके रागद्वेष हिंसा आदिककी उत्पत्तिका प्रसग हो जायगा। और भी सोचिये—चक्षु आदिकके द्वारा रूपादिकका ज्ञान करनेमात्रसे कोई रागद्वेष हो जाय तो कभी कोई वीतराग हो ही नही सकता, क्योकि यह तो ज्ञानका काम है और इन्द्रिय एक साधन है, इन्द्रियद्वारसे इस अवस्थामे रूपादिकका ज्ञान किया जा रहा है वह तो होता ही है ज्ञान किन्तु चक्षु आदिकके द्वारा रूपादिकका ज्ञान होने पर भी कोई व्यक्ति वीत-राग रह सकता है इस कारण कषायमात्र ही सूत्रमे ग्रहण किया जाय ऐसा सुझाव ठीक नही है। यहाँ कोई यदि यह शङ्का करे कि फिर तो केवल सूत्रमे अव्रत ही कहा जावे, उसमे ही इन्द्रिय कषाय और क्रियाके परिणाम गर्भित हो जायेंगे तो यह शङ्का भी युक्त नही है, क्यो कि पृथक् ग्रहण करनेसे यहाँ प्रवृत्तिके निमित्तका स्पष्टीकरण हो जाता है। उस अव्रतरूप परिणामके इन्द्रिय आदिक परिणमन निमित्त कहलाते हैं। अर्थात् इन्द्रिय कषाय और क्रिया

निमित्तभूत हैं और अव्रतरूप परिणति होना नैमित्तिक है। यह सब स्पष्ट करनेके लिए सूत्र मे इन्द्रिय, कषाय अव्रत और क्रिया इन चारोका पृथक् पृथक् ग्रहण किया गया है। अब यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि तीनो योगो द्वारा जन्य साम्परायिक आस्रवके जो ३९ प्रभेद बतलाये है वे तो सभी आत्माओके कार्य है। सभी संसारी जीवोमे पाये जाते हैं, तब उनका फल भी सभी जीवोमे एक समान होगा। इसके समाधानमे कहते हैं कि ऐसा नही है। यद्यपि तीनो योग प्रत्येक आत्मामे सम्भव है ससारी जीवोंमे फिर भी उनके परिणाम अनन्त प्रकार के है और उन परिणामोसे उनमे फलमे भी विशेषता आती है। तो वह विशेषता किस प्रकार है उसके लिए सूत्र कहते हैं।

**तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६-६॥**

(२६) **आस्रवमे विशेषता करने वाले हेतुवोंका दर्शन**—तीव्रभाव, मदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरणविशेष और वीर्यविशेषके कारण आस्रवोमे विशेषता होती है। तीव्र भावका अर्थ है कि बाहरी और भीतरी कारण मिलने पर उदीरणा और तीव्र उदयमे आया हुआ तीव्र परिणाम जिसमे सक्लेश बसा है वह तीव्रभाव कहलाता है। तीव्र शब्दमे तीव्र धातु है, जिसका अर्थ है सक्लेशपरिणाम। 'तीव्रन तीव्र,' तीव धातु स्थूल अर्थमे आता है, मोटे परिणाम अर्थात् सक्लेश परिणामको तीव्र परिणाम कहते हैं। मदभाव तीव्र भावसे उल्टे भाव मदभाव कहलाते हैं, ये भी बाह्य और आभ्यतर कारणसे होते हैं, पर कषायोकी यहाँ मदता पायी जाती है। यहाँ कषायोकी उदीरणा नही है। ऐसे साधारण कारणोके सान्निध्यमे उत्पन्न हुआ अनुद्रिक्त परिणाम अर्थात् मदकषाय वाला परिणाम मद कहलाता है। मद शब्द मद धातुसे बना है। मद धातुका अर्थ है प्रसन्न होना, सुस्त पडना, मद चालसे चलना। मदनात्मद, ऐसी उसकी निरुक्ति है। ज्ञात भावका अर्थ है ज्ञानमात्र भाव अथवा जान करके प्रवृत्ति होना। मारनेके परिणाम न होने पर भी हिंसा हो जाने पर मैंने मारा, ऐसा जान लेना ज्ञात भाव है अथवा इस प्राणीको मारना चाहिए, ऐसा जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञातभाव है। ये ज्ञातभावके उदाहरण हैं। जैसे लोकव्यवहारमे कहते हैं कि यह जान बूझकर पाप कर रहा है। अज्ञातभाव—प्रमादसे या कुछ बेखबरीसे क्रियावोमे बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञानभाव है। जैसे कि लोग कहते हैं कि यह बेचारा जानता नही है, बिना जाने कर रहा है, अधिकरण— अर्थात् आधारभूत द्रव्य। किस पदार्थका आश्रय करके वह प्रवृत्ति कर रहा है, किस पदार्थपर उसकी दृष्टि लग रही है वह कहलाता है अधिकरण। वीर्यभाव द्रव्यकी शक्तियोको कहते है। यहाँ भाव शब्द प्रत्येकके साथ लगाना चाहिए तीव्र भाव, मदभाव आदिक।

(२७) **सूत्रोक्त भावशब्दका प्रकृतार्थ**—इस सूत्रमे जो भाव शब्द कहा है उसका अर्थ सत्ता नही है। सद्‌भाव, सत्त्व यह भावका अर्थ नही है। यदि सत्ता मात्र भावका अर्थ होना तो सत्ताकी सामान्यरूपता होनेसे इसके तीव्र आदिक भेद नही हो सकते थे, किन्तु भाव का अर्थ यहाँ बौद्धिक व्यापार है। उपयोगका व्यापार इस भावका अर्थ है। इन भावोके होने मे परद्रव्य आश्रयभूत होते है। तो जो आश्रयभूत हुए उन्हे नोकर्म भी कहते है। उनके भाव दो प्रकारके निरखिये—(१) एक तो परिस्पदरूप और (२) अपरिस्पंद रूप। अपरिस्पद रूप भाव तो अस्तित्वादिक है और वह अनादि है। जिसमे हलन चलन नही, क्रिया नही, वह अपरिस्पद कहलाता है। परिस्पंदात्मक भाव उत्पाद व्यय रूप है और आदिमान है। अपरिस्पद भाव तो सामान्यात्मक है और उस दृष्टिसे तीव्र आदिकका भेद नही हो सकता, किन्तु कामादिक क्रियारूप जो भाव है वह तीव्र आदिकके भेदके हेतु होते हैं। मतलब यह है कि तीव्र आदिक भावोसे, बौद्धिक व्यापारोसे विशेषता आती है अथवा ये सभी भाव उस कालमे आत्मासे अभिन्न हैं सो तीव्रादिक भाव ही तो हैं। एक एक कषाय आदिकके स्थानमे असख्यात लोक प्रमाण भाव हैं। सो परिणमन परिणाम ही भाव शब्दके अर्थ है। सत्तारूप भाव यहाँ नही लिया गया है।

(२८) **आत्माका परिणाम होनेपर भी वीर्य शब्दके पृथक् ग्रहणका प्रयोजन**—एक शका होती है कि वीर्य तो आत्माका परिणाम है। उसका पृथक् ग्रहण क्यो किया है? उत्तर—वीर्य विशेष जिनके पाया जाता है उनकी क्रियावोमे हिंसा आदिक व्यापारोमे, आश्रव मे हल्का भारीपन आ जाया करता है। यह बात दिखानेके लिए वीर्यका पृथक् ग्रहण किया है। जैसे कोई बलवान पुरुष है तो वह हजारो आदमियोको मार डालता है तो उसका आश्रव विशेष बनेगा। कोई कम वीर्य वाला है वह उपद्रव नही कर सकता है तो उसका आश्रव कम होगा अथवा केवल वीर्यसे ही बात न चलेगी। शक्ति और शक्ति न होनेपर भी जैसा भीतरमे परिणाम हो उस तरहसे आश्रव बनेगा। जिसके शक्ति कम है और परिणामोमे ईर्ष्या, बुरा विचारना आदिक तीव्रतासे हो रहे है तो उसके तीव्र आश्रव होगा। आश्रवके जो हेतु बताये जा रहे है उनमे ऐसा तो है नही कि एक ही भाव किसी जीवके हो, जैसे तीव्र मंदमे से कुछ एक होगा, पर उसके साथ ज्ञाता द्रष्टा आदिकमे से भी होता है, इस कारण एक भावकी ओरसे पूरा निर्णय न बनेगा कि इसके आश्रव कम होगा या अधिक होगा। जब कार्यभेद है तो कारणभेद भी सब सिद्ध हो जाता है, जब कि आश्रवके भेद अनन्त हे अनुभाग की दृष्टिसे तो उसके कार्य भी अनन्त हो गए और कार्य अनन्त हुए, तो कारण भी अनन्त है, ऐसा अनुमान बनता है, यहाँ सूत्रका प्रयोजन है आश्रवभेद बताकर फलभेद बताना याने

तीव्र आदिसे भावोको जो आश्रव होगा उसका फल कठोर होगा। और ऐसी आश्रवविधि जानकर भव्य पुरुष उसके साधनोसे हटेगा। यदि वीर्यको आत्मपरिणाम मानकर यहा ग्रहण करनेकी जरूरत न समझे तो ऐसा ही विचार अन्यके प्रति भी हो सकता है। वह भी आत्मपरिणाम होता है। तो इस प्रकार तो सिर्फ अधिकरण शब्दसे ही कार्य चल जाता, क्योकि तीव्र मद ज्ञात आदिक जो भाव हैं वे जीवाधिकरणरूप हैं, फिर तो सूत्र ही बनानेकी आवश्यकता न थी। आगे स्वय ही ऐसा सूत्र आने वाला है,' अधिकरणं जीवाजीव ,' मगर यहां विशेषता बताना आवश्यक है। यह ग्रथ मोक्षमार्गका है, भव्य जीव मोक्षमे प्रगति कर सकें, उस मार्गपर चल सकें, इसके लिए ही तो सारा विवरण है। तो जब विशेषतावोके साथ आश्रव आदिक बताये जायेंगे तब ही तो आश्रवसे हटना और स्वभावमे लगना यह अभीष्ट होगा। अब यह जिज्ञासा बनती है कि अधिकरण भी कहनेपर उसका स्वरूप ज्ञात नही हुआ, उसका विशेष ज्ञान कराया जाना आवश्यक है, सो उसके विषयमे वर्णन करना चाहिए। उसीके समाधानमे सर्वप्रथम भेद अधिकरणके भेद बनाकर उसका ब्योरा बतायेंगे। सो यहा भेदके निरूपणके द्वारा अधिकरणका स्वरूप जाननेके लिए सूत्र कहते है—

## अधिकरणंजीवाजीवाः ॥६-७॥

(२९) जीव और अजीव आश्रवका आधाररूप—जीव और अजीव आश्रवके अधिकरण हैं। यद्यपि जीव और अजीवकी व्याख्या हो चुकी, फिर भी उनको आश्रवके आधार रूपसे बताते हैं, इस कारण पुनः उनके अधिकरणके रूपसे वर्णन किया जा रहा है। जैसे हिंसा आदिकके उपकरण रूपसे जीव आधार है, अजीव भी आधार है, यहां अधिकरणाश्रवके दो भेद कहे है—(१) जीवाधिकरण और (२) अजीवाधिकरण। इसका आगे ब्योरा आयगा उससे यह स्पष्ट हो जायगा, पर यहां सामान्य रूपसे इतना जानना कि चूकि अनन्त पर्याय वाले जीव और अजीव अधिकरण बनते है सो इसकी सूचना देनेके लिए सूत्रमे जीवाजीव. यह बहुवचन कहा गया है। अर्थ है कि जीव और अजीव आश्रवके अधिकरण होते हैं। यहां एक शका होती है कि इन शब्दोको एक साथ मिला दिया जाना चाहिए। जीवाजीवाधिकरण इतना ही सूत्र बनाना चाहिए। सूत्र भी छोटा हो गया और अर्थ भी निकल जायगा इस शकाके उत्तर मे कहते हैं कि यह सुझाव ठीक नहीं है, क्योंकि यहां समास बन जाता है और यह समास कर्मधारय और तत्पुरुष इन दो रूपोमे बनता है, जिससे अर्थ यह होता है कि अजीव ही अधिकरण है, और तत्पुरुष समासका यह अर्थ होता है कि जीव और अजीवका अधिकरण है। सो यहां जो सूत्रका अभिप्रेत अर्थ है वह इन दोनो समासोमे भी नही निकलता। जब कर्मधारय समास किया अर्थात समानाधिकरण्य वाला समास किया तो वहां केवल जीव अजीवसे विशिष्ट

अधिकरण मात्रका ज्ञान होता। वहाँ आश्रव विशेषका ज्ञान न हो सका इस कारण यह समास ठीक नही है। दूसरा भिन्नाधिकरण्य वाला समास है तत्पुरुष समास, तो उस समासमें एक जीव अजीवका आधार मात्र ही ज्ञात हो सका, इससे भी यह नही जाना जा सका कि आश्रव विशेष जीव और अजीवके आधारसे होता है। जीव पाप करता है, कराता है, मनसे सोचता है आदिक जो पाप करते, आश्रव होते वे जीवके आधारमे हो रहे और तभी कोई तलवार बनाने वाला पुरुष तलवार बनाते हुए उसकी धारको निरखता है तो उसके मनमे भाव जगता है कि यह तलवार अब खूब काम करेगी, पशु घातके लायक बन गई, तो उस अजीव पदार्थ तलवारके बनानेके प्रसंगमे उसे पाप और आश्रव हो रहे हैं, यह सब रहस्य इन समासोमे नही प्रकट होता है, और फिर जीव और अजीवका आधार अन्य कोई नही विदित होता। जीव स्वय तो आपमे है। अजीव पदार्थ वह अपने आपमे है, तो ये दोनो ही समास ठीक नही बैठते इस कारण सूत्रमे जो भिन्न भिन्न निर्देश करके पाठ दिए गए है वे पाठ सही है, और उससे क्या ध्वनित होता है कि जीव और अजीव आधार है, तो प्रश्न होता है कि किस के आधार है ? तो उत्तर होता है कि आश्रवके आधार है। यहाँ एक बात और समझ लेना है कि आश्रव शब्द इस सूत्रमे तो कहा नही गया, उसकी अनवृत्ति लेनी पडगी तो इससे पहले के जो सूत्र हैं, जिसके प्रकरणमे यह सब विवरण चल रहा है वह है आश्रव। उसका सर्वप्रथम प्रयोग दूसरे सूत्रमे किया गया है। स आश्रवः, सो यहाँ आश्रव शब्द प्रथमाविभक्तिके एक वचन मे है। पर इस प्रकरणमें उसकी अनवृत्ति करनेपर भी विभक्ति बदल जायगी। षष्ठीका एक वचन यहाँ प्रयुक्त होगा। तब अर्थ हुआ कि जीव और अजीव आश्रवके कारण है अर्थात् आश्रव इसके आधारमे होता है। अब जिज्ञासा होती है कि क्या इतने ही दो भेद हैं या इसके और भी भेद हो सकते हैं ? तो उसके समाधानमे जानना कि इसके और भी भेद है जिसमे प्रथम है जीवाधिकरण्याश्रव जो कि साम्परायिक आश्रवका विशेषण है, सो उस जीवाधिकरण्यके भेद कहते हैं।

**आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषाय ॥६-८॥**
**विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥६-८॥**

(३०) जीवाधिकरण साम्परायिक आश्रवके प्रकार—आद्यका अधिकरण अर्थात् जीवाधिकरण सरम्भ, समारम्भ, आरम्भ ये तीन मन, वचन, काय ये तीन योग, कृतकारित अनुमोदना ये तीन और क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय इनके द्वारा उत्पन्न होते हैं, और इन सबमे एक पापमे एक ही द्वार हो, ऐसा नही है। यहाँ ४ बातें कही गई हैं—

सरम्भ, समारम्भ, आरम्भ इन तीनमे से कोई भी एक हो, मन, वचन, काय इन तीन योगोमे से कोई भी एक हो, करना, कराना, अनुमोदना इन तीनमेसे कोई एक हो और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारमें से कोई एक हो, ऐसे इस प्रकार एक-एक लेकर चारके समुदायमे आश्रव और पाप होते है। जैसे इसमे प्रथम भेद मानिये क्रोधवश होकर मनसे सरम्भ किया, जिसका अर्थ यह है कि क्रोध कषायके आवेगमे मनसे पाप करनेका बदलकर विचार स्वय किया तो यह एक पाप हो गया, ऐसे ही इनको पापके नाम बनानेसे ये सब १०८ भेद हो जाते हैं। यो साम्परायिक आश्रवके हेतुभूत पापभाव १०८ प्रकारके है। इन १०८ प्रकारके भावोको टालनेके लिए जापमे भी १०८ दानोपर स्मरण किया जाता है। एक बार प्रभुका नाम लेकर यह भावना की जाती है कि मेरे ये पाप समाप्त हो।

**(३१) सूत्रमें आद्य शब्द ग्रहण करनेका प्रयोजन व संरम्भ समारम्भ व आरम्भका भाव**—यहाँ एक शका होती है कि इस सूत्रमे आद्य शब्द ग्रहण न करनेसे भी काम चल जाता, अपने आप सामर्थ्यसे ही सिद्धि हो जाती है। वह सामर्थ्य क्या कि इस सूत्रके बाद जो सूत्र आयगा उसमे परम् शब्द पडा है अर्थात् दूसरे अधिकरणके ये भेद है। तो उससे अपने आप ही यह सिद्ध है कि ये पूर्व अधिकरणके भेद हैं अर्थात् जीवाधिकरणके प्रकार है। इस शकाके उत्तरमे कहते है कि यदि आद्य शब्द इस सूत्रमे न देते तो इसको पढकर तुरन्त ही कोई स्पष्ट अर्थ न निकलता। एक अनुमान बनाकर अर्थ सोचा जाता तो उसमे जानकारी कठिन हो जाती है। इसलिए स्पष्ट करनेके लिए आद्य शब्द दिया है कि यह भेद जीवाधिकरणरूप है। सरम्भ शब्दका अर्थ है हिंसा करनेके अभिप्राय रखने वालेका जो प्रयत्नका विचार करता है वह सरम्भ है, और समारम्भ क्या हुआ? पापके साधनोको जोडना समारम्भ है और फिर पापमे प्रवृत्ति करना आरम्भ है। कोईसे भी पाप किए जाते है तो प्रथम कुछ विचार होता है, फिर उसके साधन बनाये जाते है, फिर पाप किए जाते हैं। तो ऐसा सर्वत्र साम्परायिक आश्रवोके प्रसगमे ये तीन बातें हुआ करती है, भीतर भाव जगना, फिर उसके साधन बनना और फिर उसकी प्रवृत्ति करना। सर्वप्रथम विचार चलता है तो हिंसा आदिक पापोकी प्रवृत्तियोमे जो प्रयत्न करनेका सकल्प बनाया कि मैं इससे मारूँगा, यह चीज उठाऊँगा, मै उसके साथ राग करूँगा या धन जोडूंगा आदिक रूपसे जो अभिप्राय बनता है उस अभिप्रायको संरम्भ कहते हैं और जिस कार्यके लिए सरम्भ किया उस कार्यके साधनभूत जो पदार्थ हैं उनका अभ्यास करना। जैसे किसीने यह सकल्प किया सरम्भमे कि मैं इसको लाठीसे मारूँगा या वध करूँगा तो अब लाठी सीखना, तलवार सीखना, इस प्रकारका अभ्यास

बनाना वह समारम्भ हो गया अथवा उसके साधनोंको इकट्ठा करना समारम्भ हो गया। किसी ने परिग्रहकी बुद्धि बनाया कि मैं इस प्रकारसे यह व्यापार करूँगा, दूकान खोलूंगा तो संकल्प तो सरम्भ हुआ, अब उसके साधन जुटाना दूकान बनवाना, किरायेपर लेना, उसका मटेरियल जमा करना यह सब समारम्भ हो गया, और जिस समय प्रारम्भ किया, उस कार्यको शुरू किया तो वह आरम्भ हो गया। ये तीनो शब्द सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ, ये भाववाचक है, इस कारण इनकी व्युत्पत्ति भावसाधनमें होगी। 'संरम्भणं सरम्भः, समारम्भणं समारम्भ', आरम्भन आरम्भ" इस प्रकार ये वस्तुको बताने वाले तीन भेद हुए।

(३२) **काययोग वचनयोग मनोयोग कृतकारित अनुमतका स्वरूप**—संरभादिके पश्चात् योग आता है। योगका विवरण बहुत पहले कर ही दिया गया है। कायकी क्रिया काययोग, वचनकी क्रिया वचनयोग, मनकी क्रिया मनोयोग अथवा कायकी क्रियाके लिए आत्मपरिस्पंद काययोग, वचनकी क्रियाके लिए आत्मपरिस्पंद वचनयोग, मनकी क्रियाके लिए आत्मप्रदेश परिस्पंद मनोयोग अथवा कार्माणवर्गणावोका आलम्बन लेकर आत्मप्रदेश परिस्पद होना काययोग। वचन वर्गणावोका आलम्बन लेकर आत्मप्रदेश परिस्पंद होना वचनयोग, कायवर्गणावोका आलम्बन लेकर आत्मप्रदेश परिस्पद होना काययोग। योगमे मुख्यता आत्मप्रदेश परिस्पदकी है और काय आदिकके भेदसे भेद करना यह औपचारिक भेद है। योगके बाद सूत्रमे आया है कृतकारित अनुमत। स्वतंत्रतया आत्माके द्वारा जो किया गया वह कृत कहलाता है। किसी भी कृत पापमे दूसरेकी अपेक्षा नही की गई, किन्तु यह स्वयं ही उस पापको विचारता है, साधन जोड़ता है और प्रारम्भ करता है। कारित पापमे दूसरके प्रयोगकी अपेक्षा है। कारित कहते हैं कराये हुएको तो कराया हुआ तब ही कहलाता जब दूसरेके आदेश या प्रयोगकी अपेक्षा करके सिद्धि होती है किसी कार्यकी तब उसे कारित कहते हैं। अनुमतका अर्थ है प्रयोजक पुरुषके मानसिक परिणाम करना। जैसे कोई मौनव्रती है, आंखोसे देखने वाला है, उस कार्यको देख रहा है और प्रसंग भी ऐसा है कि उस कार्यका निषेध किया जाना उचित है, पर वह निषेध नही करता और उसको ठीक मान रहा तो वहाँ अनुमत नामका पाप लगेगा। ऐसी अनुमोदना करने वालेको अनुमंता कहते है। तो एक अनुमंता तो वह हुआ जो चुपचाप उसका अनुमोदन कर रहा। एक दूसरा अनुमंता कराने वाला भी होता है। जब कराने वालेने उसका प्रयोग करवाया तो उस कार्यमें समर्थ आचरण मे उसका मन लगा ना तो वह भी अनुमता कहलाया। तो अनुमत पाप उसे कहते हैं कि कोई करे या कराये, किसी प्रकार कार्य हुआ हो, कार्यके प्रति अनुमोदना करना।

( ३३ ) **कषाय, विशेष व क्रियोपस्कारका कथन**——कृतादिके बाद सूत्रमे कषायका नम्बर आता है। कषायोका लक्षण अनेक बार कहा ही गया है कि जो आत्माको कसें, कष्ट दें वे कषायें कहलाती हैं। वे कषाये क्रोध, मान, माया, लोभ हैं और उनमे भी सम्यक्त्व घातक कषाय, अणुव्रतघातक कषाय, महाव्रतघातक कषाय और यथाख्यातसयमघातक कषाय, उनके चार प्रकार होते हैं, पर इस प्रथम सूत्रमे उन सबका सग्रहरूप केवल क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार नाम ही विवक्षित हैं। यहाँ प्रथमपदके अन्तमे विशेष शब्द दिया है जिसका अर्थ होता है कि कोई बात किसी अन्य बातसे जुदा हो उसे विशेष कहते है अथवा विशेष बनना सो विशेष है और इस विशेषका प्रत्येक शब्दके साथ जुडना होता है। जैसे संरम्भविशेष, समारम्भविशेष, आरम्भविशेष, कृतविशेष आदिक सभीमे विशेष शब्द लगाया जाता है। यहाँ शंकाकार कहता है कि सूत्रमे विशेष शब्द ठीक नही संगत हुआ, क्योकि करण कारकका प्रयोग वहाँ होता है जहाँ क्रियापदका प्रयोग हो। यहाँ कोई क्रिया ही नही है फिर विशेष ही यह प्रयोग नही बन सकता। क्रियापदके प्रयोग बिना कर्ता, कर्म, करण आदि कारक कैसे बन सकते है ? अतः सूत्रमे विशेषै यह शब्द न देना चाहिए। इस शकाके उत्तरमें कहते है कि यह शका उचित नही है, क्योकि यह शब्द वाक्य शेषकी अपेक्षा रखता है, यहांपर क्रियापद आशयसे समझ लिया जाता है अर्थात् सरम्भ आदिक विशेषोके द्वारा आश्रव भेदा जाता है। अर्थात् आस्रवके भेद बनते है, जहाँ क्रियापदका प्रयोग न किया गया हो वहाँ उसकी अपेक्षा रखकर कारककी विवक्षा देखी गई है। जैसे किसीने कहा—शंकुला-खण्ड। शकुला कहते है सरौताको और खण्ड कहते हैं टुकडाको तो यहाँ कोई क्रियाका प्रयोग नही किया गया, पर अपने आप यह अर्थ ध्वनित हो जाता है कि सरौताके द्वारा किया गया खण्ड। तो जिस क्रियाका कही नाम न दिया हो उसका उपस्कार कर लिया जाता है अर्थात् उस क्रियाकी यहाँ सजावट कर ली जाती है। यहाँ भेदका अधिकार तो चल ही रहा है। जैसे ५ वें सूत्रमे आया था कि ये पूर्वके भेद हैं अर्थात् साम्परायिक आस्रवके भेद हैं सो उसी भेदकी ही बात चल रही है। तो यहाँ भी यह अर्थ बन जायगा कि सरम्भ आदिक विशेषो के द्वारा साम्परायिक आस्रवके भेद होते हैं।

(३४) **संख्यायें, संख्याक्रम, संरंभादिप्रथमकथनकारणका वर्णन**—सूत्रमे दूसरा पद है सख्यावोके समास वाला। ये चार बार सख्यायें आयी हैं—३, ३, ३, ४ इनका क्रमसे सम्पर्क बनाया जाता है कि सरम्भ, समारम्भ आरम्भ ये ३, योग ३ कृतकारित अनुमत ३ और कषायें ४, यहाँ एकशः शब्द जो दिया गया है उसका भाव यह है कि प्रत्येकमे एक-एक सख्याका सम्बन्ध बनाना। अब यहाँ यह बात जानने योग्य है कि इन सबमे पहले संरम्भ

आदिक तीन क्यों कहे गए हैं। इन तीनका सर्वप्रथम कहनेका कारण यह है कि यह वस्तु-रूप है, कार्यरूप है, जब कि अन्य कृत आदिक विशेषण अथवा करणरूप हैं। और ये जो तीन प्रकारके पाप हैं संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ, वे किस-किस प्रकारसे होते हैं, उनके भेदने के कारणभूत बाकी योग आदिक हैं। तो वस्तु होनेसे विशेष्य होनेसे सर्वप्रथम सरम्भ समारंभ और आरभ, इन तीन शब्दोका प्रयोग किया गया है।

(३५) एकसौ आठ पापोंके नाम बनानेकी विधि—पापके नाम बनानेके लिए प्रति-लोम विधिसे एक एक नाम लेकर ४ के नामका एक पापका नाम बनता है। जैसे अन्तमें कहा गया है कषाय। तो एक कषायका नाम रखिये उससे पूर्व कहा गया है कृतकारित अनु-मत, इनमे से एक रखिये उससे पूर्व कहा है योग। उन तीन योगोमे से एक नाम रखिये फिर संरम्भ, समारम्भ, आरम्भमे एक शब्द रखिये तो वह एक पापका नाम हो जायगा। जैसे [१] क्रोध—कृतकायसंरम्भ फिर इसके बाद दूसरे नम्बरके पापका नाम लेनेके लिए उस आखिरीको ही बदल करिये [२] मानकृतकाय संरम्भ, फिर [३] तीसरा मायाकृत-कायसंरम्भ, फिर [४] चौथा—लोभकृतकाय सरम्भ। चारो कषायोके आधारपर और सबों पृथक् पृथक् भेदके साथ नाम बन जानेपर अब कषायसे पहले कहे गए कृतादि भेदको बदलना होगा। (५) पांचवां बना क्रोधकारितकायसंरम्भ। [६] मानकारितकाय संरम्भ [७] मायाकारितकायसंरम्भ [८] लोभकारितकायसरम्भ। यो कारितकी अपेक्षा ४ भेद और हो जानेसे ६ वां भेद बनानेके लिए कृतकारित अनुमनमे से फिर आगे बढते हैं, तो बदलकर अनुमत शब्द रखा जिससे ४ भेद बने [९] क्रोधानुमतकायसंरम्भ, [१०] माना-नुमतकायसंरम्भ, जिसका सीधा अर्थ हुआ कि मानके द्वारा अनुमोदना किया गया कायके पापका विचार [११] ग्यारहवां हुआ मायानुमतकायसरम्भ और [१२] बारहवां हुआ लोभा-नुमतकायसंरम्भ। जब इस प्रकार संरम्भ पापविषयक १२ भेद हो चुके तब समारम्भके भी इसी प्रकार १२ भेद होंगे। अर्थात् जैसे ये भेद कहे गये हैं, उनके अन्तमे संरम्भ शब्द आया है तो सरम्भके एवजमें समारम्भ शब्द आयगा। समारम्भ भी १२ होते हैं। तब आ-रम्भके भी ऐसे ही १२ भेद करना। तो आखिरी समारम्भके एवजमे आरम्भ शब्द देना, इस प्रकार काय सम्बन्धी पाप ३६ प्रकारके होते हैं। ऐसे ही वचन सम्बन्धी पाप ३६ प्रकारके है और मन संबन्धी पाप भी ३६ प्रकारके हैं। यो ये साम्परायिक आस्रवके जीवा-धिकरण १०८ प्रकारके होते हैं अर्थात् जीवका ही आलम्बन लेकर अपने आपके मन, वचन, कायके प्रयोगका आलम्बन लेकर ये १०८ पाप होते हैं।

(३६) सूत्रोक्त च शब्दसे क्रोधादिके अन्य विशेषोका संग्रह—इस सूत्रमें जो च शब्द

दिया है उसके देनेकी आवश्यकता तो न थी, फिर भी दिया है। तो वह निरर्थक होकर एक रहस्यको प्रकट करता है कि कषायें यहाँ पर ४ कही गई हैं तो उन ४ के भी भेद अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन होते हैं। इस प्रकार ४ का और गुणा करनेसे ये सब ४३२ प्रकारके जीवाधिकरण आश्रव हो जाते हैं। और जो अनन्तानुबंधी आदिक लगाये गए सो उनके साथ सम्बंध होनेसे इन सभीमे जीवाधिकरणपना सिद्ध होता है। जैसे कि नील रंगमे डाला हुआ कपडा उस नीलसे रंग जानेके कारण वह भी नीला ही कहलाता है ऐसे ही संरम्भादिक जितनी भी क्रियायें हैं उन क्रियावोमे अनन्तानुबंधी आदिक कषायोका सम्बंध होनेके कारण वे भी जीवाधिकरण कहलाती हैं। इस प्रकार जीवाधिकरणके ४३२ भेद बताये गए हैं। अब जगतमे जितने भी पाप होते हैं किसी भी जीवके द्वारा पाप बनते हैं तो वे पाप इन ४३२ मे से किसी नाम वाला पाप होता है।

(३७) साधुजनोंकी निष्पापता—ये पाप जिसके नहीं होते हैं वे साधु कहलाते हैं या कहो कि १०८ प्रकारके पापोका त्याग होनेसे ही साधुवोंके सम्मानमे १०८ श्री लगाकर बोलते है। जैसे कहते है श्री १०८ अमुक मुनि महाराज, तो उसका अर्थ है कि श्री एक बार न कह कर श्री श्री ऐसा १०८ बार बोलना चाहिए, फिर उसके बाद मुनि महाराजका नाम लेना चाहिए, पर ऐसा १०८ बार श्री गिनेगा कौन और इतना कहेगा कौन, और कदाचित् कोई इतना कहकर नाम ले तो उसे तो लोग बडे आश्चर्यके साथ देखेंगे कि इसके दिमागमे क्या हो ही गया ? तो उसका एक सकेत है श्री १०८ कहना। साधु महाराजके ये कोई पाप नही होते। जो वास्तविक मुनि है वह किसी भी प्रकारके पापका विचार नही करता, न उसके साधन जोडेगा। जब आशय ही नही किसी भी पापका तो साधन जोडना और उसका प्रारम्भ करना यह तो हो ही कैसे सकेगा ? इस प्रकार न वह पापकर्म करता है, न पापकी अनुमोदना करता है, और इन पापोंके लिए उसके मन, वचन, कायकी वृत्ति भी नही होती। उसके कषायें भी नही जगती। यद्यपि क्रोध, मान, माया, लोभ सज्वलन विषयक साधुवोके पाये जाते हैं और इस दृष्टिसे देखा जाय तो कुछ पाप तो हो ही रहा है, मगर रूढिमे, देखनेमे, अनुभवनेमे जिन पापोकी बात आती है उन पापोंकी अपेक्षा यह बात कही जा रही है अथवा उनके जो भी क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें रह गई हैं तो उनका रूप बदला हुआ रहता है। कोई आचरण बिगड जाय तो उसके लिए क्रोध होगा। अपने आपकी ज्ञानगरिमाको रखनेके लिए अर्थात् ज्ञान स्वरूपसे अपना महत्त्व समझने विषयक मान होगा। कोई विहार आदिकका कार्य करना पडे और आशय नही है या दीक्षा शिक्षा आदिक कृत्य करना पडता, उपदेश आदिक करना पडता और उसका चाव नही है, क्योंकि वे सब परालम्बी बातें हैं तो इस प्रकारकी मायाका प्रयोग

समझ लीजिए। उनको लोभ होता है अपना आचरण पवित्र रखनेका, परिणाम निर्मल रखनेका और अपनी योग्य क्रियावोंसे च्युत न होनेका। यो साधु निष्पाप होते हैं। अब जीवाधिकरणके भेद बतानेके बाद जीवाधिकरणसे विपरीत जो अजीवाधिकरण है उसके भेद बतानेके लिए सूत्र कहते है।

## निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ ६-६ ॥

(३८) अजीवाधिकरण आस्रवके भेद—निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग ये क्रमशः दो चार, दो, तीन भेद वाले हैं और ये सब अजीवाधिकरण हैं। निर्वर्तनाका अर्थ है रचना। यह शब्द कर्मसाधनमे लगाना है। जो रचा जाय सो निर्वर्तना 'निर्वर्त्यते इति निर्वर्तना,' इसी प्रकार निक्षेप भी कर्मसाधनमे है, निक्षेपका अर्थ है रखना, जो रखा जाय सो निक्षेप 'निक्षिप्यते इति निक्षेपः' सयोगका अर्थ है मिलाना, यह भी कर्मसाधनमे है। 'सयुज्यते असौ सयोग.' जो मिलाया जाय सो। संयोग। निसर्गका अर्थ है प्रवृत्ति' यह भी कर्मसाधनमे है। 'निसृज्यते असौ निसर्ग.,' अथवा इन चारो शब्दोका भाव साधनमे भी अर्थ किया जा सकता है। रचना सो निर्वनना, निर्वर्तन निर्वतना, रखना सो निक्षेप, निक्षेपण निक्षेपः, मिलना सो सयोग सयुक्तिः सयोगः, प्रवर्तन करना सो निसर्ग, निसृष्टिः निसर्गः यहाँ अधिकरण शब्दकी अनुवृत्ति आती है अर्थात् पूर्व सूत्रमे जहां कि अधिकरणके भेद किए गए थे उस ७ वें सूत्रमे जो अधिकरण शब्द प्रयोग किया गया है उसकी अनुवृत्ति ८ वें सूत्रमे भी थी और इस ६ वें सूत्रमे भी करना, तब अर्थ हुआ कि ये सब अजीवाधिकरण आस्रव हैं, अर्थात् इन अजीव पदार्थोंके आलम्बनसे, इनके विचारसे कर्मका आस्रव होता है।

(३६) अजीवाधिकरण आस्रवके भेदोंका स्वरूप—इस सूत्रमे ३ पद हैं। प्रथम पदमे तो चार सज्ञायें हैं और उनका समास किया गया है, दूसरे पदमें संख्या शब्दोका कथन है और ये सख्यायें उनमे क्रमसे लगती है अर्थात् निर्वर्तनाके दो भेद है, निक्षेपके चार भेद हैं, सयोगके दो भेद है और निसर्गके ३ भेद है। निर्वर्तना रचनाको कहते हैं। यह मूल रचना और उत्तर रचनाके भेदसे दो प्रकार है। जीवके साथ सम्बद्ध जो औदारिक आदिक ५ शरीर है और वचन, मन, श्वासोच्छ्वास हैं, इनका जो निष्पादन है बनता रहना है, इसका जो बनना है वह मूलनिर्वर्तना है। इनके सहारे जीवके परिणाम होते हैं और उनसे कर्मका आस्रव होता है। जो असम्बद्ध है प्रकट बाह्य क्षेत्रमें है ऐसी चीजोंका निष्पादन करना उत्तरगुण निर्वर्तना है। जैसे कोई काठकी चीज बनाता, चित्र बनाता, तलवार, छुरी आदिक बनाना या धार्मिक पथपर धार्मिक पुरुषोंके चित्र बनाना, यह सब उत्तरगुण निर्वर्तना है। इनसे भी कर्मोंका आस्रव होता है। शुभ हो अथवा अशुभ हो। निक्षेप ४ प्रकारके हैं। निक्षेपका अर्थ है

रखना। बिना देखे हुए जमीनपर चीजका रख देना यह निक्षेपका प्रथम भेद है। इसका नाम है अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण, दूसरा निक्षेपका भेद है दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण अर्थात् बडे बुरे भावसे, जोरसे चीजका रख देना। जैसे कभी गुस्सा आता हो तो लोटा, थाली आदिक कुछ भी बड़े जोरसे रखे जाते हैं तो बुरे भावसे हीसकर, दु'खी होकर रखना सो यह दूसरा निक्षेप है। तीसरे निक्षेपका नाम है सहसानिक्षेपाधिकरण। जल्दी ही किस चीजको धर देना, धरनेमे जल्दबाजी कारना, जल्दबाजीसे कोई चीज रखनेमें हिंसा सम्भव है और उससे कर्मका आश्रव होता है। चौथा निक्षेप है अनाभोग निक्षेपाधिकरण अर्थात् किसी चीजको एक ओरसे रखना, पूरी ही न रखना या बिना विचारे यत्र तत्र रखना यह चौथा निक्षेप है। इन प्रवृत्तियोंसे कर्मोंका आश्रव होता है। संयोगाधिकरण दो प्रकारका है—(१) भोजनपान संयोग, (२) उपकरण सयोग। भोजनपानमे अन्य भोजनपानका संयोग कर देना, ठडेमे गर्म मिला देना, गर्ममे ठडा रख देना यह सब प्रथम सयोग हैं। दूसरा संयोगाधिकरण है उपकरण-संयोगाधिकरण। जिस वस्तुपर जोजो वस्तु प्राय नही रख देना या गरम वस्तु पर ठंडी वस्तु रखी जाती उसको रख देना याने अनमेल एक पदार्थमें दूसरा पदार्थ रखना यह उपकरण-संयोगाधिकरण है। जैसे धार्मिक ग्रन्थपर कोई चश्मा आदिक चीज न रखना चाहिए, उससे विनयमे अन्तर होता है। पर रख दिया यह उपकरणसंयोग है या शास्त्रके बीच कोई सींक रख देना ख्यालके लिए कि यहाँ तक पढ लिया। जो वस्तु जहाँ न रखी जानी चाहिए उसको वहाँ संयोग कराना यह उपकरण सयोग है। निसर्ग आस्रव तीन प्रकारके हैं। शरीरसे प्रवृत्ति करना, वचनसे प्रवृत्ति करना और मनसे प्रवृत्ति करना, इस तरह ये अजीवाधिकरणके भेद कहे गए हैं।

**(४०) सूत्रमें पर शब्दके ग्रहणकी निरर्थकताकी शंका**—यहाँ एक शकाकार कहता है कि सूत्रमे पर शब्दका प्रयोग न करना चाहिए, क्योंकि इससे पहले सूत्रमे आद्य शब्द आ चुका है कि वे प्रथम अधिकरणके भेद है। तो यहाँ अपने आप सिद्ध हो जायगा कि ये दूसरे अधिकरणके अर्थात् अजीवाधिकरणके भेद हैं अथवा यदि इस सूत्रमे पर शब्द रखना है तो पहले सूत्रमे आद्य शब्द न कहना चाहिए, क्योंकि यह एकके कहनेपर दूसरेकी बात अपने आप सिद्ध हो जाती है। जैसे कोई यह कहे कि मेघ न होनेपर वृष्टि नही होती तो अपने आप यह बात सिद्ध हो गई कि मेघके होनेपर वृष्टि होती है। यहाँ कोई यह शंका न करे कि मेघोके होनेपर वृष्टि होती भी है नही भी होती है, तो उसका उत्तर यह है कि वहाँ ऐसा नियम नही बनाया जा रहा। जब यह कहा कि मेघके न होनेपर वृष्टि नही होती तो उसका अर्थ यह निकला कि मेघके होनेपर ही वृष्टि होती है। जैसे कोई कहे कि अहिंसाधर्म है तो

दूसरी बात अपने आप सिद्ध ही हो जाती कि हिंसा अधर्म है। तो ऐसे ही यदि आद्य शब्द दिया है पहले सूत्रमे तो इस सूत्रमे "पर" शब्द न कहना चाहिए। यदि इस सूत्रमे 'पर' शब्द दिया जाता है तो प्रथम सूत्रमे आद्य शब्द न कहना चाहिए। यदि कोई ऐसा उत्तर देनेकी कोशिश करे कि "पर" शब्द न देनेसे सम्बंध ठीक नही बनता, न जाने किससे सम्बंध बन जाय तो उसका उत्तर यह है कि अन्य किसीका अर्थसे सम्बन्ध बने ऐसा कोई है ही नही। प्रकरण दोनोका चल रहा है जीवाधिकरण और अजीवाधिकरणका। यहा यह सदेह न होगा कि कही जीवाधिकरण न मान लिया जाय। उसका तो वर्णन इससे पहले सूत्रमें हो चुका है, वह जीवाधिकरण है। तो बचे हुएके न्यायसे अपने आप अजीवाधिकरण है यहां यह सिद्ध हो जाता है इस कारण इस सूत्रमे पर शब्द कहना अनर्थक है। कोई ऐसी भी आकाक्षा न करे कि यहा पर शब्दका अर्थ प्रकृष्ट मान लेंगे तो क्या यह अजीवाधिकरण प्रकृष्ट हो गया और जीवाधिकरण निकृष्ट हुआ जिससे प्रकृष्ट अजीवाधिकरण माना जाय। यो जीवाधिकरण रद्दी हुआ, अजीवाधिकरण उत्कृष्ट हुआ ऐसा कुछ नही है। कोई ऐसी भी आशंका न रखे कि पर शब्दका अर्थ इष्ट मान लेंगे। जैसे कहा कि यह परमधामको गया मायने इष्टधाम गया, ऐसा इष्ट अर्थ मानना क्यो ठीक नही है कि ऐसा माननेपर वह अनिष्ट क्या है जिसके होनेपर यह पर शब्द इष्ट है ? कोई निवर्त्य नही, कुछ भी नही, तब पर शब्दका प्रयोग करना अनर्थक है ऐसी यह एक आशका होती है।

**(४१) सूत्रमे "पर" शब्दके ग्रहणकी निरर्थकताकी आशंकाका समाधान**—अब उक्त आशकाका समाधान करते हैं। सूत्रमे जो पर शब्द दिया है और वह अनर्थक नही है, क्योकि इस सूत्रमे पर शब्दसे कुछ रहस्यपूर्ण अन्य अर्थ निकलता है और वह अर्थ यह निकलता कि ये निर्वर्तना आदिक पूर्वोक्त संरम्भ आदिकसे भिन्न हैं। यदि ऐसा ध्वनित न होवे तो जैसे सरम्भ आदिक जीवके परिणाम हैं और वे जीवाधिकरण माने गए है ऐसे ही निर्वर्तना आदिक भी जीवके परिणाम मान लिए जायेंगे और वे जीवाधिकरण कहलायेंगे, इस कारण सूत्रमे पर शब्दका ग्रहण किया गया है अथवा सब स्पष्ट करनेके लिए "पर" शब्द ग्रहण किया गया है अथवा इस 'पर' शब्दके द्वारा इष्ट अर्थ भी जाना जा सकता है, वह इष्ट अर्थ वह है जो कि निर्वर्तना आदिकके भेदोके विवरणमे ध्वनित किया गया है। अब यहां एक जिज्ञासा होती है कि इस आश्रवके प्रकरणमे मन, वचन, कायके परिणाम बताये गए। ये योग हैं और ये आश्रव कहलाते हैं, और इन तीनो योगोके परिणमन अनन्त ढगके है, पर एक आश्रवका एक वचनमे प्रयोग होनेसे क्या यह सिद्ध होता है कि सभी कर्मोंका आश्रव एक रूपसे होता है। उसका उत्तर सक्षेपमे यह है कि एक ढगसे सर्व प्रकारके आश्रव नही होते। कोई किसी

का किसी कारणसे काय आदिकका व्यापार जैसे होता है उस प्रकारके आश्रव होते हैं। तो उनमे सर्वप्रथम ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आश्रवकी बात कहते हैं।

**तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायाऽऽसादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥६-१०॥**

(४२) **ज्ञानावरण कर्मके आस्रवके कारण**—ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके ये आश्रव कहे गए है। वे कौनसे हैं? ज्ञानके विषयमे (१) प्रदोष, (२) निह्नव, (३) मात्सर्य, (४) अन्तराय, (५) आसादन और (६) उपघात। ज्ञानके विषयमे ये परिणाम हो तो ज्ञानावरणका आश्रव होता है और दर्शनके विषयमे परिणाम हो तो दर्शनावरणका आस्रव होता है। प्रदोष किसे कहते हैं? मोक्षमार्गके कारणभूत ज्ञानका कीर्तन होनेपर, उसकी प्रशसा की जानेपर जिस किसीको बर्दास्त न हो उसके अन्तरगमे जो बुरे लगने के परिणाम हैं पैशून्य अर्थात् चुगली आदिकके परिणाम हैं वे प्रदोष कहलाते हैं। याने उस ज्ञानकीर्तनके बारेमे पीठ पीछे निन्दा करना, उस ज्ञानके विषयमे दोष बतानेका यत्न करना ये सब प्रदोष कहलाते हैं। जो पुरुष ज्ञानके विषयमे प्रदोष करता है उसके ज्ञानावरण कर्मका आस्रव होता है। दूसरा है ज्ञाननिह्नव—ज्ञानका छुपा लेना। किसी बहानेसे या किसी कार्य का बहाना करके यो कहना कि अभी फुरसत नही या हम नही जानते, किसी भी रूपसे ज्ञान को छुपा लेना यह ज्ञाननिह्नव है। ऐसे प्रयोगसे ज्ञानावरण कर्मका आस्रव होता है। तीसरा है ज्ञानमात्सर्य—जिसके पास ज्ञान है वह अन्य दूसरेको ज्ञान देवे यह बात युक्त है, किन्तु कुछ ऐसा ख्याल करके कि हमने इसे भी सिखा दिया तब तो इसकी ख्याति प्रसिद्धि हो जायगी तो उससे एक मात्सर्यभाव आया और उस मात्सर्य भावके कारण कोई बहाना करके उसे ज्ञान न देना सो ज्ञानमात्सर्य है। ज्ञानमात्सर्यका भाव करनेसे ज्ञानावरण कर्मका आस्रव होता है जिसके फलमे जब इन कर्मोका उदय आयगा तो यह मूर्ख रहेगा, खूब सिखाया जाने पर भी इसे विद्या न आयगी। चौथा है ज्ञानान्तराय—खोटे परिणाम होनेसे ज्ञानमे अन्तर डाल देना सो ज्ञानान्तराय है, जैसे किसी विद्यार्थीको कोई छात्रवृत्ति देना चाहे और उसमे कोई विघ्न डाल दे कुछ कह कर या कोई किसीको शास्त्र देना चाह रहा है और उसमे कोई अन्तराय डाल दे, किसी भी प्रकारसे ज्ञानमे अन्तर पड जाय उसे ज्ञानान्तराय कहते हैं। ऐसे कर्मोसे ऐसी ज्ञानावरण प्रकृतियोका आस्रव होता है कि उसे भी भविष्यमे अनेक विघ्न आते रहेगे और वह ज्ञान न पा सकेगा। पाँचवा है ज्ञानासादन—कोई दूसरा ज्ञान दे रहा हो या ज्ञानका प्रकाशन करना चाहे तो उस प्रकाशित ज्ञानको शरीर या वचन द्वारा उसको गिरा देना, हटा देना, टाल देना सो यह आसादन है छठा है उपघात—अभिप्राय मलिन होनेसे किसी दूसरेके ज्ञानमे दूषण लगाना कि उसका ज्ञान किस कामका? वह इस तरहसे बोलता

ऐसी प्रवृत्ति होती इस तरहके दोष लगाना यह उपघात कहलाता है और ज्ञानविषयक उपघात करनेसे ऐसे ज्ञानावरण कर्मका आस्रव होता है कि जिससे भविष्यकालमें उसके भी ज्ञान मे कोई दूसरा दूषण लगायगा और यह दुःख मानेगा। यह सब ज्ञानविषयक कारण ज्ञानावरण कर्मके आस्रव कराते हैं। यहाँ अन्तमे दो शब्द दिया है—१-आसादन और २-उपघात, तो आसादनमे तो किसीमे विद्यमान ज्ञान हो तो उसका विनय प्रसिद्धि प्रशंसा न करके उसका अनादर किया जाता है जब कि उपघातमे उसके ज्ञानको अज्ञान ही कह कर, काहे का ज्ञान, सब उल्टा बकवाद आदिकके शब्दसे उसको अज्ञान कहकर उस ज्ञानका नाश ही किया जाता है, तो ऐसे कार्योंसे, परिणामोसे खोटे कर्मोंका आस्रव होता है।

**(४३) दर्शनावरण कर्मके आस्रवके कारण व सूत्रोक्त तत् शब्दसे ज्ञान दर्शनका ग्रहण**—जैसे ज्ञानके विषयमें कारण कहा गया है यह ही दर्शनके विषयमे हो तो वहाँ दर्शनावरणका आस्रव होता है। जैसे कोई दर्शन करनेकी बात कहे तो उसके प्रति भीतर ही ईर्ष्याके परिणाम बनें, यह प्रदोष है। कोई दर्शनके लिए पूछे कि राजासाहब या महाराज जी वहाँ हैं क्या? तो नही हैं या मुझे नही मालूम, ऐसा ही कुछ कह कर उसके दर्शनका लोप कर देना, छुपा देना ऐसी बात सो दर्शननिह्नव है, किसीको कोई किसी बहाने दर्शन ही न दे, छुप जाय या कुछ बहाना कर दे, न मिलना चाहे तो वह दर्शन मात्सर्य है। किसीके दर्शनमे अन्तराय डाल दे, कोई दर्शन करना चाहता है तो कोई ऐसी अडचन डाल दे कि दर्शन न कर सके यह अंतराय है। या कोई दूसरा दर्शन दे रहा हो तो उसे शरीर वचन आदिककी चेष्टावोंसे रोक देवे, मना कर देवे, यह आसादन दोष है। या किसीके विषयमें दूषण लगाये, उसका क्या दर्शन करना, उसका तो यों आचरण है, यह उपघात है, तो ऐसा दर्शनके विषयमे प्रदोष आदिक करनेसे दर्शनावरणका आस्रव होता है जिससे भविष्यमे यह भी किसी अच्छे पुरुषका, तत्त्वका दर्शन न कर सकेगा। इस सूत्रमे जो तत् शब्द दिया है उससे ज्ञान और दर्शनका निर्देश होता है अर्थात् ज्ञानके और दर्शनके विषयमे कारण प्रदोप निह्नव आदि होना ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवका कारण होता है। यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि तत् शब्दसे ज्ञान और दर्शनका ग्रहण कैसे कर लिया गया है? तो उत्तर यह है कि जब ज्ञानावरण और दर्शनावरणका आस्रव बताया गया है तो तत् शब्दसे अन्य और कुछ ग्रहण कैसे हो सकता? ज्ञान और दर्शनके आवरणकी बात है तो ज्ञान और दर्शनका ही विषय बनेगा।

**(४४) ज्ञानावरण दर्शनावरणके आस्रवोंके कारण एक होनेसे ज्ञानावरण व दर्शनावरणमें एकत्वके प्रसंगकी आशंका व उसका समाधान**—अब यहाँ एक शङ्का होती है

जब ज्ञानावरण और दर्शनावरणके एक समान आस्रवकारण हैं याने प्रदोष निह्नव आदिक ये ही तो ज्ञानावरण कर्मके आस्रवभूत कारण है और ये ही दर्शनावरणके हैं। तो ज्ञानावरण और दर्शनावरणमें एकता आ जायगी, क्योंकि जिसके कारण एक होते हैं वह चीज भी एक हो जाती है। इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि यह कथन युक्त नही है, इसमे तो बड़ा विरोध बनता है। जैसे बताओ जितने भी शब्द निकलते हैं वे कठ ओठ आदिकसे ही तो निकलते हैं, चाहे कोई बोले। तो जब वचनोका कारण एक ही रहा कठ ओठ आदिक सभी मनुष्योके तो वे वचन यदि किसी पक्षके साधक हैं तो सबके लिए साधक कहलायें, यदि बाधक हैं तो सबके लिए बाधक कहलायें। जब यह मान रहे हो कि एक समान कारण होवे तो कार्य एक समान होता है तो वचनोका कारण एक समान है, तो वचन भी एक समान हो जाना चाहिए जैसे कोई जीवका निषेध करता है तो शब्द तो वे ही हैं तो सब कोई निषेध मान लेंगे। ऐसे ही वचन अगर साधक है तो सबके लिए साधक बन जायेंगे सबका साधक बन जाय फिर वादविवाद क्यो होता ? एक समाधानकर्ता एक खण्डनकर्ता, ऐसा क्यो होता, क्योकि वचन तो एक हो गए क्योकि उनका कारण एक है। यदि यह कहा जाय कि भले ही वचनोका कारण एक समान है तो भी कोई वचन अपने पक्षके साधक ही होते और कोई वचन परपक्षके निषेधक ही होते। उन वचनोमे किसीमे साधकपना है किसीमे दूषकपना है, इसलिए वचन एक नही हो सकता। तब उत्तर यह है कि यह तो स्ववचनविरोध हो गया। अभी तो कह रहे थे कि जिसका एक समान कारण होता है वह कार्य सब एक हो जाता है और प्रकृतमे ज्ञानावरण और दर्शनावरणके लिए कह रहे हैं, पर वह कुछ अब गलत हो गई ना, स्ववचनविरोध हो गया तो यह बात युक्त न रही कि जिसके कारण एक है वे कार्य एक समान कहलाते हैं, और फिर प्रत्यक्ष व आगमसे भी बाधा आती है। जो लोग यह कहते हैं कि जिसका कारण एक समान है, वह कार्य भी एक समान है इस बातमे प्रत्यक्षसे भी बाधा है और आगमसे भी बाधा है, प्रत्यक्षमे देखते हैं कि घड़ा, सकोरा, गगरी, सुराही आदिक सब एक मृत्पिण्डसे बनते हैं, मिट्टीसे बनते। वही कुम्हार बैठा है, चक्र दड भी वही है तो जब एक समान कारण मिल गए तब तो ये घड़ा, सकोरा, गगरी आदिक भिन्न-भिन्न कार्य क्यो बने ? इन्हे न बनना चाहिए। तो प्रत्यक्षमे बाधा आती आगमकी बाधा सभीके यहाँ है, सांख्य लोग महान् अहकार शरीर विकार आदिक सबका प्रधान कारण एक मानते हैं, तो जब एक ही कारण प्रधान है तो उसके कार्य सब समान होने चाहिएँ, पर वे भी अनेक तरहके कार्य मानते। बौद्ध लोग पुण्य अपुण्य ससार आदिकका कारण एक मानते हैं अविद्या, तो जब कारण एक है अविद्या तो वे कार्य अनेक क्यो हों ?

गए ? वहाँ भी यह बात मानी गई कि भले ही कारण एक हो फिर भी कार्य अनेक प्रकारके होते है। नैयायिक लोग अर्थ नेत्र आदिकका सन्निकर्ष मानते हैं इसलिए सन्निकर्ष तो सन्निकर्ष ही है, एक प्रकारका कारण है, पर उससे भिन्न कार्य क्यो हुए ? वे भिन्न कार्य मानते। रूपका ज्ञान, रसका ज्ञान, सुख होना, दुःख होना, अनेक प्रकारके कार्य होते, तो उनको भी वह इष्ट न रहा कि समान कारण हो तो कार्य समान ही होते है।

**(४५) ज्ञानावरण व दर्शनावरणके आस्रवोंके कारणोंका एक समान कहे जानेका कारण**—अब एक जिज्ञासा होती है कि तब फिर ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रव समान ही क्यो कहे गए ? उसका उत्तर यह है कि जब इन दोनो आवरणोका पूर्ण क्षय हो जाता है तो केवली भगवानमे एक साथ ही केवलज्ञान और केवलदर्शनका विकास हो जाता है। जैसे सूर्यमे प्रताप और प्रकाश ये दोनो एक साथ रहते हैं इसी प्रकार ज्ञान और दर्शनका जब विकास होता है तो एक साथ ही विकास होता है। इस कारण पहिले याने सावरणदशा मे इनके आस्रव एक समान ही रहे, किन्तु जो आवरणसहित ज्ञान है वहाँ ज्ञान और दर्शनकी प्रवृत्ति क्रमसे होती है। जैसे जो जल गर्म हो गया है याने जलके साथ अग्निका समवाय बनाते है तो जलमे प्रताप तो है, गर्मी तो है, पर प्रकाश नही है। और जैसे दीपकके प्रकाश मे प्रकाश तो है, किन्तु प्रताप नही है ऐसे ही जो साधारण लोग होते हैं छद्मस्थ जीव होते है उनके जिस समय ज्ञानोपयोग होता है उस समय दर्शनोपयोग नही और जिस समय दर्शनोपयोग होता है उस समय ज्ञानोपयोग नही।

**(४६) प्रभुकी त्रिकालदर्शिताकी मीमांसा**—यहाँ एक आशका होती है कि जो पदार्थ अतीत हो चुके याने जो पर्याय गुजर चुकी और जो पर्याय अनागत है आगामी कालमे होगी उनके विषयमे दर्शन किस तरहसे हो जायगा ? दर्शन तो सामने वर्तमान रहने वाले पदार्थका हुआ करता। जो घटना गुजर चुकी, जो घटनायें अभी नही आयी, भविष्यमे आयगी उनके विषयमे दर्शन कैसे बनेगा, क्योकि दर्शनका लक्षण घटित नही होता। दर्शनका दर्शन तो छुवे हुए विषयसे हुआ करता है और ज्ञान बिना छुवे अविषयमे हुआ करता है, पर जो अतीत है वह तो नष्ट हो चुका, जो अनागत है, भविष्यका है। वह अभी उत्पन्न ही नही हुआ तो यों दोनो ही असत् हैं, न अतीतकी अब सत्ता है और न भविष्यकी अब सत्ता है। तो उनका छूना और उनका विषय होना यह कैसे बन सकता है ? और जब अतीत और भविष्यका स्पर्श व विषय न हुआ तो यो ही कह लीजिए कि ज्ञान ही दर्शन कहलाया, फिर केवली भगवानको त्रिकालदर्शी कैसे कहा गया है ? यदि दर्शनकी बात कहना है तो उन्हे वर्तमानदर्शी कहना चाहिए। इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि जो यह बताया गया है कि दर्शन छुवे

हुए पदार्थका होता है यह कथन ठीक नही है, क्योकि प्रभुका ज्ञान निरावरण होता है और निरावरण होनेपर वहाँ ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं। जैसे कोई सूर्य मेघपटलके बीच आया है तो उसका प्रकाश और प्रताप कम हो जाता है और जब मेघपटल हट गए तब सूर्य का प्रकाश और प्रताप दोनो एक जगह हो जाते हैं। जहाँ प्रताप है वहाँ ही प्रकाश है। तो इसी तरहसे केवलज्ञानरूपी सूर्य जब तक आवरणमे था तब तक अनेक दशायें चलती थी, किन्तु जब आवरण हट गया तो प्रभुके अचिन्त्य माहात्म्य और विभूतिविशेष प्रकट हो गया फिर उनका जहाँ ज्ञान है वहाँ दर्शन अवश्य है। और जहाँ दर्शन है वहाँ ज्ञान भी अवश्य है। और भी सुनो यह तो माना ही जा रहा है शङ्काकारके द्वारा कि केवली भगवान असद्‌भूतको जानते हैं याने जो पर्याय गुजर गई है, जो पर्याय आगे होगी उसको जान लेते हैं और बिना उपदेश किए हुए को जान लेते हैं, तो ऐसे ही हम पूछते हैं कि असद्‌भूतको और अनुपदिष्टको भगवान देख लें तो इसमे कौन सी बाधा आती है? और भी सुनो जैसे न छुवे हुए अविषयभूत पदार्थमे बिना उपदेशके छद्मस्थको ज्ञान नही हो पाता, जिसके ज्ञानावरण लगा है, दर्शनावरण भी लगा है वह बिना छुवेको बिना उपदेशके नही जान सकता। क्या इसी तरह केवलीके बारेमे भी आपकी मान्यता है कि वे भी अस्पृष्टको नही जान सकते? यदि कहो कि केवली भगवानके विषयमे ऐसी मान्यता नही है अर्थात् वह सबको जान लेता है तो जैसे आवरण सहित जीवको छुए और विषयमे दर्शन होता है उस तरह केवलीके नही माना जा सकता। केवली भगवान तीन कालके पदार्थोंको जानने वाले हैं और देखने वाले हैं, हाँ अवधिज्ञानकी बात और तरह है। अवधिज्ञानी पुरुषके आवरण हैं तो भी अवधिदर्शनावरणका क्षयोपशम तो निरन्तर निरपेक्ष है सो केवलदर्शनकी तरह बिना उपदेशके ही अतीत और भविष्यके पदार्थोंके छुवे बिना भी अवधिदर्शन होता है।

(४७) **मनःपर्ययदर्शनका उल्लेख न होनेका कारण**—यहाँ एक शंकाकार कहता है कि एक दर्शन मनःपर्ययदर्शन भी मान लीजिए। जैसे अवधिज्ञानावरणकी जोडीमें अवधिदर्शनावरण माना है ऐसे ही मनःपर्ययज्ञानावरणकी जोडीमे मनःपर्ययदर्शन भी मान लेना चाहिए याने उसी तरह मनःपर्ययज्ञानावरणके साथ मनःपर्ययदर्शनावरण भी बन जाना चाहिए। इस शंकाके उत्तरमे कहते हैं कि मनःपर्ययदर्शन माननेका कोई कारण नही है। मनःपर्ययदर्शनावरण तो है ही, क्योकि चार ही दर्शनावरण बताये गए हैं। तो जब मनःपर्ययदर्शनावरण नही तो उसका क्षयोपशम भी कहाँसे होगा? फिर क्षयोपशम निमित्तक मनःपर्ययदर्शन होना चाहिए, सो वह कैसे होगा? प्रधान बात यह है कि मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञानकी तरह अपने आप स्वतन्त्रतया अपने आप विषयमे नही लगता याने अवधिज्ञान तो अपने आप अपनी ही

शक्तिसे, अपने क्षेत्रके अंदर सब कुछ जान लेता है, पर मनःपर्ययज्ञान जब अपने विषयमे अपने मुखसे नही प्रवर्तता है। तो फिर कैसे बनता है मनःपर्ययज्ञान ? दूसरेके मनकी प्रणालीसे मनःपर्ययज्ञान बनता है। जैसे मन अतीत और भविष्यके पदार्थोंका चिंतन करता है, पर देखता नही है, ऐसे ही मनःपर्ययज्ञानी भी भूत और भविष्यके पदार्थोंको जानता है, पर देखता नही है। वर्तमान मन भी विषयविशेषके आकारसे जानता है इस कारण मनःपर्ययवृत्ति सामान्यपूर्वक नही है। वह दूसरेके मनकी प्रणालीसे जानता है याने दूसरा पुरुष अपने मनमें क्या-क्या सोच रहा है, क्या सोचेगा उस मनकी प्रणाली जैसी है उसरूपसे मनःपर्ययज्ञान जगता है। वह स्वमुखसे नही जगता। अवधिज्ञान स्वमुखसे जगता है। सो वहाँ अवधिज्ञान स्वमुखसे जगता है, तो उसके साथ अवधिदर्शन भी बनता है, पर मनःपर्ययज्ञान अपने आपके मुखसे नहीं जगता, इस कारण वहाँ मनःपर्ययदर्शन नही है।

(४८) **ज्ञानावरण व दर्शनावरणके आस्रवकारणोंका विषयभेदसे भेद**—एक शंकाकारने यह कहा था कि ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आश्रव एक ही समान प्रदोष निह्नव आदिक है सो ज्ञानावरण दर्शनावरणको एक ही जाना चाहिए। ये भिन्न-भिन्न दो क्यो है ? उसके विषयमे काफी उत्तर दिया गया है। तो भी यहाँ यह और समझ लीजिए कि ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आश्रवके कारण भिन्न भिन्न भी विदित होते हैं और वह भिन्नता विषयभेदसे बनी याने ज्ञानके सम्बंधमे प्रदोष निह्नव हो और दर्शनावरणके विषयमे प्रदोष निह्नव हो तो विषयभेदसे इसमे भी भेद बन गया, तो कारण भी अभी जुदे-जुदे कहलाने लगे। इसलिए ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनोका एक साथ कहना युक्त बन गया।

(४९) **ज्ञानावरण व दर्शनावरणके आस्रवके कुछ अन्य विशेष कारणोका प्रतिपादन**—जो ज्ञानावरण दर्शनावरणके आश्रव कहा है सो वह संक्षिप्त है। विशेषतामे कुछ ऐसा समझिये कि आचार्य व उपाध्यायके प्रतिकूल चलना यह ज्ञानावरणके आश्रवका कारण है, और भी ज्ञानावरण आश्रवके कारण निरखिये। अकालमे अध्ययन करना, जैसे जब सूर्य चद्र ग्रहण हो, सबमे खलबली मच रही है और ऐसे कालमे अध्ययन करे तो वह अकाल अध्ययन है अथवा जैसे अपने संघके नायक प्रमुख जा रहे है बाहर, अथवा कोई बड़े तेजस्वी मुनिराज पधार रहे हैं तो उस समय अध्ययन न करना चाहिए वह उनके प्रति विनयादिका समय है। यदि कोई उस समय अध्ययन करता है तो वह ज्ञानावरणके आश्रवका कारण है। श्रद्धा न रखते हुए अध्ययन करना, श्रद्धा न रहना यह भी ज्ञानावरणके आश्रवका कारण है। अभ्यास करनेमे आलस्य रखना, कुछ शिक्षा किसीसे ले, पढे मगर अभ्यास करनेमे आलस्य किया तो उससे ज्ञानावरण कर्मका आश्रव होता है। अनादरसे अर्थ सुनना यह ज्ञानावरणके आश्रवका कारण है। समवशरणमे दिव्यध्वनि तो खिर रही है और उस समयमे कोई मुनि खुद उपदेश

करने लगे, व्याख्या करने लगे तो उसकी इस क्रियासे ज्ञानावरण कर्मका आश्रव होता है। जो बहुत ज्ञानी जीव हैं वे अपने ज्ञानका गर्व करने लगे तो उनके ज्ञानावरण कर्मका आश्रव होता है। मिथ्या उपदेश देना, बहुश्रुत विद्वान्का अपमान करना, अपने पक्षका कठिन आग्रह रखना, सूत्रविरुद्ध चलना, असिद्धसे ज्ञानकी प्राप्ति सोचना, शास्त्र बेचना, हिंसा आदिक करना ये सब ज्ञानावरण कर्मके आश्रवके कारण हैं। दर्शनावरणके आश्रवके कारणकी बात देखिये--दर्शनमें मात्सर्य होना, दर्शनमें अन्तराय डालना, किसीकी आंख फोडना, इन्द्रियके विपरीत प्रवृत्ति करना, दृष्टिका गर्व करते रहना, दीर्घकाल तक सोते रहना, दिनमे सोना, आलस्य रखना, नास्तिक बनना, सम्यग्दृष्टिमे दूषण लगाना, खोटे तीर्थकी प्रशंसा करना, हिंसा करना और मुनि जनोके प्रति ग्लानिभाव आदिक करना, ये दर्शनावरणके आश्रवके कारण हैं।

## दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥६-११॥

(५०) दुःख शोक तापकी असातावेदनीयास्रवकारणता—स्वय दुःख करना, शोक करना, ताप करना, आक्रन्दन, वध और परिदेवन तथा दूसरोको दुःख कराना, शोक कराना, संताप कराना, रोना, वध करना, ये सब असातावेदनीय कर्मके आश्रवके कारण हैं। जब कोई विरोधी पदार्थ मिल जाय या इष्टका वियोग हो जाय या अनिष्टका सयोग हो जाय अथवा कठोर वचन आदिकका प्रयोग बने तो बाह्य कारणोकी अपेक्षा तथा अन्तरंगमे असाता वेदनीय कर्मका उदय होनेसे जो जीवोमे पीडा पहुंचती है उस पीडाके परिणामको दुःख कहते हैं। दुःखका सम्बध आर्त ध्यानसे विशेष है। सो इष्ट वियोग होनेपर, अनिष्टसयोग होनेपर, शरीर वेदना होनेपर, दूसरोके निष्ठुर कठोर वचन सुननेपर असाता वेदनीयके उदयसे जो क्लेश होता है वह दुःख है। सो स्वय दुःख करना, दूसरेको दुःखी कराना या स्वपर दोनो ही दुःख करना ये सब असातावेदनीयका आस्रव कराते है, शोक—जैसे जो पुरुष उपकारक है, बधु है, बड़ा ध्यान रखने वाला है उसका वियोग हो जानेपर बार बार उसका विचार आनेके कारण जो चिन्ता होती है, खेद होता है, विह्वलता होती है वह सब शोक कहलाता है। शोक होनेमे बाह्य कारण तो बधुवियोग आदिक है और अन्तरंग कारण मोहनीय कर्मका जो शोक-प्रकृति नामक भेद है उसका उदय है, ताप—निन्दा करने वाले, अपमान करने वाले कठोर वचन सुननेपर कलुषित हृदयके कारण जो भीतरमे तीव्र जलन होता है उसे ताप कहते हैं। ताप परिणाममे भीतर ही भीतर विकलता जगती है। भीतर ही भीतर अत्यन्त शोक रहता है। मानो हृदय जलता सा रहता है तो यह परिणाम ताप कहलाता है। सो खुद ताप करना, दूसरेका कराना और स्वपर दोनो ही करना, ये असातावेदनीयके आस्रवके कारण हैं।

(५१) आक्रन्दन बध परिदेवनकी असद्वेद्यास्रवकारणता—आक्रन्दन–बड़े संताप दुःख शोक आदिकके कारण आँसू गिरने लगें, अगवियोग होने लगें, माथा धुनने लगे, छाती कूटने लगे, ऐसी क्रियावोपूर्वक जो वृत्ति है उसे आक्रन्दन कहते है। जैसे किसी इष्ट पति पुत्रादिक का वियोग होनेपर रोना, आँसू गिराना, माथा फोडना, कुछ सूझना भी नहीं, विह्वल होकर रोना यह सब आक्रन्दन कहलाता है, सो ऐसा आक्रन्दन खुद करे, दूसरेसे कराये या दोनो करने लगें, उससे असाता वेदनीयका आश्रव होता है। बध–आयु, इन्द्रिय बल और प्राण आदिकका विघात करना बध कहलाता है। सो परिदेवन–अत्यन्त सक्लेशके कारण ऐसा रोना पीटना-जिस को सुनकर अपनेको या दूसरेको दया आ जाय सो परिदेवन है। ऐसा रोना पीटना खुद करे, दूसरेको कराये या दोनो करने लगे उससे असाता वेदनीयका आश्रव होता है।

(५२) दुःखकी विशेषतावोसे असद्वेद्यास्रवकी विशेषतायें—यहाँ एक शकाकार कहता है कि दुःख शोक आदिक जितने भी यहाँ शब्द बताये गए हैं वे सब दुःख जातिके ही तो हैं याने सब दुःख रूप है। जब सर्व दुःख रूप है तो केवल एक दुःख ही शब्द कहते। उनको अलगसे कहनेकी क्या आवश्यकता थी? वे सब दुःखमे ही आ जाते हैं। शोक, ताप ये सब दुःखके ही भेद है। इस कारण केवल दुःख शब्द ही कहना चाहिये था, अन्य शब्द न कहना चाहिये था। इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि यद्यपि ये सब दुःख ही दुःख हैं मगर उन दुःखो मे भी तो विशेषतायें होती है। तो कुछ विशेषतावोके सम्बंधसे उनकी दुःख जाति होनेपर भी उनको बताना पडा है। जैसे कोई गाय इतना ही कहे और गायसे कुछ अधिक प्रयोजन न बने, जिसने उसका कुछ विशेष रूप नही जाना तो उसको समझानेके लिए यह मुण्डीगाय, सफेदगाय, काली गाय ऐसी बहुत सी बातें कहनी होती है तो ऐसे ही दुःखके कारणभूत असंख्यात प्रकारके आश्रव होते हैं और उन असंख्यात प्रकारके आश्रवोके कारण भी असंख्यात प्रकारके होते है। यों दुःखके विशेष तो बहुत हो गए। उन्हे कोई न जाने तो कुछ दुःख जातिके विशेषोको बताकर उनका विवेक कराया जाता है और इसीलिए शोकादिक शब्दोका यहाँ ग्रहण किया गया है। दूसरी बात यह भी है कि दुःख शोकादिकमे परस्पर भेद भी पाया जाता है। जैसे घडा सकोरा आदिक मिट्टीसे ही बने हुए है, उसकी दृष्टिसे देखें तो सब मिट्टीरूप हैं, उनमे भिन्नपना नही है मगर उनका नियत आकार देखें, उनका उपयोग देखें तो उन पर्यायोकी दृष्टिसे उन मिट्टीके बर्तनोमे परस्पर भिन्नता है। ऐसे ही जो दुःख, शोक, ताप आदिक इस सूत्रमे कहे गए हैं सो एक अप्रीति सान्यकी दृष्टिसे देखें तो चूंकि इन सभीमे प्रीतिका अभाव है, हर्षका अभाव है, इस दृष्टि से तो सब दुःखके परिणामसे अभिन्न है, किन्तु अर्थकी दृष्टिसे, उनके स्वरूपकी दृष्टिसे उन दुःखोमे विशेषता है तो उन पर्यायोकी दृष्टिसे इन सबमे परस्पर भिन्नता पायी जाती है।

(५३) दुःख शोक आदिका निरुक्त्यर्थ—अब इस सूत्रमे जो दुःख आदिक पद दिए गए हैं उनकी निरुक्तिमे अर्थ देखिये यहां सभी शब्द कर्तृसाधनमे कर्मसाधनमे और भावसाधनमे बनते हैं। जैसे आत्माको दुःखित करना सो दुःख है। आत्मा जिसके द्वारा दुःखी होता है सो दुःख है या दुःखन मात्र दुःख है। इन तीन साधनोमे एक आशयके थोडे भेद होते है। तो भी वहां ये तीनो ही परस्पर सापेक्ष हैं, केवल कर्तृसाधनका ही एकान्त किया जाय तो भी नही बनता। अन्य साधनोका एकान्त भी नही बनता। जब स्वातंत्र्यकी विवक्षा है। पर्याय और पर्यायीका जब अभेद दृष्टिमे है तो तपे हुए लोहेके पिण्डकी तरह तत्परिणाममय होनेसे आत्मा ही दुःख रूप होता है इसलिए तो कर्तृसाधन बनता है और जब पर्याय और पर्यायीके भेदकी विवक्षा हो तब यह अर्थ बनता है कि जिसके द्वारा या जिसमे आत्मा दुःखी हुआ हो उसे दुःख कहते है। यह करणसाधन बन गया सो यह भी अन्य साधनोका निषेध होने पर नही बनेगा। और जब केवल वस्तुस्वरूप मात्रका कथन हो तो दुःखन होना दुःख है, इस प्रकार भावसाधन बनता है यह भी अन्य साधनोकी अपेक्षा रखता है। जैसे एक दीपक शब्दको लिया—जो प्रकाश करे सो दीपक, यह कर्तृसाधन हो गया। प्रकाश किया जाता है जिसके द्वारा वह दीपक है, यह करण साधन हुआ और प्रकाशनमात्रको दीपक कहते हैं, यह भावसाधन हो गया। अर्थ एक ही है। पर आशयसे तीन साधन बन गए। तो जैसे इसमे कोई यह एकान्त कहे कि हम तो सर्वथा कर्तृसाधन रूप ही मानते हैं, मायने जो प्रकाश करे सो दीपक, तो उनमे जब करणपना न रहे कि किसके द्वारा प्रकाश करना और क्रियाकी मुख्यता न रहना कि प्रकाशन हो रहा है तो कर्तृसाधन भी टिक नही सकता ऐसे ही कोई करण साधनका ही एकान्त करे कि जिसके द्वारा प्रकाश किया जाता है वह दीपक है और कुछ है नही कर्ता वगैरह तो करनहार कोई नही है तो करणपना कैसे बन गया ? तो इसमे किसीका भी एकान्त करनेपर यह साधन नही बनता है। हां जब जिस साधनका प्रयोग होता है वह मुख्य होता है, पर शेष दोनो बातें उसके हृदयमे ज्ञात रहती है, क्योकि वस्तु केवल पर्यायमात्र नही है, वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, नित्यानित्यात्मक है।

(५४) पर्यायमात्र या द्रव्यमात्र वस्तु माननेपर दुःखशोकादि परिणामकी अनुपपत्ति—अगर पर्याय मात्र ही वस्तु माना जाय जो एक समयमे जानन बन रहा है वह उतना ही पूर्ण वस्तु है अन्वयीद्रव्य कोई नही है, ऐसा आत्माका अभाव माननेपर कोईसा भी साधन नही बन सकता। करणसाधन तो यो न बनेगा कि कर्ता नही माना गया। कर्तृसाधन यो नही बनेगा कि कारण नही माना गया। जब तक स्वातन्त्र्य शक्ति वाला अर्थ न माना जाय तब तक शेष कारक कोई भी प्रयुक्त नही हो सकते। जब कोई एक स्वतत्र वस्तु ही नही तो

करण, सम्प्रदान किसके लिए लगाये जा रहे है। कोई यदि कर्तृसाधनका ही एकान्त करे कि बस यही है, करने वाला है, इतना ही भर माने तो भी नही बन सकता, क्योंकि करण आदिक न माननेपर यह सब कुछ नही बन सकता। देखिये अहेतुक क्षायिकमे विज्ञान आदिक जब एक साथ उत्पन्न होते हैं, जैसा कि क्षणिकवादियोके मतमे माना गया है तो वे एक दूसरे के सहकारी कैसे बन सकते हैं? अतीत और अनागत तो असत् ही है वर्तमानमे, तो उनका वर्तमानके प्रति सहयोग कैसे हो सकता? अर्थात् वस्तुको नित्यानित्यात्मक माने, स्वतन्त्र सत्ता वाला माने, त्रैकालिक माने परिणामी माने नही तो ये सब परिणमन कैसे हो सकते हैं? यदि एक क्षणिक मात्र ही माना, विज्ञान मात्र ही माना कि बस यही दुःख है जो एक समयमें जानन होता है, सो वहा दुःख शोकादिक कैसे हो सकते है? शोक तो तब होता है जब पहले किसी दुःखका अनुभव किया हो फिर उसका स्मरण आये। पर जहाँ समयमात्र ही आत्मा है, क्षणिक है वहाँ स्मरण कैसे हो सकता? एक समयमे आत्मा उत्पन्न हुआ, उसीमे नष्ट हो गया तो वहाँ शोकादिक नही बन सकते और ये शोकादिक सब देखे ही जाते हैं। अर्थात् पर्यायवान के बिना पर्यायें नही बन सकती। जानना आदिक बातें तो मानता रहे और उनके आधारभूत कोई स्थायी आत्मा न माने तो पर्याय कैसे टिक सकता है? इसलिए वस्तु केवल पर्यायमात्र नही है। पर्यायमात्र माननेपर दुःख शोक आदिक ये कुछ भी नही हो सकते। यदि वस्तुको द्रव्यमात्र ही स्वीकार किया जाय कि वस्तु पूरे द्रव्य ही है, उसमे क्रिया नही, गुण नही सर्वथा निर्गुण है, निष्क्रिय है तो ऐसा कोई द्रव्य माननेपर, ऐसा आत्मा माननेपर कि जिसमे परिणमन नही होता, जिसमे ज्ञान भी नही है ऐसा कल्पित आत्मा दुःख सुख आदिक परिणतियोका कर्ता कैसे हो सकता है और जब ज्ञानादिक गुणरहित आत्माको माना तो वह अचेतन कहलाया। कोई भी अचेतन जैसे प्रधान अचेतन है तो वह दुःख आदिक पर्यायोका कर्ता नही हो सकता। अचेतनमे भी अगर दुःख शोक आदिक होने लगे तो फिर चेतन और अचेतनका भेद किस बातसे किया जा सकेगा?

(५५) **स्वपरोभयस्य दुःखादिका असद्वेद्यास्रवहेतुता**—इस सूत्रमे जो दुःख आदिक कहे गए है ये अपनेमे होते है, दूसरेमे होते है, दोनोमे होते हैं और ये सभी असातावेदनीयके आश्रवके कारण हैं। जब क्रोधादिकके आवेशमे रहने वाला जीव अपनेमे दुःख आदिक उत्पन्न करता है तब वह आत्मस्थ दुःख कहलाता है और जब कोई समर्थ व्यक्ति दूसरेमे दुःख आदिक उत्पन्न करता है तो वह परस्थ दुःख कहलाता है, और जब किसी घटनामे दोनो ही दुःखी होते हैं तो वह उभयस्थ दुःख कहलाता है। जैसे किसी इष्टके गुजरनेपर कई दिनके बाद भी कोई रिस्तेदार बैठने आता है तो वह रिस्तेदार खुद भी रोने जैसी मुद्रा बनाता है और घर

वालोको भी रोना पडता है; उस समय दोनों ही रोने लगे एक विषयको लेकर। यह उभयस्थ दु:ख कहलाता है या जैसे कोई साहूकार कर्जदारसे कर्ज वसूल करने गया तो वहाँ दोनो ही लडते बोलते या कही जा रहे हैं या भूख प्यास आदिकके दोनो दु:ख सह रहे हैं तो ये उभयस्थ दु ख कहलाते हैं। तो चाहे दु ख आदिक स्वमें हो चाहे परमे हों, चाहे दोनोमे हो, सबसे असाता वेदनीयका आस्रव होता है।

(५६) दु:ख शोकादि प्रकरणमें स्फुट ज्ञातव्य—इस सूत्रमे तीन पद हैं—पूर्व पदमें तो आश्रवोके कारणोंके नाम दिए हैं, दूसरे पदमे स्व पर और दोनोमे रहने वाले दु:ख आदि का संकेत किया है। तीसरे पदमे असातावेदनीयका नाम दिया है कि ये सब असाता वेदनीय के आश्रवके कारण हैं। यहाँ वेद्यका अर्थ है अनुभवना, वेदना, चेतना है। यद्यपि वेद्य या वेद्य शब्द चार प्रकारके अर्थ वाली धातुसे बनते हैं, विद्ज्ञाने, विदलृट लाभे, विन्तिविचारे और विद्य सद्भावे, पर यहाँ एक चेतन ज्ञान अनुभवन अर्थको लिए ही धातु लेना है। इस सूत्रमें सर्वप्रथम दु:ख शब्द दिया है तो यह दु.ख प्रधान है और सभीमे दु ख है, उसके बाद जो शोकादिक कहे गए हैं वे सब दु खके ही विशेष हैं, सो शोकादिकका ग्रहण करना उपलक्षण रूप है और इस दृष्टिसे अनेक शब्द और भी ग्रहण किए जा सकते हैं जो कि असातावेदनीयके आश्रवके कारण हैं।

(५७) असातावेदनीयके अन्य आस्रवहेतुवोंका ग्रहण—जैसे अशुभोपयोग करना, किसी व्यक्तिपर कुछ अशुभ आपत्ति लादना असातावेदनीयका आश्रव करना है। दूसरेकी निन्दा करना, चुगली करना यह सब असातावेदनीयका आश्रव है। एक दूसरेसे संताप उत्पन्न कराना, अंगोपांगका छेदन करना जैसे कि बैलोंके नाक आदिक छेदे जाते हैं ये सब असातावेदनीयके आश्रव करने वाले हैं। भेद करना, ताडना, किसीको त्रास देना, किसीको डांटना ये सब असातावेदनीयके आश्रव करने वाले हैं। छीलना, पीटना, बांधना, किसीको रोकना, मर्दन करना ये सब असातावेदनीयके आश्रव करने वाले हैं। किसीको दबाया, किसीपर बोझा लादा, लज्जित किया ये सब असातावेदनीयके आश्रव करते हैं। दूसरेकी निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, सक्लेश उत्पन्न करना, जीवन यों ही गंवा देना, ये सब असातावेदनीयके आश्रव के कारण हैं। निर्दय होना, बहुत बडा आरम्भका काम लगा लेना बहुत बडे परिग्रहका लगाव है, किसीका विश्वासघात करना, किसीको आश्वासन देना, विश्वास देना, पूर्ण रूपसे वचन देना, फिर उसे धोखा देना, ये सब असातावेदनीयका आश्रव करते हैं। मायाचारी पापके कामोंसे अपनी आजीविका बनाना, बिना प्रयोजन ही कुछ पाप करते रहना, वस्तुवोंमे विष मिला देना, हिंसाके साधनोको उत्पन्न करना, जैसे बाण बनाना, जाल बनाना, पिंजरा बनाना

ये सब असातावेदनीयके आश्रवको किया करते है। किसीको जबरदस्ती शस्त्र देना, तुम यह बन्दूक रखो ही, तुम यह तलवार सिरमे लटकाओ ही आदिक अनेक ढंगोसे किसीके परिणाम बिगाडना ये सब असातावेदनीय कर्मके आश्रवके कारण हैं।

(५८) दुःख आदि देनेके आशयमें असद्वेद्यास्रवहेतुता—अब यहाँ कोई शका करता है कि यह बताया गया कि दुःखके कारणोसे असातावेदनीयका आश्रव होता है तब आचार्य महाराज या अरहंतदेवने ऐसा उपदेश क्यो दिया जिससे दुःख हो, जैसे कि नग्न रहना, केश-लोच करना, अनशन आदिक करना, तप आदिक करना, इनसे तो शरीरको कष्ट पहुंचता है, फिर तीर्थंकर महाराजको तो इन बातोका उपदेश न करना चाहिए था। तो इस शंकाके समाधानमे कहते हैं कि क्लेशभावपूर्वक यदि यह बात कही जाती है तब तो शंका ठीक थी, मगर संसारके दुःखोसे छुटकारा दिलानेके लिए उसके उपायभूत रत्नत्रयकी साधनोमे चलना आवश्यक है और ऐसे जीवोको पूर्वसस्कारवश खोटे भावोके आनेके प्रसग आते हैं, तो उन अशुभ उपयोगोसे बचनेके लिए इन नग्न आदिक तपोका विधान किया गया है। तो यह तो एक दयावश किया गया है। उनको करुणा उपजी कि ये ससारी जीव संसारमे दु ख पा रहे हैं। इन दु खोसे सदाके लिए छुटकारा हो तो जैसे डाक्टर घोडेका आपरेशन करे, कोई चिकित्सा करे तो देखनेमे यह लगता कि यह बड़े दुःखका काम है, पर उसके क्रोधादिक भाव न होनेसे डाक्टरको उस पापका बंध तो नही होता। तो ऐसे ही अनादिकालके सांसारिक जन्म मरण वेदनाको नष्ट करनेकी इच्छासे तप आदिक उपायोमे प्रवृत्ति करने वाले यतिके कार्यमे चाहे लोगोको दु ख दिखे मगर वे कार्य पापके बंधक नही हैं, क्योकि वे क्रोधादिकके कारण नही किए जाते। फिर एक बात यह है कि जो संसारी जीव दु खसे दबे हुए है उनके मनको जहाँ आराम मिले वही तो सुख कहलाता है। तो उन साधकजनोका अनशन आदिक करनेमे मनको सुख मिलता है, वह स्वेच्छासे करते हैं इस कारण भी कोई दुःखका प्रसंग नही है, अब यहाँ तक असातावेदनीयके आश्रवके कारण कहकर सातावेदनीयके आश्रवके कारण बतलाते हैं।

## भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥६-११॥

(५९) भूतानुकम्पा और व्रत्यानुकम्पाकी सद्वेद्यास्रवहेतुता—भूतानुकम्पा, व्रत्यनुकम्पा दान, सरागसयम आदिकका योग क्षमा, पवित्रता ये सब सातावेदनीयके आस्रवके कारण होते है। इसमे १—प्रथम कारण बताया है भूतानुकम्पा। भूतोकी अनुकम्पा—अनुकम्पा दया को कहते है, किसी दु:खीको देखकर उसके अनुसार दिल कप जाना सो अनुकम्पा है। भूत कहते है प्राणियोको। भूत शब्द बना है भू धातुसे, जिसमे अर्थ यह भरा है कि आयु नाम कर्म के उदयसे जो उन योनियोमे होते हैं। जन्म लेते है वे सब प्राणीभूत कहते हैं। सर्व जीवो

की दया करना सो भूतानुम्पा है । इस जीवदयाके परिणामसे सातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है । जिसके उदयकालमे यह जीव भी साता पायगा । २–दूसरा है व्रत्यनुकम्पा—व्रती जनो पर अनुकम्पा होना सो व्रत्यनुकम्पा है । व्रत हैं ५—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । इन व्रतोका जो सम्बन्ध बनाता है, इन व्रतोका जो पालन करता है वह व्रती कहलाता है चाहे गृहस्थ हो और चाहे गृहस्थोको छोडकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो, उन सब व्रतियोपर अनुकम्पा होना व्रत्यनुकम्पा है । यहाँ एक शका यह हो सकती है कि जब पहले भूतानुकम्पा कही जिसमे सर्व जीवोकी दया आ ही गई तो व्रती अनुकम्पाका शब्द अलगसे करना व्यर्थ है । तो उत्तर इसका यह है कि भले ही सामान्यका निर्देश करनेसे सर्व विशेष भी आ गए, सब जीवोमे व्रती भी आ गए फिर भी सर्व जीवोकी अपेक्षासे व्रतियोकी प्रधानता बतलाने के लिए व्रत्यनुकम्पा शब्द अलगसे कहा गया है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि जीवोमे जो अनुकम्पाकी जाती है उसकी अपेक्षा व्रतियोमे अनुकम्पा करना प्रधानभूत है अर्थात् विशिष्ट है, श्रेष्ठ है, तो ऐसा प्रधान बतलानेके लिए व्रत्यानुपकम्पा अलगसे कहा है । अनुकम्पाका अर्थ है अनुग्रहसे भीगे हुए चित्तमे दूसरेकी पीडाका इस तरह अनुभव करना कि मानो मुझ ही मे हो रही है पीडा इस तरह अपने हृदयमे पीडा करनेपर जो अनुकम्पन होता है, दयालुचित्त होता है, उस दु:खकी वेदना होने लगती है वह कहलाती है अनुकम्पा । अनुकम्पा शब्द एक है और वह दोनोमे लगना है, भूतोमे अनुकम्पा और व्रती जनोमे अनुकम्पा । सो पहले भूत और व्रती इन दो शब्दोका द्वद्व समास किया गया है । 'भूतानि च व्रतिनः च इति भूत व्रतिन.' फिर इसमे तत्पुरुष समास किया गया । 'भूतव्रतिषु अनुकम्पा भूतव्रत्यानुकम्पा' । प्राणी और वृतियोमे अनुकम्पा होना ।

(६०) दान व सरागसंयमकी सद्वेद्यास्रवहेतुता—(३) तीसरा कारण बतला रहे हैं दान । दूसरेपर अनुग्रह बुद्धि होनेसे अपने वस्तुका त्याग करना दान कहलाता है । जैसे किसी प्राणीपर दया आयी अथवा किसी व्रतीपर भक्ति उमडी तो उनकी सेवाके लिए अपने धनका परित्याग करना यह दान कहलाता है । (४) चौथा कारण बतला रहे हैं सरागसंयम । सरागका अर्थ है रागसहित । पहले उपार्जित किए गए कर्मके उदयसे ऐसा सस्कार बना है, अभिप्राय बना है कि कषायका निवारण नही हो सकता । फिर भी जो कषाय निवारणके लिए तैयार है ऐसा पुरुष सराग कहलाता है । यद्यपि सराग शब्दका सीधा अर्थ है रागसहित, किन्तु इसके साथ संयम लगा होनेसे यह अर्थ ध्वनित हुआ कि यद्यपि रागका निवारण नही किया जा सकता फिर भी रागनिवारणके लिए जिसका लक्ष्य बना है, राग दूर करना चाहता है उसे कहते हैं सराग और सयमका अर्थ है प्राणियोकी रक्षा करना या इन्द्रिय विषयोमे प्रवृत्ति न होने देना

यह है संयम। भले प्रकार आत्मामे नियंत्रण करनेको संयम कहते है। सो सराग पुरुषके सयम को सराग संयम कहते है अथवा राग सहित संयमको सराग संयम कहते है।

**( ६१ ) आदि शब्दसे गृहीत अकामनिर्जरा संयमासंयम व बालतपकी सद्वेद्यास्रव-हेतुता**—सरागसयमके बाद आदि शब्द दिया है अर्थात् आदि लगाकर अन्य भी ऐसी ही ब त सातावेदनीयके आश्रवका कारण होती है यह जानना। तो उस आदि शब्दसे क्या-क्या ग्रहण करना, उनमेसे कुछका नाम बतलाते है कि जैसे (५) अकामनिर्जरा—जीव स्वयं नही चाह रहा कि मैं ऐसा तप करूँ या ऐसा उपसर्ग अपनेपर लूँ या दु:खका परिणाम बनाऊँ, फिर भी किसी परतन्त्रताके कारण उपभोगका निरोध होना, ऐसी स्थिति आ जाय तो शान्तिसे सह लेना अर्थात् कोई उपद्रव आ जाय, भूखा रहना पड़े, गर्मी सहनी पडे, कही पहुंच रहे, कुछ चाहते भी नही हैं ऐसा क्लेश, पर अगर आ गया है तो उसे शान्तिसे सह लेना यह कहलाती है अकामनिर्जरा। (६) एक है संयमासंयम। कुछ निवृत्ति होना, सर्वथा पापसे तो निवृत्ति नही है, पर एक देश पापसे हट जाना संयमासयम कहलाता है। ये सब सातावेदनीयके आश्रव के कारण होते हैं। (७) एक है बालतप—मिथ्यादृष्टि जीवोके जो तप है, जैसे अग्निप्रवेश, पचाग्नि तप, यह बालतप कहलाता है। ये भी सातावेदनीयके आश्रवके कारण है, मगर हैं ये निकृष्ट कारणभूत। विशिष्ट सातावेदनीयका आश्रव नही है साधारणरूपसे, क्योंकि उनके अज्ञान छाया है, जानकर समझकर विवेकपूर्वक कोई प्रवृत्ति नही है, लेकिन धर्म नामकी श्रद्धा है, मै धर्मके लिए कर रहा हू, ऐसी स्थितिमे उन मिथ्यादृष्टि जनोका जो तपश्चरण आदिक है वह बालतप कहलाता है।

**(६२) योग क्षान्ति व शौचभावकी सद्वेद्यास्रवहेतुता**— (८) योग—निर्दोष क्रिया करनेका नाम योग है। अर्थात् पूर्व उपयोगसे जुट जाना, दूषणसे हट जाना। इसके अति-रिक्त (९) क्षमाभाव भी सातावेदनीयके आश्रवका कारण है। शुभ परिणामसे क्रोधादिक हटा देना क्षमा कहलाता है। इस क्षमासे सातावेदनीयका आश्रव होता जिसके कारण आगे इन कर्मोंका उदय होने पर इस जीवको साता मिलेगी। (१०) एक कारण है शौच, पवि-त्रता—लोभके प्रकारोसे अलग हो जाना शौच है, जिस लोभके मुख्य तीन प्रकार हैं—अपने द्रव्यका त्याग न कर सकना, दूसरेके द्रव्यका हरण कर लेना, और किसी की धरोहरको हड़प जाना और भी अनेक प्रकार हैं। पर एक व्यवहारमे लोभीजनोकी जैसी वृत्ति होती है, उसके अनुसार कह रहे है। एक तो ऐसे लोभी होते जो स्वद्रव्यका त्याग नही कर सकते, धन खर्च नही कर सकते, एक ऐसे लोभी होते हैं कि जो दूसरेके द्रव्यका भी हरण करना चाहते हैं व करते हैं, और एक ऐसे लोभी कि जिनके पास कोई अपनी चीज रख

जाय तो उसको हड़पना चाहते और हड़प लेते है। इस प्रकार लोभका परित्याग करना शौच भाव है। ऐसी वृत्ति अर्थात् ऐसे ऐसे अन्य भाव भी साता वेदनीयके आश्रवके कारण हैं।

(६३) **सूत्रोक्त सब परिणामोका समास करके एक पद न करनेका कारण एवंविध अन्य भावोंका संग्रहण**—इस सूत्रमे बात दो ही तो कही गई है कि ऐसी ऐसी बातें साता-वेदनीय आस्रवके कारण हैं। तो केवल दो ही पद होने चाहिएँ थे सो उस एक पदको जिसमे सारी घटनायें बतायी है आस्रवके कारणभूत उनके लिए तीन पद किए गए हैं और फिर इति शब्द भी लगाया है। उनका समास क्यो नही किया गया, समास कर देते तो सूत्रमे लघुता आ जाती। यहाँ एक ऐसी शङ्का होती है। उसका उत्तर यह है कि अलग अलग कुछ पद यो लगाये कि ऐसे अन्य भाव भी संग्रहीत कर लिए जायें मायने इतने भाव तो सूत्र मे बताये है पर ऐसे ही अन्य भाव हैं जो सातावेदनीयके आस्रवके कारण होते हैं, और इसी प्रकार यह भी प्रश्न हो सकता कि इति शब्द लिखना भी व्यर्थ है। तो एक तो समास न करके अलग-अलग लिखा और एक इति शब्द लिखा तो यह कुछ अनर्थक सा होकर सार्थ-कताको घोषित करता है। अर्थात् अन्यका भी संग्रह करना। वह अन्य क्या क्या है जिसका यहां सग्रह किया जाना चाहिए। तो सुनो—अरहंत प्रभुकी पूजा, यह परिणाम साता वेद-नीयके आस्रवका कारण है। वयोवृद्ध तपस्वीजनोकी सेवा यह परिणाम साता वेदनीयके आस्रवका कारण है। छल कपट न होना, सरलता बनी रहना, किसीको लोधा पट्टीकी बात न कहना ऐसी स्वच्छता साता वेदनीयके आस्रवका कारणभूत है। ऐसे ही विनयसम्पन्नता पर जीवोका आदर करना सबके लिए विनयशील रहना यह भी साता वेदनीयके आस्रवका का कारण है।

(६४) **नित्यत्व या अनित्यत्वके एकान्तमे परिणामोंकी अनुपपत्ति**—यहाँ एक दार्श-निक बात समझना कि जीवको जो लोग सर्वथा नित्य मानते हैं, उनके ये बातें घटित नही हो सकती याने दया करना, दान करना, संयम पालना आदिक बातें जीवको सर्वथा नित्य मानने वालेमे घटित नही हो सकती और आत्मासे सर्वथा भिन्न, क्षणिक माननेमे भी ये सब घटित नही हो सकते। जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य है पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। ऐसा जीवका स्व-भाव है। बना रहता है और परिणमता रहता है। तो ऐसे जीवके अनुकपा आदिक परिणाम विशेष होते हैं। पर केवल नित्य हो तो परिणति ही नही, दया आदिक कहाँसे हो सकें? एक अनित्य हो। एक समयको ही आत्मा है फिर नही है तो वहाँ करुणा, दान आदिक कैसे सम्भव हो सकते? सर्वथा नित्य मानने वालोके यहाँ तो विकार माना ही नही गया, उनमे कुछ बदल परिणमन जब नही माना गया तो दया आदिक कैसे हो सकते? और यदि

दया आदिक मान लिये जायें तो वे सर्वथा नित्य कहाँ रहे ? इसी तरह जो क्षणिक एकान्त का सिद्धान्त मानते हैं तो उनका ज्ञान तो क्षणिक रहा और दया आदिक तब ही बनते जब पहली और उत्तर पर्यायका घटनाका ग्रहण किया जाय। सो यह बात क्षणिकमें कैसे बनेगी सो अनुकम्पा भी नही बन सकती। इससे जीव नित्यानित्यात्मक है तब ही तो वहां अनुकम्पा आदिकके परिणाम बनते है। इस प्रकार सातावेदनीयके आश्रवके कारण बताये। अब इसके अनन्तर मोहनीयकर्मका नबर है जैसा कि सूत्रमे ही क्रम दिया जायगा। सो मोहनीयके दो भेद हैं—१- दर्शनमोहनीय और २- चारित्रमोहनीय जो आत्माके सम्यक्त्वगुणको प्रकट न होने दे वह है दर्शनमोहनीय और जो आत्मामें चारित्रगुणको न प्रकट कर सके सो है चारित्रमोहनीय। तो उसमे दर्शनमोहनीयके आश्रवके कारण बताये जा रहे है।

## केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥६—१३॥

(६५) प्रभु श्रुत मुनि धर्म व सुरके अवर्णवादमे दर्शनमोहके आस्रवकी हेतुता—केवली भगवानका अवर्णवाद, श्रुत याने शास्त्र आगमका अवर्णवाद, संघ अर्थात् मुनिजनोका अवर्णवाद, धर्मका अवर्णवाद, देवका अवर्णवाद, ये दर्शनमोहनीयके आश्रवके कारण होते है। अवर्णवादका अर्थ है कि जैसा स्वरूप है वैसा न वाद अर्थात् न कहना उल्टा कहना सो यह है अवर्णवाद। केवली भगवान किसका नाम है ? जो इन्द्रियके क्रम और व्यवधानका उल्लंघन कर ज्ञानसे सहित है वह केवली प्रभु हैं याने चक्षु आदिक हुए करण और कुछ काल जाने, कुछ काल न जाने या बाहरी भीत आदिकसे आवरण हटना यह कहलाता है व्यवधान तो इन्द्रियसे जाननेका क्रम भी नही है जहाँ और किसी चीजकी आड़ भी नही है जहाँ, ऐसा जो स्वाभाविक ज्ञान है जो ज्ञानावरणके पूर्ण नष्ट होने पर प्रकट होता है। ऐसा जो स्वाभाविक ज्ञान है वह जिनके पाया जाय उन्हे कहते हैं अरहत भगवान। श्रुत किसे कहते है ? उन अरहंत भगवन्तोके द्वारा उपदेश किए गए जो वचन हैं वे श्रुत कहलाते है। राग द्वेष मोहसे जो दूर हो गए उनके द्वारा कहे हुए वचन ही आगम हैं। जो रागद्वेष मोहमे दूर नही हैं उनके वचन कैसे पूर्ण सत्य हो सकते ? मूलभूत कैसे हो सकते कि जिसके आधार पर सर्व जिनागमके वचनोका स्पष्ट भाव लाया जा सकता। तो रागद्वेष मोहसे रहित प्रभुके द्वारा उपदिष्ट आगम श्रुत कहलाता है और उस श्रुतको धारण किसने किया ? उसे धारण किया है गणधरोने। उसका अर्थ मनमे ठीक समझा है तो बुद्धि ऋद्धि रखने वाले गणधर देवो का वह श्रुत कहलाता है। संघ क्या कहलाता है ? सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रसे युक्त चारो प्रकारके मुनियोका जो समुदाय है वह संघ कहलाता है। यहाँ एक जिज्ञासा हो सकती है कि तब फिर एक ही मुनि हो तो उसका नाम छूट गया, संघमे वह तो न आ

पाया, सो ऐसी शङ्का यो न करना कि एक भी मुनि हो वह भी सघ कहलाता है, क्योंकि अनेक व्रत गुणोका सघ यहाँ पाया जाता है। धर्म क्या कहलाता है ? अहिंसाभाव जो जिनागममे कहा है वह धर्म कहलाता है और देव कहलाते हैं देवगतिके जीव इन सबका अवर्णवाद करना अर्थात् निन्दा करना ये दर्शन मोहनीय कर्मके आश्रवके कारण हैं जिससे कि आगे सम्यक्त्वमे बाधा आती रहेगी।

(६६) अज्ञानियो द्वारा केवली आदिके विषयमें किये जाने वाले अवर्णवादोंका चित्रण— अवर्णवादका भाव है। जो गुणवान पुरुष हैं, महान संत है उनमे अपनी बुद्धिकी मलिनताके कारण न भी कोई दोष हो उनमे तो भी उन दोषोका कहना इसे अवर्णवाद कहते हैं। तो केवली आदिकके विषयमे अवर्णवाद करना दर्शनमोहनीयके आश्रवका कारण है। केवली भगवानका अवर्णवाद अज्ञानीजन किस प्रकार करते हैं ? ये केवली भोजन करके जिन्दा रहते हैं, हम लोंगो जैसा पिण्डका आहार करके ही जीवित रहा करते हैं, कम्बल आदिक धारण करते हैं, तूमड़ीका पात्र रखते हैं, केवली प्रभुके भी ज्ञान और दर्शन क्रमसे होते हैं, आदिक अवर्ण अस्वरूप बोलना यह केवलीका अवर्णवाद है। आगमका अवर्णवाद क्या है ? यह बताना कि शास्त्रोमे, आगममे भी मद्य मासका भक्षण लिखा है, शरावका पीना बताया है। कोई पुरुष कामसे पीडित हो तो उसे प्रेमदान देना बताया है। रात्रिभोजन आदिकमे कुछ दोष नही है, इस प्रकार शास्त्रका नाम लेकर कहना यह श्रुतका अवर्णवाद है। संघका अवर्णवाद— ये मुनि श्रमण अपवित्र हैं, शूद्र है, स्नान न करनेसे ये मलिन शरीर वाले हैं, दिगम्बर हैं, निर्लज्ज हैं, ये इस लोकमे ही दु खी हैं, परलोक भी इनका नष्ट है आदि रूपसे मुनि जनोकी निन्दा करना, उन्हे अस्वरूप कहना यह सघका अवर्णवाद है। धर्मका अवर्णवाद—जिनेन्द्रभगवानने जो धर्म बताया है वह निर्गुण है, उसमे कुछ महत्त्व नही है, इस धर्मके धारण करने वाले मरकर असुर होते हैं आदिक रूपसे धर्मका अवर्णवाद करना यह दर्शनमोहनीयके आश्रवका कारण है। देवोका अवर्णवाद— देवगतिके जीवोके लिए बताना कि ये मद्य मासका सेवन करते हैं, ये अहिल्या आदिकमे आसक्त हुए थे आदिक रूपसे देवोका खोटा स्वरूप कहना यह देवोका अवर्णवाद है। ऐसे ही ये सब अवर्णवाद दर्शनमोहनीयके आश्रवके कारण होते हैं। अब चारित्र मोहनीयके आश्रवके कारण क्या क्या हैं, यह बतलाते हैं—

## कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ ६-१४ ॥

(६७) चारित्रमोहके आस्रवके कारणोका दिग्दर्शन—कषायके उदयसे तीव्र बुरे परिणाम होना चारित्रमोहनीयके आश्रवके कारण हैं। जो कषायकर्म पहले बांध रखे थे उनके द्रव्य, क्षेत्र आदिकका निमित्त पाकर उदय होता है वह फल दे लेता है, इसका नाम है उदय।

सो ऐसे कषायोंके तीव्र उदयसे जो संक्लेश परिणाम होते है उनसे ऐसे कर्मोंका आश्रव होता, बंध होता कि जिसके उदयमे आगे भी चारित्रहीन दुःखी रहता है। अब कुछ चारित्रमोहनीय के अलग-अलग विशेषोके कारण बताते है, चारित्रमोहनीय दो रूपोमे बँटा हुआ है—१-कषायमोहनीय और २-नोकषायमोहनीय। फिर नोकषायमोहनीय हास्य रति आदिक अनेक रूपों मे बँटे हैं। तो पहले कषायमोहनीय आश्रवके कुछ कारण विशेष बतलाते है।

( ६८ ) **कषायमोहनीय नामक चारित्रमोहनीयकर्मके आस्रवके कारणोंका संक्षिप्त प्रपञ्च**—जो तपस्वी जगतका उपकार करने वाले हैं, उत्तम शीलव्रतका पालन करते हैं उन तपस्वियोकी निन्दा करना चारित्रमोहके आश्रवका हेतु है। धर्मका ध्वंस करना, कोई धार्मिक प्रोग्राम होते हों उनको बिगाडना अथवा अपना परिणाम ऐसा कायर और क्रूर करना कि जिससे आत्मधर्मका घात होता हो, ऐसे कार्योंसे कषाय मोहनीयका आश्रव होता है। धार्मिक कार्योंमे अन्तराय डालना, दूसरोकी धर्मसाधनामे अंतराय डालना, सामूहिक धार्मिक कार्योंमे विघ्न करना, अपने आपमे धर्मपरिणाम होनेके प्रति प्रमाद रखना याने अपने धर्मका भी अंतराय करना, इसमें कषाय प्रवृत्तियोका आश्रव होता है। कोई पुरुष शील गुणवान हो, देशसंयमी हो, महाव्रतका पालन करने वाला हो तो उसको ऐसे वचन बोलना, उसके प्रति ऐसा परिणाम बनाना कि वह अपने सयमसे च्युत हो जाय तो यह क्रिया कषाय प्रकृतियोंका आश्रव करती है। जो जीव मद्य मांस आदिकके त्यागी हैं उनको ऐसे वचन कहना, ऐसा ही वातावरण बनाना कि वे अपने सकल्पसे हट जायें, धिचक जायें, अपने नियममे ढील करने लगें, ऐसी कोशिश वाले परिणामोसे कषाय प्रकृतियोका आश्रव होता है। कोई पुरुष निर्दोष चारित्र वाला है तो भी उसमे दूषण लगाना, उनके दोषोको प्रकट करना ये कषायप्रकृतियोका आश्रव करते हैं। स्वयं ऐसे भेषोको धारण करे, जो सक्लेशको उत्पन्न कराये तो यह क्रिया, ऐसे परिणाम कषायप्रकृतियोका आश्रव करते है। खुद कषाय करना, दूसरेमें कषाय उत्पन्न कराना, ऐसा कषायके जागरणका जितना परिणाम है, व्यवहार है वह सब कषायप्रकृतियों का आश्रव कराता है।

(६९) **हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा नोकषायमोहनीयनामक चारित्रमोहनीय कर्मके आस्रवोंके कारणोंका प्रयत्न**—अब हास्य वेदनीय नामक नोकषायकर्मप्रकृतियोके आश्रवके हेतु सुनो—किसीका विशेष मजाक करना, दिल्लगी करना, जिससे वह दुःखी होवे और यह खुद उसका मौज लेवे तो ऐसे उत्प्रहाससे हास्य प्रकृतिका आश्रव होता है। हीनता पूर्वक हँसना या कामविकारपूर्वक हँसना, इस प्रकारकी, बनावटी, विकृत हँसीका भाव हास्य प्रकृतिका आश्रव करता है। बहुत बोलना जिस प्रलापसे स्वयंका सामर्थ्य भी बिगड़े, दूसरोको

भी बुरा लगे, अट्ट सट्ट वचन भी निकल जायें ऐसा प्रलाप करना, जिसकी चाहे हँसी मजाक करना, ऐसी चेष्टायें, ऐसे परिणाम हास्य प्रकृतिका आश्रव करते हैं। नाना प्रकारके परके साथ क्रीडा करना, दूसरेके चित्तको अपनी ओर आकर्षित करना, ऐसे कार्योंमें रति प्रकृतिका आश्रव होता है, दूसरेको अप्रेम, द्वेष उत्पन्न कराना, प्रीतिका विनाश करना, पापशील पुरुषो का ससर्ग करना, खोटी क्रियावोमे, पाप व्यसन आदिकको उत्साह दिलाना, उत्साह रखना, ऐसे भावोसे अरतिप्रकृतिका आश्रव होता है स्वयं शोक करना, प्रीतिके लिए दूसरेका शोक करना, दूसरे पुरुषोको दुःख उत्पन्न कराना, जो शोकसे व्याप्त हो उसे देखकर खुश होना, इस भावसे शोक प्रकृतिका आश्रव होता है, जिसके उदयमे इस जीवको स्वय अनेक शोक उत्पन्न होने लगते हैं। खुद भयभीत रहना, दूसरोको भय उत्पन्न करना, निर्दयताके परिणाम रखना, दूसरेको त्रास देना, ऐसे परिणामोसे भय प्रकृतिका आश्रव होता है, जिसके उदयमे स्वयं यह बहुत भयशील रहेगा। जो धर्मात्मा पुरुष हैं, जो उत्तम लोग हैं उनकी क्रियावोमे, कुलमे, आचरणमे ग्लानि करना। ऐसा आचरण करने वाले पुरुषोसे घृणा करना यह जुगुप्सा प्रकृतिके आश्रव कराने वाला भाव है। जुगुप्साकी प्रकृति रखने वाले पुरुष दूसरे की बदनामी करनेकी प्रकृति वाले हो जाते हैं और यही एक घृणाकी बात है। तो ऐसे पाप परिणाम वाले पुरुष जुगुप्सा प्रकृतिका आश्रव करते हैं।

**(७०) स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद नोकषायमोहनीय नामक चारित्र मोहनीयकर्मके आस्रवके कारणोंका प्रपञ्च**—अब स्त्रीवेदके आश्रवके कारण कहते हैं, अत्यन्त क्रोधके परिणाम होना, बहुल अधिक भीतर घमड रहना, दूसरोसे बहुत बडी ईर्ष्यायें रखना मिथ्या वचन बोलते रहना, छल कपट करना, जालसाजी छल कपटमे प्रपचमे अपना दिल बनाये रहना, बहुत तीव्र राग करना, दूसरेकी स्त्रीके साथ काम सेवन करना, स्त्री जैसे परिणामोमें प्रीति रखना, ऐसे भाव स्त्रीवेद प्रकृतिका आस्रव करते हैं, जिसके उदयमे वे जीव भी स्वय ऐसा ही आचरण करने लगते हैं जैसे ईर्ष्या करना, मिथ्यावचन बोलना, घमड होना, क्रोधविशेष आने लगना, ऐसा दुःख पाते हैं और स्त्री पर्याय मिलती है। पुरुषवेदके आश्रवके कारण हैं साधारण क्रोध होना, मायाचारी न होना, घमंड न होना, लोभरहित वृत्ति होना, अल्पज्ञान होना, अपनी स्त्रीमे ही संतोष होना, ईर्ष्या न होना, स्नान आभरण आदिकके प्रति आदर न होना, ऐसी चेष्टायें, ऐसा परिणाम पुरुषवेद प्रकृतिका आश्रव कराता है। अब नपुसकवेद के आश्रवके हेतु बतलाते हैं तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ होना, गुप्त इन्द्रियका विनाश करना, जैसे इन्द्रियका आपरेशन, बैल आदिकका बधिया करना, स्त्री पुरुषोकी अनग क्रीडा का विनाश करना, जिन अगोसे क्रीडा न की जाय उनसे भी तीव्र क्रीडा करनेकी आदत

बनाना। शीलव्रतधारी पुरुषोंको विचकाना उत्साहहीन करना, दीक्षाधारी पुरुषोंको बिचकाना, उनका उत्साह भंग करना, दूसरेकी स्त्रीपर आक्रमण करना, तीव्र प्रीति होना, आचरणहीन हो जाना, ये सब परिणाम नपुंसकवेदका आश्रव कराते है। अब मोहनीय कर्मके आश्रवोके हेतुवोंको बताकर क्रम प्राप्त आयुकर्मका वर्णन करेंगे, जिसमें सर्वप्रथम नरक आयुके आश्रवका कारण बतलाते हैं।

## बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ ६—१५ ॥

**(७१) नरकायुके आस्रवोंके कारणोंका दिग्दर्शन**—बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखना नरकायुके आश्रवका कारण है, यहाँ बहु शब्दका प्रयोग सख्या अर्थमे भी होता है और विपुलता अर्थमे भी होता है। बहु शब्द अनेक जगह संख्याके विषयमे भी प्रयुक्त होता है। जैसे—एक, दो, बहुत, और बहु शब्द विपुल परिमाणमे भी आया करते है, जैसे बहुत भात, बहुत दाल आदिको तो यहाँ दोनों प्रकारके "बहु" का ग्रहण है अर्थात् विशाल, विपुल, आरम्भ होना और अनेक आरम्भ होना नरकायुके आश्रवका कारण है। इसी प्रकार बहुत व विपुल परिग्रह होना। आरम्भका अर्थ है हिंसा वाला कार्य जो हिंसाकी प्रकृति रखता है उसे हिंस्र कहते है और उसके कामको हैन्स्र अर्थात् आरम्भ कहते है। बहुत आरम्भ जिसके हो वह पुरुष नरकायुका आश्रव करता है। परिग्रहका अर्थ है यह वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हू, इस प्रकारका परिणामका अभिमानका सकल्प होना परिग्रह है। बहुत आरम्भ बहुत परिग्रह जिसके होता है उसका यह परिणाम नरकायुका आश्रव कराता है। इस परिणामको कुछ विशेष स्पष्ट करते है और जो कुछ ऐसे ही अन्य परिणाम हैं उनको भी बताते है।

**( ७२ ) नरकायुके आस्रवके कारणोंका सक्षिप्त प्रपञ्च**—मिथ्यादर्शनका परिणाम नरकायुका आश्रव कराता है। जहाँ स्वपरका यथार्थ बोध नही है, परपदार्थोंसे अपना स्वरूप समझते हैं, अपने प्राण समझते हैं, ऐसे अज्ञान अँधेरे वाले पुरुष नरकायुका आश्रव करते है। अशिष्ट आचरण जो असभ्य आचरण है, जो लोक व्यवहारमे उचित नही है ऐसी प्रक्रिया करना, बहुत अधिक मान रखना, पत्थरकी रेखाके समान क्रोध भाव करना, जैसे पत्थरकी रेखा अनेको वर्षों तक नही मिटती ऐसे ही जिसका क्रोध अनेको वर्षों तक न मिटे, उसकी वासना बनी रहे, ऐसा क्रोध, तीव्र लोभका परिणाम, दयारहित परिणाम, क्रूरता ये सब परिणाम नरकायुका आश्रव कराते हैं। दूसरे दुःखी हो तो उसमे खुश होना, दूसरोके परिताप आदिमे खुश होना, जैसे अनेक लोग मनुष्योको तगाते है या चूहा पक्षी आदिको बांधकर उनको सतानेमे खुश होते हैं ये सब नरकायुका आश्रव कराने वाले भाव हैं। दूसरेको मारनेका अभि-

प्राय करना, जीवोको सतत हिंसा करना, झूठ बोलनेकी प्रकृति रखना, दूसरेका धन हरण कर लेना, छुपे-छुपे राग भरी चेष्टायें करना, मैथुन विषयोमे प्रवृत्ति रखना ऐसे ये परिणाम नरकायुका आश्रव कराते हैं। महान आरम्भ होना, इन्द्रियके आधीन बनना, काम भोगको तीव्र अभिलाषा रखना, शील स्वभाव व्रत आदिकसे रहित रहना, पापाजीविका करके भोजन करना, किसीसे बैर बांधना, क्रूरता पूर्वक रोना, चिल्लाना, ऐसी चेष्टावोके परिणाम नरकायुका आश्रव कराते है, जिससे नरकायुके उदय होनेपर नियमसे नरकगतिमे जन्म लेना पडता है और वहां सागरो पर्यन्त ठहरकर कष्ट भोगना पडता है। दयारहित स्वभाव होना, साधुसतो मे फूट पैदा कराना, तीर्थंकर गुरुजनोकी आसादना करना, उनकी मूर्तिका निरादर अथवा उनमे दोषोका लगाना, कृष्ण लेश्यारूप रौद्र परिणाम रखना, क्रूरभाव सहित मरण करना, ये सब नरकायु के आश्रव कराने वाले भाव है, अर्थात् ऐसे कार्योंसे नरकायु प्रकृतिका बध होता है और उसके उदयमे इस जीवको नारकी होना पडता है। अब तिर्यञ्चायुके आश्रवका वर्णन करते हैं।

## माया तैर्यग्योनस्य ॥ ६—१६ ॥

( ७३ ) **तिर्यगायुके आस्रवके कारणोका प्रकाशन**—चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो आत्माका कुटिल स्वभाव है, छल कपटका भाव है उसको माया बोलते हैं। यह माया छल कपट, लोगोका ठगना, तिर्यञ्चायुका आश्रव कराता है। सूत्रमे माया एक सक्षिप्त शब्द है और उससे सम्बधित कैसी कैसी क्रियायें व परिणाम बन जाते हैं उनका कुछ विस्तार करते हैं। मिथ्यादर्शन सहित अधर्मका उपदेश करना, जिसमे वस्तुस्वरूप उल्टा बताया गया अथवा रागादिकके पोषनेकी बात बतायी गई, ऐसी अधर्मवृत्तिका उपदेश करना यह परिणाम तिर्यञ्चायुका आश्रव कराता है। बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह होना, दूसरोको ठगना, खोटे कार्य करना, खोटे लेख लिखना, अनेक षड्यन्त्र बनाना, पृथ्वीकी रेखाके समान क्रोधादिक होना, ये परिणाम तिर्यञ्चायुके आश्रवके कारण है। नरकायुमे तो पत्थरकी रेखाके समान क्रोध कहा था जो सैकडो वर्षों तक न मिटे। यहां पृथ्वीकी रेखाके समान क्रोध कह रहे है, जैसे खेतमे हल चलाया जाता तो उससे जो लकीर बन जाती है वह लकीर सैकडो वर्षों तक नही रहती। साल छेह माह भी नही टिक पाती, ऐसा क्रोध होना, शीलरहित भाव होना शब्दके सकेतसे दूसरोके ठगनेका षड्यंत्र बनाना, छलप्रपच करने की रुचि होना, एक दूसरेकी फूट कराकर खुश होना, अनर्थ क्रियायें करना ये सब परिणाम तिर्यञ्चायुकर्मका आश्रव कराते है। पदार्थोंमे विकृति लानेका शौक रहना, वर्ण रस, गध आदिक एकका दूसरेमे मिलावट करना, विकृत करना, उसका शौक करना, मौज बनाना, किसी की जातिमे, कुलमे शीलमे दूषण लगाना, विवाद विसवाद करनेकी रुचि करना, दूसरेमे कैसे ही सद्गुण हो

उनका लोप करना, प्रकट न होने देना और दोषादिकके रूपमें जाहिर करना, अपनेमें कोई गुण नही है तो भी उन गुणोकी प्रसिद्धि करना। अथवा जिससे प्रीति है, अनुराग है उसमे कोई गुण न हो तो भी उसके गुण बखानना। नील लेश्या और कापोत लेश्या जैसे परिणाम होना, आर्तध्यान रखना, मरणके समयमे आर्त रौद्र परिणाम होना ये सब परिणाम तिर्यंचायु कर्मका आश्रव कराते है।

अब मनुष्यायुके आस्रवके कारण बतलाते है—

## अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥६—१७॥

(७४) **मनुष्यायुके आस्रवोंके कारणोंका वर्णन**—मनुष्यायुके आश्रवके कारण नरकायुके आश्रवके कारणोसे उल्टे है। नरकायुके आश्रवके कारण बहुत आरभ और बहुत परिग्रहपना था, यहाँ मनुष्यायुके आश्रवके कारण अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहपना बतलाया है। सकेत रूपसे कहे गए अल्पारंभ परिग्रहका कुछ विस्तार इस प्रकारसे करना, भद्र मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादृष्टि होनेपर भी भद्र परिणाम रहना, विनीत स्वभाव अर्थात् सबके प्रति, धर्मके प्रति विनयका स्वभाव रखना, प्रकृति भद्रता अर्थात् प्रकृतिसे भद्र अच्छे आशय वाला, सबके कल्याणकी भावना रखने वाला होना। मार्दव आर्जव परिणाम, परिणामोमे नम्रता और सरलताका होना, ये सब परिणाम मनुष्यायुका आश्रव कराते हैं। सुख समाचार कहनेमे रुचि होना, जैसे अनेक लोग दुःखके समाचार झट कह डालते हैं, पर मनुष्यायुका आश्रव करने वाले पुरुषको ऐसी आदत नही होती। उसे दूसरोसे भला व सुखमय समाचार कहनेका शौक होता है। रेतमे रेखाके समान क्रोधादिक होना, जैसे बालूमे, रेतमे कोई रेखा खीच दी जाय तो वह अधिक समय तक नही रहती ऐसे ही सामान्य क्रोधादिक होना ये सब मनुष्यायुके आश्रव कराने वाले परिणाम हैं। सरल व्यवहार होना, मायाचाररहित सबको विश्वास उत्पन्न कराने वाला व्यवहार होना, थोडा आरम्भ होना, उद्यम आरम्भके कार्य अति अल्प होना, थोडा परिग्रह होना, बाह्य पदार्थोमे लगाव कम होना, सतोषमे सुखी होना अर्थात् सतोष करनेकी आदत होना और उस ही मे अपनेको सुखी अनुभवना ये सब मनुष्यायुकर्मका आश्रव कराने वाले है। हिंसासे विरक्त होना, किसी जीवकी हिंसाका परिणाम न होना, खोटे कार्योसे अलग रहना, सज्जनोके, महापुरुषोके, बडोके स्वागतमे तत्पर रहना, कम बोलना, प्रकृतिसे मधुर होना, सबको प्रिय होना, उदासीन वृत्ति होना, ईर्ष्यारहित परिणाम होना, सक्लेश साधारण व अल्प रहना ये सब परिणाम मनुष्यायुके आश्रवके कारण हैं। गुरु देवता अतिथिकी पूजामे शौक होना, दान करनेका स्वभाव होना, जैसे कपोत लेश्याके परिणाम होते, पीत लेश्याके परिणाम होते, ऐसा परिणाम होना, मरण समयमे धर्मध्यानमे

प्रवृत्ति होना ये सब परिणाम मनुष्यायुका आश्रव कराते हैं।

अब मनुष्यायुके आश्रवका अन्य कारण भी कहते हैं —

## स्वभावमार्दवं च ॥ ६-१८ ॥

(७५) **मनुष्यायुके आस्रवका व्यापक कारण**— उपदेशके बिना स्वभावसे ही परिणामोमे कोमलता होना मनुष्यायुका आश्रव कराता है। इस सूत्रसे पूर्व सूत्रमे भी मनुष्यायु का आश्रव कारण बताया गया, और यहाँ भी मनुष्यायुके आश्रवमे ही सूत्र बताया है। तो ये दोनो सूत्र कहे जा सकते थे, इनको अलग क्यो बनाया गया? इस सूत्रको जो अलग रखा गया उससे एक रहस्य जाहिर होता है कि स्वभावमे मृदुता मनुष्यायुके आश्रवका कारण तो है ही पर देवायुके आश्रवका भी कारण है। तो इस सूत्रका सम्बध आगे कहे जाने वाले देवायु के आश्रव कारणोके साथ लगता है।

## निःशीलव्रतत्व च सर्वेषाम् ॥६-१६ ॥

(७६) **शीलव्रतरहित स्थितिके परिणामोके तीन व चारोमे से किसी भी आयुके आस्रवकी कारणता**—शील और व्रतसे रहितपना सभी आयुके आश्रवोका कारण है। अर्थात् शील न हो, व्रत न हो तो ऐसी स्थितिमे सभी आयुका आश्रव हो सकता है। यहाँ सभी जीवोको कहा, उससे चारो गनियोके जीव न लेना, किन्तु नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु इन तीन आयुका आश्रव होता है यह लेना, क्योकि अब तक जितनी आयु बतायी गई हैं उनका ही ग्रहण होगा। यहाँ यह एक और शका होती है कि उस सूत्रको भी योगसे क्यो कहा? तो अलगसे कहनेका अर्थ यही है कि यह तीन आयुके लिए कहा गया है। यदि आयु के आश्रवके लिए ही कहा जाता होता तो सर्वेषा शब्द न देना चाहिए था तथा सूत्र भी अलग न बनाया जाना चाहिए था। तो इस सूत्रका अर्थ तीनो आयुमे लगता है। दूसरी बात यह है कि यह सूत्र जो अलग बनाया गया सो उससे देवायुका भी ग्रहण तो किया जा सकता मगर भोगभूमिमे रहने वाले मनुष्य तिर्यंचोकी अपेक्षा अर्थ लगेगा अर्थात् भोगभूमिके तिर्यंच और मनुष्योमे शील और व्रत दोनो ही नही होते लेकिन वे देवगतिमे ही जाते हैं, तो उनके देवायुका आश्रव है यह बात दिखानेके लिए सर्वेशा शब्द ग्रहण किया गया है। अब तीन आयु के आश्रवका विधान कहनेके पश्चात् देवायुका विधान बतलाते हैं।

## सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥६-२०॥

(७७) **देवायुके आस्रवके कारणोमे सराग संयमादि मुख्य कारणोका निर्देश**— सरागसयम, सयमासयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायुके आश्रवके कारण होते हैं।

सरागसंयमका अर्थ है मुनियोंका शुभोपयोगरूप चारित्र। ज्ञानसहित संयमको सरागसंयम कहते है अथवा रागसहित जीवके संयमको सरागसंयम कहते है। अरहत आदिकमे भक्ति जगना, साधर्मी भाइयोमे प्रीति जगना, उपवास आदिकमें भावना होना ये सब शुभोपयोग कहलाते है। तो ऐसे शुभोपयोगियोके सयम सराग संयम कहलाता। तो सराग सयमका पालन देवायुके आश्रवका कारण होता है। जितने भी मुनिजन हैं वे देवायुका ही आश्रव करते हैं अर्थात् मुनिजन या तो मोक्ष जायेंगे या देवगतिमे उत्पन्न होंगे, पर सच्चा सच्चा मुनि होता है भावमुनि। मानो किसी पुरुषने पहले नरकायु, तिर्यंचायु व मनुष्यायुका बंध कर लिया तो उसके महाव्रत धारण करनेके परिणाम न होगे। जिसने देवायुका बंध किया हो या किसी भी आयुका बंध न किया हो उसके महाव्रत ग्रहण करनेके परिणाम होते है। वह महाव्रत ग्रहण करता है। तो जिसने देवायुका बंध किया और मुनि बना उसके तो निश्चित ही हो गया कि वह मरकर देवगतिमे उत्पन्न होगा, पर जिसके किसी आयुका बध न था और मुनि हो गया तो मुनि हुए बाद यदि आयुका बध होता है तो देवायुका ही बंध होता है। तो इस प्रकार सराग संयम देवायुके आश्रवका कारण है। संयमासंयम—श्रावकके व्रतों को संयमासयम कहते है। ऐसा व्रत परिणाम कि जहाँ कुछ संयम है और कुछ असंयम है। वह सयमासयम है। संयमासंयमका भी यही नियम है। जिस मनुष्य या तिर्यंचने पहले देवायुका बध किया हो उसके या जिसने किसी भी आयुका बंध न किया हो उसके संयमासंयम होता है और जिस किसीके सयमासंयम हो गया और किसी भी आयुका बंध नही किया तो अब आयुका बध होगा ही तो वह देवायुका ही बध होगा। तो इस प्रकार संयमासयम भी देवायुके आश्रवका कारण है। अकामनिर्जरा कोई दुःख उपस्थित होने पर उसे समतासे सहना सो अकाम निर्जरा है। यह अकामनिर्जरा– देवायुके आश्रवका कारण है। बालतप— अज्ञान अवस्थामे धार्मिक बुद्धि करके पचाग्नि आदिक अनेक प्रकारके जो तपश्चरण किए जाते हैं वे बाल तप कहलाते है। देवायुके आश्रवके ये कारण सामान्यरूपसे कहे गए है।

## ( ७८ ) सौधर्माद्यायुके आस्रवके कारणोंका प्रपञ्च—

कुछ विशेष रूपसे इस प्रकार समझना कि सौधर्म आदिक स्वर्गकी आयुके आश्रवरूप परिणाम ये हैं। कल्याण चाहने वाले मित्रोका साथ रखना, ऐसे मित्रोका सघ बनाना जो सब कल्याणकी इच्छा रखने वाले हो। आयतन सेवा जो धर्मके स्थान हैं मंदिर, गुरुसेवा, साधर्मी बन्धु व्रती पुरुष इनकी सेवा करना आयतनसेवा है। उत्कृष्ट धर्मका श्रवण करना। जो उपाय दुःखसे हटाकर सुखमे पहुंचाये वह सद्धर्म है। जो वस्तुमे स्वभाव है वह उस वस्तुका धर्म है। आत्माका स्वभाव ज्ञानरूप है। उसकी दृष्टि करना, उसका आश्रय लेना सो सद्-

धर्म है। सद्धर्मकी वार्ता सुनना सद्धर्म श्रवण है। ये सब सौधर्मादिक स्वर्गके आयुके आश्रव हैं अर्थात् देवायु तो बँधती है पर उनमें भी सौधर्म आदिक स्वर्गोंमें उत्पन्न हो उतनी आयु बँधती है। स्वगौरव दर्शन—अपने आत्माका गौरव निरखना, अभिमान नही किन्तु गौरव, अभिमानमे तो दूसरेके प्रति तुच्छताका परिणाम होता है, पर गौरवमे दूसरेके प्रति तुच्छता का भाव नहीं हैं किन्तु अपने गुणोपर गौरव है। और उस आत्माके सहज गुण हैं कारण समयसाररूप उनका आश्रय तो मोक्षमार्ग ही कहलाता है। निर्दोष प्रोषधोपवासता—उपवास प्रोषध पूर्वक उपवास यह निरतिचार चलता है। ऐसा परिणाम रहना, तपकी भावना, अनशन आदिक तप करे और प्रसन्न होकर करे और तपश्चरण करनेकी भावना रहे सो तपभावना है। बहुश्रुतपना—आगमका खूब अभ्यास होना, तत्त्वोंकी जानकारी होना बहुश्रुतपना है। आगमपरता—आत्माका ज्ञान और आगममे बताये हुए तत्त्वोका चिन्तन मनन उस ही मे उपयोग रखना आगमपरता है। कषायनिग्रह—क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायोको वश करना। कदाचित् कषायें आयें तो ज्ञानके बलसे उन्हे तोड देना सो कषायनिग्रह है। ये सब परिणाम सौधर्म आदिक स्वर्गके आयुके आश्रवके कारण हैं। पात्रदान—रत्नत्रयके धारी दिगम्बर मुनि उत्तम पात्र कहलाते हैं। भक्तिपूर्वक सुपात्रदान करना, सेवा करना पात्रदान है, पीत और पद्मलेश्याके परिणाम होना, जो धर्मसे सम्बन्ध रखता है, समता परिणाममे बढता है वे सब परिणाम सौधर्मादिक स्वर्गकी आयुके आश्रव है। मरण समयमे समाधिमरण, धर्म ध्यानकी प्रवृत्ति आत्मभावना और भी धर्मभावना, तीर्थक्षेत्रका स्मरण तीर्थंकरोका स्मरण परमात्माका स्मरण, आत्मस्वरूपका स्मरण यो मरणके समय धर्मध्यानरूप प्रवृत्ति रहे वे सौधर्मादिक स्वर्गकी आयुके आश्रव हैं।

(७९) **भवनाद्यायुके आस्रवके कारण**—कुछ परिणाम भवनवासी आदिकके आश्रव करने वाले हैं। जैसे अव्यक्त समायिक करना, पर उसमे भी कुछ भी बोलचाल या अन्य क्रिया जिससे कि वह सामायिक व्यक्त नही होती ऐसा परिणाम, और सम्यग्दर्शनकी विराधना सम्यक्त्व है। पर उसका घात हो जाय, सम्यक्त्व मिटने लगे ऐसा परिणाम भवनवासी आदिकके आयुके आश्रवके कारण है।

(८०) **विभिन्न स्वर्गादिकोंकी आयुके आस्रवके कारणोंका प्रपञ्च**—कुछ परिणाम प्रथम स्वर्गसे लेकर अच्युतस्वर्ग अर्थात् १६ वें स्वर्ग तकके देवोमे उत्पन्न हो, ऐसे देवायुके आश्रव के कारण बनते हैं। जैसे पंचअणुव्रतका धारण करना, ऐसा सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च होना या मनुष्य होना जो पञ्च अणुव्रतका धारण करे तो उसका प्रथम स्वर्गसे लेकर १६ वें स्वर्ग पर्यन्त तक के देवोमें उत्पन्न होने लायक देवायुका आश्रव होता है। हाँ उन जीवोके जो अणुव्रत धारक

हैं, सम्यग्दर्शनकी विराधना हो जाय, सम्यक्त्व नष्ट हो जाय, मिथ्यात्वमें आये तो स्वर्गोंमे न जाकर भवनवासी आदिकमें उत्पन्न होता है। कुछ ऐसे सन्यासीजन जिन्होने घर छोड रखा, जो जंगलमे रहते है, पर बाल तप तपा करते हैं, तत्त्वज्ञानसे रहित हैं, अज्ञानी हैं, पर मंद-कषाय हैं, उस मंद कषायके कारण अनेक बाल तप तपने वाले सन्यासीजन भवनवासीसे लेकर १२ वें स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। उनके उस प्रकारके देवायुका आश्रव हो हीं, यहाँ यह नियम नही है कि वह देवमे ही जाय। कोई मरकर मनुष्य भी होते, तिर्यञ्च भी हो जाते, पर देवायु बँधे तो उस प्रकार बँधे यह बात यहाँ बतायी जा रही है। इन्ही कारणो जैसे कुछ कारण हैं जिनसे देवायु न बँधकर मनुष्य, तिर्यञ्च और व्यन्तरो मे उत्पन्न हो लेते हैं।

(८१) व्यन्तरों सम्बन्धित आयुके आस्रवोंके कारण—तो व्यन्तरोंमे उत्पन्न हो सके ऐसा परिणाम, यह है अकाम निर्जरा। भूख प्यासका सहना, ब्रह्मचर्य, पृथ्वीपर सोना, मल धारण याने शरीरपर मल हो तो उसे भी न छुटाये, ऐसे परीषहोसे खेदखिन्न न होना, किन्ही मूढ गुप्त पुरुषोके बधनमे पडनेपर भी न घबडाना। बहुत कालसे बीमार चले आ रहे ऐसे रोगमे भी संक्लेश परिणाम न करना। पर्वतके शिखरसे धर्म मानकर झंझापात गिर जाना, अनशन करना, अग्निमे प्रवेश करना विष भक्षण करना, इनको ही धर्म माने और धर्म मान-कर ये किए जायें तो ऐसे सन्यासी कुतपी व्यतरोमे उत्पन्न होते है और कुछ मनुष्य तिर्यञ्चो मे भी हो सकते है। जिन पुरुषोने शील या व्रतका धारण नही किया, किन्तु दयावान हृदयके है, जलरेखाकी तरह मंद कषाय है, जैसे जलमे लाठीसे रेखा की जाय तो वह तुरन्त समाप्त हो जाती है इतनी मद कषाय है, ऐसा कोई भोगभूमिका जीव है वह देवोमे तो होगा, मगर यह शीलकी तरफ जरा भी दृष्टि न होनेसे व्यन्तर आदिकमे उत्पन्न होता है। यद्यपि भोगभूमिमे शील और व्रतका नियम किसीके नही होता, पर भावोमे अनेकोके धर्मदृष्टि रहती है। जिनके धर्मकी दृष्टि भी नही ऐसे भोगभूमिज व्यन्तर आदिकमे उत्पन्न होते है। अब आयुके आश्रवके कारणोमे एक अन्तिम सूत्र कहते है।

## सम्यक्त्वं च ॥६-२१॥

(८२) सम्यक्त्व होते संते संभावित आयुर्बन्धका विवरण—सूत्रका अर्थ है—सम्य-क्त्व भी देवायुके आश्रवका कारण है। इसका भाव यह समझना कि सम्यक्त्व तो देवायुके आश्रवका कारण नही, वह तो मोक्षका मार्गरूप है, पर सम्यक्त्वके होते सन्ते राग परिणाम के कारण, शुभानुरागके कारण आयु बंधती है तो देवायु बँधती है, इससे भी यह जानना कि यह मनुष्यकी अपेक्षा कथन चल रहा है। तिर्यञ्च भी ग्रहण कर सकते, सम्यक्त्वके होनेपर मनुष्य या तिर्यंचोमे आयु बँधती तो देवायु, मगर नारक और देवमे रहने वाले सम्यग्दृष्टिको आयु बँधती है मनुष्यायु। यहाँ पृथक् सूत्र दिया है, उससे यह ज्ञात होता कि सम्यक्त्व होने

पर जो आयु बंधेगी तो सौधर्म आदिक स्वर्गवासी देवोंके बँधेगी और इस सूत्रसे यह भी सिद्ध होता कि पहले जो सरागसंयम और संयमासयम देवायुके कारण बताये थे सो वे इन वैमानिकोंकी आयुके आश्रवके कारण हैं। सम्यक्त्व होनेपर भवनवासी आदिक देवोंमे उत्पन्न नही हो सकते हैं। अब आयुकर्मके अनन्तर नामकर्मका निर्देश है। तो नामकर्मके आश्रव कौन हैं यह जाननेके लिए चूंकि नामकर्मके दो प्रकार है—(१) अशुभ नामकर्म और (२) शुभ नामकर्म तो उनमे अशुभ नामकर्मके आश्रवकी जानकारीके लिए सूत्र कहते हैं—

## योगवक्रता विसंवादनं चाऽशुभस्य नाम्नः ॥६-२२॥

(८३) **अशुभनामकर्मके आस्रवके कारणोंका प्रतिपादन**—योगोकी कुटिलता और विसम्वाद करना ये सभी नामकर्मके आश्रवके कारण हैं। योग ३ होते हैं—काय, वचन और मन, उनकी कुटिलता परस्पर असामजस्य अर्थात् मनमे और, वचनमे और करे कुछ और तथा इनका दुष्ट रूपसे प्रवर्तन करना ये अशुभ नामकर्मका आश्रव कराते है। विसम्वाद अन्याय प्रवृत्तिको कहते हैं। कोई कुछ चाहता है उसके विरुद्ध प्रवृत्ति करने लगना वह विसम्वाद कहलाता है। विसम्वादका अर्थ प्रसिद्ध है झगडा करना। तो वास्तवमे झगडा करना अर्थ नही है, पर दूसरेके मनके विरुद्ध प्रवृत्ति जो करेगा सो उससे झगडा होगा ही। तो झगडा तो फल है और विसम्वाद कारण है। तो यो विसम्वाद करना अशुभ नामकमका आश्रव कराता है, योगवक्रतामे तो सरलतारहित उपयोग करनेकी बात थी और विसम्वादमे दूसरेके प्रति अन्य प्रकारसे प्रवर्तन करने व प्रतिपादन करनेकी बात है, यही विसम्वाद कहलाता है। यद्यपि कुछ कारण अनेक प्रकृतियोका आश्रव करते सो ठीक ही है। किस किस कर्मके लिए क्या क्या कारण चाहिए सो उन कारणोका वर्णन किया है, पर उस कारणमे ज्ञानके विषय मे आश्रव करना, नामकर्मका आश्रव करना सभी बातें बसी हुई हैं। यहाँ अशुभ नामकर्मके आश्रवमे योगवक्रता और विसम्वादको आश्रवहेतु बताया गया है।

(८४) **योगवक्रता व विसंवादनमे अन्तर**—यहाँ शकाकार कहता है कि केवल योगवक्रता ही शब्द देना चाहिए, क्योकि विसम्वादमे भी योगवक्रता ही तो है अन्यथा प्रवृत्ति करना यह ही तो योगोकी कुटिलता कहलाती है। तब विसम्वादन शब्द अलगसे न कहना चाहिए। इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि यहाँ कुछ एक नया प्रयोजन सिद्ध होता है विसम्वादन शब्द अलग देनेसे एक तथ्य ज्ञात होता है और वह क्या है कि अन्य आत्मावोमे भी विसम्वाद भावका प्रयोजन बना है। सच्ची स्वर्ग और मोक्ष वाली क्रियावोमे कोई प्रवृत्ति कर रहा हो उस अन्य पुरुषको काय, वचन, मनसे विसम्वाद कर देना, बिचका देना, ऐसा मत करें, ऐसा करें, इस प्रकार कुटिलतासे प्रवृत्ति करना विसम्वादन है और योगवक्रता—

केवल अपने आपमे योगकी कुटिलता है, वह अर्थ है तो इस प्रकार योगवक्रता और विसम्वादनमे भेद हो गया। तो जब ये सर्वथा एक न रहे तो इनका अलग प्रयोग करना उचित ही है।

(८५) **अशुभ नामकर्मके आस्रवोंके कारणोंमें मिथ्यादर्शन, पिशुनता, अस्थिरचित्तस्वभावता व कूटमानतुलाकरणका निर्देश**—इस सूत्रमें च शब्द भी दिया हुआ है जिससे अन्य कारणोंका समुच्चय कर लिया जाता है वह अन्य कारण क्या है जिससे अशुभ नामकर्म का आश्रव होता है। वह इस प्रकार है—मिथ्यादर्शन—जिनके मिथ्यादर्शनका परिणाम है उनके नामकर्म अशुभ ही आश्रवमे आयेंगे। किसी भी भावके होते हुए ७ कर्मोंका आश्रव तो होता ही है। आयुकर्मका आश्रव ८ अशोमें होता है जिनका कि कथनोके हिसाबसे अलग-अलग विधान है, पर ७ कर्मोंका तो सदैव आश्रव होता है तो वह परिणाम अमुक कर्मका किस तरह आश्रव करता अमुक कर्मका कैसे आश्रवका कारण है वह सब बताया जा रहा है। तो मिथ्यात्वका परिणाम अशुभ नामकर्मका आस्रव करता है। पिशुनता—चुगली करना, गुपचुप किसीका परिवाद करना यह सब पैसून्य कहलाता है। अब खोटे परिणाम अशुभ नामकर्मका आस्रव कराते हैं, चित्तका अस्थिर होना—ऐसी प्रकृति बन जाय कि चित्त स्थिर ही न हो सके, ऐसे समयमे जो परिणाम चलते हैं वे परिणाम अशुभनामकर्मका आस्रव करते है। झूठे बाट, तराजू आदिक रखना, व्यापारमे लेनेके समय अन्य प्रकारके बाट, देनेके समय अन्य प्रकारके बाट अथवा तराजूमे कोई अंतर डाल देना।

(८६) **अशुभ नामकर्मके आस्रवोंके कारणोंमें सुवर्णमणिरत्नाद्यनुकृति कुटिलसाक्षित्व आदिका प्रतिपादन**—कृत्रिम स्वर्ण मणि रत्न आदिक बनाना, ऊपरसे जचे कि यह सोना है, उसके भीतर तांबा पीतल है, ऊपर स्वर्णका पानी चढ़ाया है और उसे सच्चे स्वर्णके रूपमे बेचना चाह रहा है तो ऐसे ही मणि रत्न आदिक झूठे बनाना, नकली बनाना ये सब परिणाम क्रियायें नामकर्मके आश्रवका कारण भूत हैं। झूठी गवाही देना, अंगोपांगका छेदन कर देना, पदार्थोंके रस, गंध आदिकका विपरीत परिणमा देना, यन्त्र पिंजरा आदिक बनाना, जिनमे जीव फांसे जाते हैं, मायाकी बहुलता होना ये सब अशुभ नामकर्मके आश्रवके कारणभूत हैं। दूसरे पुरुषकी निन्दा करना, अपने आपकी प्रशसा करना, मिथ्या वचन बोलना, दूसरेका द्रव्य हरना, ऐसी अनर्थ क्रियायें अशुभ नामकर्मका आश्रव करती है। बहुत आरम्भ करना, आरम्भ उसे कहते हैं जिसमे हिंसा होती हो, ऐसी काय आदिककी चेष्टायें करना, महान् आरम्भ करना, महान् परिग्रह भाव रखना, बाह्य पदार्थोंमें लगाव रखना, भेषको शौकीन बनाना प्रायः लोग नाना प्रकारके भेष बनाते हैं, अनेक कमीजें है, अनेक साड़ियां हैं, अनेक ढगके

आभूषण हैं, उन्हे बदल बदलकर पहिनना और पहिनकर अपने आपमे मैं कितना अच्छा लगता हूं इस प्रकारका भाव बनाना, दूसरोंको दिखाना ये सब अशुभनामकर्मके आस्रव कराते हैं, जिसके उदयमे अशुभ शरीर अशुभ अंग इनकी प्राप्ति होगी। रूपका घमड करना। कोई गौर रूप मिल गया उसे निरखकर अभिमान करना, कठोर और असम्य वार्तायें करना, बुरे वचन बोलना और निर्दयता वाले वचन बोलना, गाली बकना, व्यर्थ बकवास करना, अधिक बोलनेकी प्रकृति रखना ये सब अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारण हैं। वशीकरण प्रयोग, दूसरे को वश करनेके लिए मन्त्र तंत्र, जादू आदिकका प्रयोग करना, कहना। सौभाग्यका उपभोग तो कुछ धन वैभव मिला, रूप मिला तो उसका उपभोग शौक शान जैसी वृत्तियो से रहना, दूसरों मे कौतूहल उत्पन्न करना, कोई बात ऐसी छेडी जिससे लोगो को जिज्ञासा बढे, उनका खेल बढे, कौतूहल बढे, ये सब अशुभ नामकर्मके आस्रव कराते है। आभूषणो मे रुचि होना, गहनों को देखकर खुश होना, मंदिरकी माला, धूप आदिक कुछ वस्तुवे चुराना, लम्बी हँसी करना, घटनामे लम्बी अथवा कालमे लम्बी या उसको लम्बी पीडा वाली हँसी करना, ईंटो का भट्टा लगाना, बनमे अग्नि जलाना, प्रतिमाके जो आयतन हैं मदिर आदिक उनको तोड देना ये सब क्रियायें अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारणभूत हैं। किसीके आश्रयका नाश कर देना जैसे चिडियोने घोसला बनाया, वे चिडिया वहाँ रहेगी, उसे आश्रय बनाया, उसमे बच्चे उत्पन्न करेंगी तो उन आश्रयोका विनाश कर देना आश्रय विनाश कहलाता है। आराम उद्यानका विनाश करना, अधिक क्रोध, मान, माया, लोभ करना, पाप कर्मोसे अपनी आजी-विका चलाना ये सब अशुभ नाम कर्मके आस्रवके कारणभूत हैं। अब शुभ नामकर्मके आस्रव के कारण कहे जाते हैं।

## तद्विपरीतं शुभस्य ॥६-२३॥

(८७) शुभनामकर्मके आस्रवोके कारण—ऊपर सूत्रमे कहे गए जो दो कारण हैं उनके विपरीत कारण बनें तो वे शुभ नाम कर्मका आस्रव करते हैं। जैसे मन, वचन, काय मे सरलता करना याने योगोमे वक्रता न होना और किसीसे विसम्वाद न करना ये शुभ नामकर्मके आस्रवके कारण हैं। यहाँ भी च शब्दका अनुवृत्ति लेना और उसका अर्थ लेना तो कुछ अन्य भी कारण हैं। जिनसे शुभ नामकर्मका आस्रव होता है। जैसे धार्मिक व्य-क्तियोके प्रति आदरभाव होना, शरीरसे, मनसे और वचनसे उनके आदर सत्कारका भाव हो तो शुभ नामकर्मका आस्रव होता है। ससारसे भीरुता होना, ससारमे राग न जगे किन्तु विरक्ति बने, ससारके दुःखोसे भयभीतता रहे, यह शुभ नामकर्मका आस्रव कराता है। धर्म कार्योमे प्रमाद न रहे, चारित्र निश्छल रहे, चारित्रमे छल, कपट, मायाचार न हो तो ये

सब अशुभ नामकर्मके आस्रवके विपरीत भाव हैं, ऐसे ही और भी अनेक शुभभाव समझना चाहिए। उनके होने पर अशुभनामकर्मके आस्रव नही रहते हैं। यहाँ तक नामकर्मके आस्रव के कारण बताये गए। इसी बीच एक जिज्ञासा होती है कि क्या शुभ नामकर्मके आस्रवकी विधि इतनी ही है या और कोई विशेषपना है? उसके उत्तरमे कहते हैं कि एक तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति है। अप्रमत्त पुण्यरूप जो अनन्त अनुपम प्रभाव वाली है और अचिन्त्य विशेष विभूतिका कारणभूत है, तीन लोक पर विजय करने वाली है ऐसी तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव होने की विधि विशेषका वर्णन करते हैं। तो यहाँ यदि ऐसा ही है तीर्थंकर प्रकृति का उच्च फलका तेज तो उसका ही आरम्भ है, तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवके क्या क्या कारण है यह इस सूत्रमे बतलाते है।

**दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमितितीर्थंकरत्वस्य ॥६-२४॥**

(८८) तीर्थंकरप्रकृतिके आस्रवके कारणोंमे दर्शनविशुद्धिभावनामें निःशंकित अंगका निर्देशन—दर्शन विशुद्धि आदिक जिन जिनके इस सूत्रमे नाम दिए गए है वे वे सब परिणाम तीर्थंकर प्रकृतिके आश्रव करनेके कारणभूत हैं। दर्शनविशुद्धि—जिनेन्द्र भगवानके द्वारा उपदेशे गए निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गकी रुचि होना, जो रुचि निशकित आदिक ८ अंगों वाली है वह रुचि दर्शनविशुद्धि कहलाती है। जिनेन्द्र भगवानने, अरहंत देवने जो निर्ग्रन्थ रूप मोक्ष मार्ग उपदेशा है उस उपदेशमे रुचि होना दर्शनविशुद्धि है। उस दर्शनविशुद्धिके ८ अंग होते हैं। (१) निशंकित (२) निकांक्षित, (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढदृष्टि (५) उपवृंहण (६) स्थितिकरण (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना। निशकित अंगमे ७ प्रकारका भय दूर हो जाता है। ७ प्रकारके भय अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवोके लगे रहते है, जैसे इहलोक भय—इस लोकमे हमारा किस तरह गुजारा होगा, हम किस तरह रह पायेंगे, उसके विषयमे भय बनाये रहना इहलोक भय है किन्तु जिन्होने आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपका अनुभव किया है उनका यह दृढ निर्णय है कि मेरा सारा लोक तो मेरा आत्मस्वरूप है उस स्वरूपमे विकार नही, विपत्ति नही, किसी परका प्रवेश नही फिर वहाँ भयकी क्या सम्भावना? स्वरूपको निरखकर ज्ञानी पुरुष निर्भय रहा करते हैं और यह निर्भयना उनका निशकित अग है। अथवा जिनेन्द्र देव द्वारा कहे हुए वाक्योमे शंका न रहना निशकित अग है।

(८९) निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपवृंहण, स्थितिकरण व वात्सल्य

अंगका निर्देशन—निःकांक्षित अंग—तीनो लोकके प्रसग लेकर उपभोगकी आकाक्षा दूर कर देना, मुझे इस लोकमे न कुछ चाहिए न परलोकमे कुछ चाहिए, समग्र आकांक्षावोको दूर कर देना और खोटे पात्रमे भी आकाक्षा न रखना जैसे कि अनेक लोग कुगुरुके प्रति आकर्पित रहते हैं और कुछ आशा भी रखते हैं, उन्हे मोक्ष मार्गका कुछ प्रयोजन नही, यदि किसीके मोक्ष मार्ग का प्रयोजन होवे तो वे विषयोकी वाञ्छा कैसे करेंगे ? तो विपय भोगोकी आकाक्षा दूर होना या कुदृष्टि कुजन्म वाले जीवोकी आकांक्षा होना। निर्विचिकित्सा शरीर आदिक अशुचि पदार्थों के अशुचि स्वभावको जानकर यह शुचि है, पवित्र है, ऐसे मिथ्या सकल्प तो निर्विचिकित्सा हैं, पर उस संकल्पको हटा देना निर्विचिकित्सा है। अरहंत भगवानके प्रयोजनमे भी यह अयुक्त है। इसमे घोर कष्ट है। यदि इतनी बात इस आगममे न लिखी होती तो सब कुछ बिल्कुल सही बैठता। इस प्रकार अशुभ भावनाका परित्याग करना सो निर्विचिकित्सा अग है। अमूढ दृष्टि अग—खोटे नय, खोटे दर्शनके अनेक मार्ग है और उन अनेक प्रकारके मार्गोमे तत्त्वकी तरफ लगने वाले उन सब मार्गोमें युक्ति न चली, युक्तिसे वे ठीक न बैठे, इस प्रकार परोक्ष-चक्षुसे निश्चय करके मोहरहित होना अमूढदृष्टि है, याने कुनयमे, कुदृष्टिमे मोह न होना, उन्हे सही न मानना यह अमूढदृष्टि अग है। उपबृंहण—उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक भावना के द्वारा आत्मामे, धर्ममे, स्वभावमे शीलमे वृद्धि करना उपबृहण अंग है। स्थितिकरण—कषाय का उदय आदिक होने पर धर्मके ध्वंस करने वाले कारण कोई आ जायें उस समय आत्मा धर्मसे च्युत न होवे उसका नाम है स्थितिकरण। वात्सल्य—रागद्वेषपर विजय पाने वाले भगवतोंने जो धर्मामृत बताया है उसमे नित्य अनुराग बना रहना वात्सल्य अग है तथा उस धर्मामृतका पान करने वाले अन्य बन्धुवोमे निश्चल प्रीति होना वात्सल्य है।

(६०) तीर्थंकरत्वास्रवहेतुवोमें दर्शनविशुद्धिमें अतिम प्रभावना अंगका निर्देशन—प्रभावना—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इन रत्नत्रयोंके प्रभावसे आत्माका प्रकट करना प्रभावना अग है। जैसे कहते है कि धर्मकी प्रभावना करना तो उसमे रत्नत्रयका प्रकाश फैले, लोगोके चित्तमे रत्नत्रयकी महिमा आये तब वह प्रभावना कहलाता। अन्यथा केवल एक खर्च आडम्बर बनाकर लोगो पर यह छाप करना कि हमारा बडा प्रभाव है, बहुत बडे धनिक है, इससे धर्मकी प्रभावनाका कुछ सम्बन्ध नही। धर्म तो रत्नत्रय है, सो रत्नत्रयकी बात दूसरोके चित्तमे बैठे तो प्रभावना है। जैसे लोगोको समझाया जाय कि आत्मा स्वय ज्ञानस्वरूप है। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी सत्ता रखता है। एकका दूसरा कुछ नही है, कि फिर ममताका कोई अवकाश ही नही, फिर आत्माका जैसा सहजस्वरूप है वह ज्ञानमे उतरे ऐसा उपाय बने-तो वह प्रभावना है। अपना खुद विशिष्ट चारित्रपालन

करके संतुष्ट रहे जिसे देखकर अन्य लोगोके चारित्रके प्रति भावना जगे तो वह प्रभावना अंग है। ऐसे ८ अंग सहित सम्यग्दर्शन होना, पर ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर जीवोके कल्याण की भावना होना दर्शनविशुद्धि भावना है।

(९१) तीर्थंकरत्वास्रवहेतुमे द्वितीय तृतीय चतुर्थ भावनाका निर्देश—तीर्थंकर प्रकृति के आश्रवके कारणभूत सोलह भावनाओमे द्वितीय भावना है विनयसम्पन्नता। सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र आदिकमे मोक्षके साधन है और उनके साधनभूत गुरु आदिकमे अपनी योग्य वृत्तिसे सत्कार करना, कषायको हटाना विनयसम्पन्नता कहलाती है। विनयके बिना पात्रता नही आती, लौकिक कार्योंके सीखनेमे भी जिस गुरुसे सीखे उसके प्रति नम्रता विनयभाव होता है तो वह विद्या सुगमतासे आ जाती है। फिर यह तो मोक्षमार्गकी बात है। आत्मामे मानकषायका अश न हो तब ही पात्रता जगती है और जब तक काय, वचन, मनकी प्रवृत्ति है तब तक नम्रताका होना यह सिद्ध करता है कि इसने मान कषायपर विजय किया है। विनयसे आत्मानुभवकी पात्रता निर्विघ्न चारित्रको निभानेकी पात्रता होती है। तीसरी भावना है शीलव्रतेस्वनतिचार—चारित्रके भेद है शील और व्रत। व्रत तो अहिंसा आदिक ५ बताये गए है और व्रतोके पालन करनेमे सहायक शील है। जैसे क्रोधका त्याग करना, मानका त्याग करना। तो ऐसे शील और व्रतोमे निर्दोष प्रवृत्ति रहना, मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति शुद्ध रहना, शीलव्रतेस्वनतिचार कहलाता है। चौथी भावना है अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग। अभीक्ष्णका अर्थ है निरन्तर। ज्ञानोपयोगका अर्थ है ज्ञानमे उपयोग रहना। ज्ञानकी भावनामे निरन्तर युक्त रहना सो ज्ञानोपयोग है। ज्ञानके ५ भेद बताये गए है—१–मतिज्ञान, २–श्रुतज्ञान, ३– अवधिज्ञान, ४– मन पर्ययज्ञान और ५– केवलज्ञान। इन ज्ञानोसे ही जीवादिक पदार्थोंका निर्णय होता है, आत्मतत्त्वका निर्णय होता है। ज्ञानका फल है अज्ञानका हट जाना, यह जो साक्षात् फल है और परम्परा फल है हितकी प्राप्ति होना, अहितका परिहार करना, और जो न हित है न अहित है उन प्रवृत्तियोसे उपेक्षा रहना और ज्ञानके परिणमनोका आधार आश्रय सहज ज्ञानस्वरूप है सो इन परिणमनो द्वारा सहज ज्ञानस्वभावका आश्रय लेना यह है उत्तम ज्ञानमे उपयोग। फिर इसमे न ठहर सके तो तत्त्वनिर्णयमे उपयोग रखना यह भी ज्ञानोपयोग है। निरन्तर ज्ञानमे उपयोग रखनेको अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग कहते है।

(९२) तीर्थंकरत्वास्रवहेतुमे संवेग व शक्तितस्त्याग भावना—तीर्थंकर प्रकृतिकी १६ भावनाओमे पांचवी भावना है सम्वेग। ससारसे भीरुता करना, डरना, हटना सो सम्वेग भावना है। संसारमे सर्वत्र कष्ट ही कष्ट है, शारीरिक कष्ट है, मानसिक कष्ट है। जहां बहुत

विकल्प आरम्भ रहा करते हैं, कही इष्टका वियोग हो, कही अनिष्टका सयोग हो इष्टका लाभ नही हो रहा आदिक नाना प्रकारकी स्थितियोसे ससारका दुःख उत्पन्न होता है। वह अति भयानक है, कष्टरूप है, उससे नित्य भीरुता होना सम्वेग भावना है। त्याग भावना—दूसरो की शान्तिके लिए त्याग करना त्याग भावना है। जैसे पात्रके लिए आहार दिया तो पात्रको आहार देना उस पात्रके लिए संतोषका कारण रहा, वह अपनी ज्ञानसाधनामे जुटकर सतुष्ट रहता है। पात्रके लिए अभयदान दिया तो उस भवकी विपत्तियोको मानो हटा दिया। पात्रके लिए सम्यग्ज्ञान दिया तो वह अनेक भवोके कोटाकोटि दुःखोको हटा देनेका कारण बनता है। दानोमे प्रधान ज्ञानदान है। यदि किसी आत्माको अपने स्वरूपका भान होता है और उस स्वरूपमे रमण करनेका यत्न बनता है तो इसके द्वारा तो अनन्तकाल तकके लिए, हमेशाके लिए ससारसकट समाप्त हो गए। तो यह तीन प्रकारका यथाविधि दिया गया दान त्याग कहलाता है।

(६३) **तीर्थंकरत्वास्रवहेतुमे शक्तितस्तप भावना**—तपभावना—अपनी शक्तिको न छिपाकर मार्गका विरोध न कर कायक्लेश करना तप है। तपमे कायक्लेश तो है, पर राग-द्वेष उत्पन्न करके या समता परिणाम बिगाडकर सक्लेश या दुःख मानकर कायक्लेश होना तप नही कहलाता। जो मार्गसे अविरुद्ध हो ऐसा ही कायक्लेश तप कहलाता है, और इस दृष्टिसे देखा जाय तो कायक्लेश नाम दूसरे लोगोके देखनेमे पीडा, खुद क्लेश नही करता सो तपश्चरण अतरङ्ग बहिरङ्ग दोनो प्रकारके होते है। उन तपश्चरणोमे अपनी शक्ति न छिपाकर लगना तप कहलाता है। तपश्चरणकी भावना रखने वाला साधक जानता है कि यह शरीर तो दुःखका कारण है, विनाशीक है, अपवित्र है, इस शरीरका मनमाना भोग विधिसे पोषण करना युक्त नही है। आखिर यह शरीर छूटेगा ही और भिन्न है, इसपर उपयोग देनेसे कष्ट ही है। इस शरीरको भोगोमे रमाकर इसका पोषण करना यह युक्त नही है। तो ऐसा यह शरीर अशुचि है, उपेक्षाके योग्य है, फिर भी यह मनुष्यभव प्राप्त होना बडा कठिन है, इसमे श्रेष्ठ मन मिला है, यहां रत्नत्रयगुणका सचय कर लें तो अनतकालके लिए हम ससारसे पार हो सकते हैं और उन गुण रत्नोका सचय कर सकें इसके लिए यह जरूरी है कि यह भव बना रहे कुछ समय तो धर्मसाधना कर सकेंगे और यह भय बना रहे इसके लिए शरीरका कुछ पोषण आवश्यक है। सो जैसे किसी भृत्यसे काम करानेके लिए उसका पोषण किया जाता है ऐसे ही इस शरीरसे काम करानेके लिए इस शरीरका भी उपयोग होना उचित है। जैसे आत्माकी भावना बढे उस प्रकार इस शरीरसे तपश्चरण आदिकका काम निकलता है, ऐसा जानने वाला साधक कायक्लेशमे रंच भी क्लेश नही मानता और मार्गके अविरुद्ध अपनी शक्तिको न छिपाकर तपश्चरण करता है।

(४) तीर्थंकरत्व स्रवहेतुमें ८,९,१०,११, १२ व १३वीं भावनाका निर्देशन—साधु समाधि—अनेक व्रत शीलोमे समृद्ध बढ़े हुये मुनिगणोके तपमे कोई विघ्न उपस्थित हो तो उन विघ्नोको दूर करना साधुसमाधि कहलाती है। जैसे भण्डारमे आग लग जाय तो प्रयत्न पूर्वक उस अग्निको शान्त किया जाता है ताकि भण्डारमे रहने वाले रत्न बच जायें, ऐसे ही मुनिराज व्रत शीलोके भण्डार वहाँ कोई विघ्न आ जाय, उन विघ्नोका निवारण करना साधुसमाधि है। वैयावृत्ति—गुणी जनोपर, साधु संतोपर कोई कष्ट आये, रोग आये उसको निर्दोष विधिसे हटा देना, उनकी सेवा करना यह वैयावृत्ति है। वैयावृत्तिसे उपकृत साधु अपने गुणकी उपासनामे जुट जाते है इसलिए यह वैयावृत्त मोक्षमार्गमे सहायक है। अर्हद्भक्ति—[illegible], अनन्तचतुष्टय सम्पन्न निर्दोष परमात्मा अरहंत कहलाते है। अरहन्त भगवानके गुणविकासका स्मरण करना, उनके प्रति अनुरक्त होना, उनकी भक्ति करना अर्हद्भक्ति कहलाती है। आचार्यभक्ति—साधुजनो को निर्विघ्नतया मोक्षमार्गमे प्रवर्तनके सहायक आचार्य महाराज, जिनको बताया है कि ये संसारसे निस्तारक है उनके गुणोमे प्रीति होना, उनके रत्नत्रय गुणोका स्मरण होना, उनकी आज्ञानुसार चलना यह आचार्यभक्ति कहलाती है। बहुश्रुतभक्ति—जिन साधुसंतोको बहुत ज्ञान है, एस विपुल श्रुतज्ञानी साधुसंतोके ज्ञानचारित्रकी भक्ति करना, उनकी आज्ञामे रहना, उनकी सेवाका भाव रखना बहुश्रुतभक्ति कहलाती है। प्रवचनभक्ति—प्रवचन आगमको कहते है। प्रवचन श्रुतदेवता है, उसके प्रसादसे मोक्षमार्गमे गमन करना सरल होता है, ऐसे परम उपकारी प्रवचनकी भक्ति करना प्रवचनभक्ति है।

(६५) तीर्थंकरत्वास्रवहेतुमें आवश्यकापरिहाणि भावनाका निर्देशन—आवश्यकापरिहाणि—साधुजनोंके ६ आवश्यक होते हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये ६ आवश्यक क्रियावोका यथासमय बिना नागा स्वाभाविक क्रम से करते रहना आवश्यकापरिहाणि है। इसमे दो शब्द हैं—आवश्यक और अपरिहाणि। आवश्यक कार्योंमे कमी न करना आवश्यकापरिहाणि है। प्रथम आवश्यक है सामायिक, समस्त पाप योगोका त्याग करना, चित्तको एकाग्ररूपसे ज्ञानमे लेना, आत्माका जो सहज ज्ञानस्वरूप है उस सहज ज्ञानस्वरूपकी आराधना रखना सो सामायिक नामका गुण है। रागद्वेष न होकर समता परिणाम रहना इस स्थितिका नाम सामायिक है, चतुर्विंशतिस्तव—चौबीसों तीर्थंकरोका गुणकीर्तन करना, स्तवन करना चतुर्विंशतिस्तव है। वंदना—मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक खड्गासन या पद्मासनसे अपने ध्येयजनोकी वंदना करना, जो वंदना चार बार सिरसे नमस्कार करना और १२ अंजुलीमे आवर्त करना इन क्रियावो पूर्वक वंदना करनेको वंदना कहते है। [illegible] स्थितिका नाम प्रतिक्रमण है। आगामी कालमे [illegible]

होवें इसके लिए सावधानी रखना प्रत्याख्यान है। शरीरसे ममत्व त्यागना कायोत्सर्ग है और शरीरसे पूर्ण उपेक्षा रखना, कुछसे कुछ क्रियायें ही न करना यह अभ्यासानुसार कुछ समय तक किया जाता है। ये सब कायोत्सर्ग कहलाते हैं।

**(६६) तीर्थंकरत्वास्रवहेतुमें मार्गप्रभावना व प्रवचनवत्सलत्व भावनाका निर्देशन**—मार्गप्रभावना—संसारसे छुटकारेका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। उस मार्ग के ज्ञानद्वारा, चारित्रद्वारा, अन्य उपाय द्वारा प्रभावना करना मार्ग प्रभावना है। जिस ज्ञान-सूर्यकी किरणोंसे अज्ञानसमर्थक मतोंका प्रकाश दूर हो जाता है, यह मार्ग प्रभावना है। लोगों के यह निर्णय बन जाय कि वास्तविक मार्ग तो सहज आत्मस्वरूपका श्रद्धान् ज्ञान और सम्यक् आचरण है, तो यह है वास्तविक मार्गप्रभावना। तपश्चरण आदिकसे भी मार्गप्रभावना बनती है, ऐसा महान उपवास जो बड़े-बड़े धीरोंको आसनको भी कँपा देता है ऐसे तपश्चरणो से मार्गकी प्रभावना होती है। जो लोग देखते जानते हैं उनके भी भावोंमे अतिशयता आती है, और यों तपश्चरणो से भी मार्गप्रभावना होती है। मार्गप्रभावनाका एक कारण जिनपूजा है। जिनेन्द्र भगवानका गुणानुवाद पूजन विधान आदिक द्वारा सद्धर्मका प्रकाश करना मार्ग प्रभावना है। प्रवचनवत्सलत्व—प्रवचन नाम साधर्मीजनोंका है। साधर्मी जनोंमे स्नेह होना प्रवचनवत्सलता है। जैसे गाय अपने बछड़ेसे प्रकृत्या प्रीति करती है, उस गायको बछड़ेसे कोई आजीविकाकी आशा नही है किन्तु प्रकृत्या स्नेह होता है ऐसे ही साधर्मी जनोंसे कोई छल कपटकी आशा न रखकर स्वाभाविक रीतिसे स्नेह करना, धर्मात्माजनोंको देखकर स्नेहसे भर जाना यह प्रवचनवत्सलत्व है। इस प्रकार ये १६ कारण भावनायें तीर्थंकर प्रकृतिके आश्रवका कारण होती है। यहाँ तक नामकर्मके आश्रवके कारण कहे गए है। अब क्रम प्राप्त है गोत्रकर्म। गोत्रकर्म दो प्रकारका होता है—(१) नीचगोत्र और (२) उच्चगोत्र, जिनमे अब नीचे गोत्रके आश्रवके कारण कहते है।

## परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥६-२५॥

**(६७) नीचैर्गोत्र कर्मके आस्रवोके मुख्य कारण**—दूसरोंकी निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरेमे गुण विद्यमान हैं तो भी उनको ढक देना याने वे प्रकाशमे न आ सकें ऐसा प्रयत्न करना और अपनेमे गुण मौजूद न भी हो तो भी उन गुणोंका ढिंढोरा पीटना यह नीच गोत्रके आश्रवका कारण है। निन्दामें दूसरेके दोष प्रकट करने की इच्छा रहती है, रुचि रहती है, दूसरेको दोष प्रकट करनेका प्रयत्न चलता है। चाहे वे दोष वास्तवमे हों अथवा न हों, उन दोषोंको प्रकट करनेका प्रयत्न करना निन्दा कहलाती है। कल्याणार्थी पुरुषोंको परनिन्दा करनेकी वृत्ति नही जगती। परनिन्दासे आत्माका कोई कोई लाभ

नही है। कोई ऐमा सोचे कि दूसरेमे जो दोष है उनको प्रकट करनेमें क्यों बुराई बताते है? दोष न हो और उन दोषोको प्रकट करे, इसीमे तो बुराई मानना चाहिए? तो उनका यह सोचना कल्याणमार्गके विरुद्ध है। स्वय दोषोसे भरा हुआ है जिससे कि संसारमे जन्म मरण हो रहा है, स्वयंको जन्म-मरणके दुःखोंसे बचाना आवश्यक है, अपने दोषोका निवारण करना आवश्यक है। दूसरेके दोषोपर दृष्टिपात करके अपना उपयोग खराब करना क्या आवश्यक है? तो दूसरेके दोष चाहे तथ्यभूत हो चाहे अतथ्यभूत हो उनका प्रकाशन करना परनिन्दा है। आत्मप्रशसा अपनेमे गुण हों तो, न हो तो उन गुणोका प्रकाशन करना प्रशसा है या अपने गुणोको प्रकट करानेका अभिप्राय रखना आत्मप्रशंसा है। आत्मप्रशसाकी वृत्ति इस आत्माके पतनका कारण है। इस ससारमे जहाँ कि कर्मोंसे बधे हैं, जन्म-मरणके संकटोसे फसे है उसमे अपनेको मौजसे रखना, प्रशंसा करना, कराना, यह क्या आवश्यक है? यह तो और पतनका कारण है। सो अपनेमे कोई भी गुण हो तो भी उनके प्रकाशनका अभिप्राय न रखना, जो पुरुष आत्मप्रशसाका आशय रखते है उनके नीच गोत्रका आश्रव होता है। छादन नाम ढकनेका है, ऐसे प्रतिबंधक कारण जुटाये जिससे वस्तु प्रकट न हो सके इसका नाम छादन है। सो दूसरेके गुण उसमे मौजूद भी है तो भी उनको ढक देना। ऐसी बात मिलाना कि वह गुण प्रकट न हो सके, ऐसे परगुण छादनकी भावनासे नीचगोत्रका आश्रव होता है। उद्भावना—अपनेमे गुण नही हैं तो भी उनका उद्भावन करना, ढिंढोरा पीटना यह नीच गोत्र कर्मका आश्रव कराता है। नीच गोत्रका आश्रव होने पर जब उसका उदयकाल आता है तो इस जीवको नीच कुलमे जन्म लेना पडता है और वहाँ जीवनभर संताप सहता है। गोत्र शब्दका अर्थ प्रसिद्ध है कुल। यह गोत्र शब्द बना है गूज धातुसे जिसकी निरुक्ति है—गूञ्यते शब्दयते इति गोत्र, जो शब्द व्यवहारमे आये उसे गोत्र कहते है। यह गोत्रका शब्दार्थ है, पर भावार्थ यह है कि जिससे आत्मा नीच या उच्च व्यवहारमे आये सो गोत्र है। यहाँ नीच गोत्रका प्रकरण है। आत्मा नीच व्यवहारमे आये सो नीच गोत्रका प्रकरण है। आत्मा नीच व्यवहारमे आये सो नीच गोत्र है। इस सूत्रमे नीच गोत्रके आश्रवके कारण सक्षेपसे बताया, अब उन कारणोका विस्तारसे विचार करना है तो इस प्रकारसे विचार कीजिए।

(६८) **नीचैर्गोत्रकर्मके आस्रवके कारणोंका प्रपञ्च**—इस सूत्रमे च शब्द दिया है तथा बहुत पहले आश्रव वाले सूत्रसे इति शब्दकी भी अनुवृत्ति चली आ रही आ रही है जिससे अन्य अनेक कारण भी ग्रहण कर लिए जाते है। और कारण क्या है जिन भावोंके होनेपर नीचगोत्रका आश्रव होता है, इसीको कहते हैं मद करना, जाति उत्तम मिली हो। जो लोक-

पूज्य है उस जातिका घमंड करना कि उत्तम जातिका हैं कुलका घमंड करना। पिताके गोत्र को कुल कहते हैं और मामाके कुलको जाति कहते हैं। मैं उत्तम कुलमे उत्पन्न हुआ हू ऐसे कुलका लक्ष्य करके अपने स्वभावको भूलकर अहकार आ जाना यह कुल मद है। शरीरके बल को देखकर घमंड आना, मैं बहुत बलिष्ट हू, शरीरके रूपको देखकर घमड करना कि मैं बहुत सुन्दर हूँ। जो ज्ञान पाया है उसका अहंकार जगना। यदि इस लोकमे आज्ञा चलती है तो उस आज्ञाका घमड आ जाना, कुछ प्रभाव और ऐश्वर्य यदि मिला है तो उसका अहकार होता है, कुछ तपश्चरण किया जाता हो तो उसका मद होना, इन मदोकी स्थितिमे आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है और पर विकल्पोंमे लग जाता है और उन विकल्पोंमे भी अपने आपकी प्रशसा सम्बधित विकल्प जगने लगना सो ये सब मद नीच गोत्रका आस्रव कराते हैं। परकी अवज्ञा होना, ऐसे वचन बोलना जिससे दूसरोंका अपमान होता हो सो परकी अवज्ञा है। दूसरेकी हंसी करना, अपने आपको उच्च कल्पना करनेके कारण दूसरे लोग इसकी दृष्टिमे नीच प्रतीत होते है और इस कल्पनाके कारण दूसरेकी हँसी किया करते हैं। ये सब नीच गोत्रका आस्रव कराते हैं। निन्दाका स्वभाव हो जाना ऐसी ही प्रकृति बन जाय कि किसी दूसरेकी निन्दा ही किया करे, धार्मिक जनोका परिहास करना, धर्मात्माजन रात्रिको नहीं खाते, शुद्ध भोजन करते, पूजा, ध्यान भक्तिमे लगते तो उनकी इन क्रियावोको मूर्खों जैसी क्रियावोका रूप देखते हुए परिहास करने लगना, ये सब भाव नीच गोत्र का आस्रव कराते हैं। अपने आत्माका उत्कर्ष जताना, और दूसरेके यशका लोप करना, अपनी कीर्तिके अर्जनके लिए मिथ्या उपाय बनाना और झूठी कीर्ति फैलाना, गुरुजनोका परिहास करना, ये सब परिणाम नीच गोत्रका आस्रव करते हैं। नीच गोत्रके आस्रव करानेके भाव भी नीच ही होते हैं। उन भावोमे गुणोके ख्यालका स्थान नही रहता। गुरु जनोके दोषकी ही प्रसिद्धि करते रहना, गुरु जनोकी भर्त्सना करना उनके सामने असभ्यतासे पेश आना, जोरसे शब्द बोलना ये सब नीच गोत्रके आस्रवके कारण हैं। गुणी जनोके गुणोका आसादन करना, गुणोको दोषके रूपमे प्रकट करना, बडे पुरुषोको देखकर विनय न करना प्रत्युत बैठे ही रहना, बुरी दृष्टिसे निरखना, उनके विनयके प्रतिकूल दूसरे लोगोको इतना उत्साह देना ये सब खोटे भाव नीच गोत्रका आस्रव कराते हैं। यदि कोई पुरुष महापुरुषोको देखकर उनके गुणोके प्रति हर्ष नही प्रकट कर पाता, उनके गुणोके वर्णनमे दो शब्द नही बोल सकता, उन्हे देखकर खडा होना, उनके जाते समय कुछ दूर तक पहुचाना आदिक न कर सके तो ऐसे बडे अहकार भावके कारण और अपने आपको महान् कल्पना करनेके कारण उसके नीच गोत्रका आस्रव होता है। तीर्थंकर अरहन्त देव भगवानपर आक्षेप करना, उनकी कथा सुनकर

किसी भी घटनाको उल्टे रूपमें पेश करना ये नीच गोत्रके आश्रव करानेके कारण है। शास्त्र आगम धर्मकी निन्दा करना ये सब नीच गोत्रके आश्रव कराते है गुरु जनोको निरखकर उनके भेषपर हँसी करना, ये साधु लोग मलिन है, गदे रहते है, ये नहाते भी नही हैं, आरोपो को लगाकर उपहास करना ये सब नीच गोत्रके आश्रव कराने वाले हैं। जिन जिन क्रियावो में दूसरेकी निंदा बसी हो और दूसरेकी प्रशसा बसी हो वे वे सब क्रियाये नीच गोत्रके आश्रव के कारणभूत बनती है। नीच गोत्रका उदय होनेपर नीच कुलमे जन्म होता है और उस समय दूसरे लोगोकी दृष्टिमे मैं नीच हूं ऐसा ख्याल कर करके भीतर छूटता रहता है, सक्लेश करता है, जिसके फलमे ससारभ्रमण और भी लम्बा होता चला जाता है। जिसको मोक्षकी रुचि हो, ससारसकटोसे छुटकारा पानेकी अभिलाषा हो उसे नीच गोत्रके आश्रवके कारणभूत प्रसंगोमे न लगना चाहिए। अब नीच गोत्रके आश्रवका कारण कहकर उच्च गोत्रके आश्रवकी विधि कहते है—

## तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥६-२६॥

( ६९ ) **उच्चैर्गोत्रकर्मके आश्रवके मुख्य कारण**—उससे उल्टा तथा विनयसे नम्र होना एवं घमड न करना ये उच्च गोत्रके आश्रवके कारणभूत है। तद्विपर्ययः, इस प्रथम पदमे तत् शब्दसे अर्थ लिया नीच गोत्र जिसका कि वर्णन इससे पहले सूत्रमे आ गया है। ग्रहण हुआ याने नीच गोत्रके आश्रवके कारणसे उल्टा। नीच गोत्रके आश्रव बताये गए थे—पर निन्दा, आत्मप्रशंसा, तो यहाँ लेना है परप्रशसा, आत्मनिन्दा। दूसरे पुरुषोके गुणोकी प्रशंसा करनेसे उच्च गोत्रका आश्रव होता है, जिसके उदयमे वह उच्च गोत्रमे उत्पन्न होगा। अपनी निन्दा करनेसे अर्थात् अपनेमे जो त्रुटि है, दोष है, विषय कषाय सम्बधी वृत्ति है, और और भी जो व्यवहारके योग्य हैं, ऐसे हीन आचारको निरखकर अपनी निन्दा करना यह मेरे को उचित नही है। स्वय भी सोचना और दूसरे लोगोको भी बताना कि मेरेमे यह दोष लगा है आदिक ये सब आत्मनिन्दा उच्च गोत्रके आश्रवका कारण है। नीच गोत्रके आश्रवमे बताया था कि दूसरेके गुण हो या न हो उनको ढांक देना तथा अपनेमे गुण हो या न हो उनको प्रकट करना, ढिढोरा पीटना, तो यहाँ उच्च गोत्रके आश्रवमे कारण जानना, दूसरेके गुण हो या न हो उनको प्रकट करना और आत्माके गुण हो या न हो उनको ढांकना अथवा यहाँ सत् और असत्को भी क्रमसे लगाना जिससे अर्थ निकलता है कि दूसरेके सद्भूत गुणोको प्रकट करना और अपने असद्भूत गुणोंको ढाकना, तात्पर्य यह है कि दूसरेके गुणोको बखानना उच्च गोत्र के आश्रवका कारण है और अपने गुणोको ढांकना, प्रकट न करना, न कहना उच्च गोत्रके आश्रवका कारण है। इसके अतिरिक्त दो कारण और कहे गए हैं—(१) नीचैर्वृत्ति, (२) अनुत्सेक। जो पुरुष गुणोमे उत्कृष्ट हैं उनके प्रति विनयसे झुक जाना, अपनेको नम्र कर देना

सो नीचैर्वृत्ति है। दूसरेके गुणोंको ध्यानमे लेनेसे ज्ञेयाकार भी गुण रहा और गुण रुचि होने से स्वयके गुणमे भी विकासका प्रारम्भ होता है। गुणी पुरुषोंके प्रति नम्र होनेसे आत्माके ज्ञानस्वभावका बाधक अहंकार दूर हो जाता है, इस कारण नम्रतामे मोक्षमार्ग भी मिलता है और ससारमे जब तक रहना पडता है तब तक उसके उच्च गोत्रका आश्रव होता है। अनुत्सेक– अहंकार न होना सो अनुत्सेक है। ज्ञानादिकमे उत्कृष्ट होनेपर भी उस ज्ञानादिकका लक्ष्य कर मोही जनोंको मद होता है, वह मद इसके नही है, यही है अनुत्सेक। ये सब परिणाम उच्च गोत्रके आश्रवके कारणभूत हैं।

(१००) उच्चैर्गोत्रकर्मके आस्रवोंके कारणोंपर अनतिविस्तृतविवरण—सूत्रमे जो परिणाम बताये गए हैं उनके विस्तारमे इस प्रकार समझना कि जाति, कुल, बल, रूप, ज्ञान, ऐश्वर्य, तप आदिककी विशेषता होनेपर भी उनका अहकार न होवे तो वे सब शुद्ध परिणाम उच्च गोत्रके आश्रवके कारण है। दूसरेका तिरस्कार न करना उच्च गोत्रका आश्रव कराता है, दूसरेका तिरस्कार उससे ही सम्भव नही है जो अपने आत्मस्वरूपको जानता है और सब जीवोमे इस ही स्वरूपको निरखता है। सभी प्राणी स्वरूपत. एक समान हैं ऐसा बोध होनेपर दूसरेके तिरस्कारकी भावना कैसे हो सकती? ऐसा उच्च परिणाम उच्च गोत्रके आश्रवके कारणभूत है। अपनेमे उद्धतता न होना अर्थात् उद्धतपन उजड्डताका अभाव होना, दूसरेसे ईर्ष्या न करना, दूसरेका उपहास न करना, दूसरेका अपयश न करना, यह उच्च गोत्रका आश्रव कराता है। साधर्मी व्यक्तियोका सम्मान करना, गुणी पुरुषोको निरखकर खडे होना, अजुलि चढाना, नमस्कार करना ऐसा यह नम्र परिणाम उच्च गोत्रका आश्रव कराता है। निरहंकार नम्र वृत्ति होना, सरलता होना, सब जीवोंके सुखी होनेकी भावना रखना, अपनेमे सदैव नम्रता रहना, उच्च गोत्रका आश्रव कराता है। राखमे ढकी हुई अग्नि जैसे अदर ही पडी है, उसका प्रकाश प्रताप अदर ही है, बाहरमे उसका ढिंढोरा नही पिट पाता, ऐसे ही अपनेमे कोई गुण हो तो वे अपनेमे ही बने रहें, उनको बाहरमे ढिंढोरा न पीटें, ऐसा जो नम्र परिणाम है वह उच्च गोत्रका आश्रव कराता है, धर्मके जितने स्थान है उनमे आदर बुद्धि न होना, जैसे मदिर जी, उसकी सफाई, रक्षा, सजावटमे प्रीति होना यह धर्मगुरु और धर्मदेवके प्रति बहुमानका सूचक है और धर्म साधनकी रक्षा है। धर्मके स्थान मुख्य रूपसे धर्मज्ञान देने वाले विद्यालय, पाठशालायें हैं, उनके करनेका भाव, विद्यार्थियोके ज्ञानके साधन जुटानेके भाव ये सब परिणाम उच्च गोत्रका आश्रव कराते हैं। धर्मके साधनभूत अन्य समारोह आदिक भी होते हैं, उनमे भी आदर रखना और प्रभुजिनेन्द्रके मार्गकी प्रभावना हो रही है, ऐसा प्रसन्नताका भाव रखना, ये सब ये सब उच्च गोत्रके आश्रवके कारणभूत है।

## विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥६—२७॥

(१०१) दानादिमें विघ्नकरणकी अन्तरायास्रवहेतुता—विघ्न करना अंतरायके आश्रवका कारण है। किनमे विघ्न करना ? दान आदिक जो शुभ क्रियायें हैं उनमे विघ्न करना अतरायका आश्रव कराता है। दान आदिकका निर्देश पहले सूत्रमे कर दिया है। वे ५ होते हैं १– दान २– लाभ ३–भोग ४–उपभोग और ५–वीर्य। इनका हनन करना विघ्न कहलाता है। विघ्न शब्दमे वि तो उपसर्ग है और हन् धातुसे घन् प्रत्यय होकर विघ्न शब्द बना है। तो विघ्न कहलाता है किसी कार्यका प्रतिघात कर देना, रोक देना, कार्यका न होने देना सो विघ्न अंतराय कर्मका आश्रय कराता है। इस सूत्रमे मूल रूपसे तो ५ बातें कही गई हैं १–दानमे विघ्न करना—कोई दान देता हो उसको रोक देना, चाहे संकेतसे रोके चाहे किन्ही वचनोंसे रोके चाहे कायचेष्टासे रोके इससे दानान्तरायका आश्रव होता है। जिसके उदयमें इसे खुद लाभ न होगा और इसके भी दानका भाव न हो सकेगा। लाभान्तराय—किसीके लाभमे अन्तराय डालना, कुछ वस्तु किसीको प्राप्त होती हो उद्यमसे या अन्य प्रकारसे, उसमे विघ्न डाल देना यह लाभान्तरायका आस्रव कराता है। भोगान्तराय भोगकी वस्तुवें, विषयोंके साधनभूत जो पदार्थ एक बार भोगनेमे आयें ऐसे भोजन आदिक उनके भोगनेमे विघ्न डालना भोगान्तरायका आश्रव कराता है। उपभोगान्तराय–उपभोगकी वस्तुवोमे विघ्न डालना। उपभोग वाले पदार्थ वे कहलाते है जो बारबार भोगनेमे आयें। जैसे कुर्ता कमीज, बर्तन आदिक जो रोज-रोज भोगने मे आते हैं। तो ऐसे उपभोग वाले पदार्थोंमे विघ्न करना उपभोगान्तराय है। वीर्यान्तराय वीर्य अर्थात् शक्ति, उसके प्रकाशनमें प्रकट करनेमे विघ्न डालना, किसीकी शक्तिके साधनोमे विघ्न डालना वीर्यान्तरायकर्मका आश्रव कराता है। इस प्रकार ये मूल रूपसे ५ कारण बताये गए हैं। अब इनके विस्तारमे अन्य कारणोका कथन करते हैं।

(१०२) ज्ञानप्रतिषेध आदि कुछ परिणमनोंकी अन्तरायास्रवहेतुता—किसीके ज्ञान का प्रतिषेध कर देना। कोई ज्ञानकी चर्चा कर रहा हो, दूसरे ज्ञानीके ज्ञानकी प्रशसा कर रहा हो अथवा कोई ज्ञान दे रहा हो तो वहाँ उस ज्ञानका निषेध कर देना, उसकी अनावश्यकता बताकर अथवा ज्ञानके दोष बताकर किसी भी उपायसे ज्ञानका निषेध कर देना अतराय कर्मका आश्रव कराता है। किसीके सत्कारका विनाश कर देना, कोई अभ्यागत आया है या विद्वान साधु सत पुरुष आया है और उसका लोग विशेष सत्कार करनेका उद्यम कर रहे है तो उसमे विघ्न डालना उसे न होने देना, ऐसे वचन बोलना कि जिससे लोगोको उससे उपेक्षा हो जाय तो यह सत्कारोपघात कहलाता है। इससे अतरायकर्मका

आश्रव होता है। कोई दान देता हो उसके दानमे विघ्न करना, अनावश्यक है या यह पात्र नही है यह व्यर्थ जायगा या इतनी गुञ्जाइस कहाँ है, कैसा ही समझकर उस दानमे विघ्न करना, किसीके लाभमे विघ्न करना, किसी उद्यमसे कुछ प्राप्ति होने वाली हो तो उसमे अडचन लगा देना, भोगोपभोग वीर्यमे विघ्न डालना, स्नानमे अतराय करना, स्नान भी तो एक भोग वाली बात है जिसमे लोग प्रसन्न रहा करते है और जिससे लोग सुख अनुभव करते हैं, उनके स्नानमे बाधा डालना जैसे पानी लुढका दे या प्रतिकूल बात बोल दे। अनुलेपनमे विघ्न करना, जैसे शरीरमे कोई मालिसकी जाती हो, कोई गध वाली चीजका लेप किया जाता हो तो ऐसी क्रियावोमे लोग सुख साताका अनुभव करते हैं। उनके ऐसा शौक होता है, पर कोई उनकी इस बातमे विघ्न डाल दे तो वह अन्तरायके आश्रवके कारण होता है, ऐसे ही गध माल्य भूषण वस्त्र आदिकमे विघ्न डालना, किसीके शयनमें (सोनेमे) विघ्न डालना सोने न देना, बीचमे ही जगा देना अथवा शयनका साधन मिटा देना ऐसे ही आसन का साधन मिटा देना, बैठनेको स्थान न देना ये सभी विघ्न अन्तराय कर्मका आश्रव कराते है।

(१०३) **भक्ष्यभोज्यविघ्नकरणादि कतिपय परिणमनोकी अन्तरायास्रवहेतुता**—जो पदार्थ भक्ष्य हैं, भोज्य है, लेह्य है और पेय है उन पदार्थोंके भोगनेमे विघ्न डालना। भक्ष्य पदार्थ वे कहलाते हैं जिन पदार्थोंके खानेसे पेट भरे, रोज खाये जायें, जैसे दाल, रोटी, चावल आदिक। भोज्य पदार्थ वे कहलाते हैं कि जो रोज भरपेट तो नही खाये जा सकते, पर उन की रुचि होती है, स्वादिष्ट लगत है। कुछ भूख भी मिटती है जैसे लड्डू, पेड़ा बरफी आदिक, लेह्य पदार्थ वे कहलाते है जो चाटकर खाये जाते, जैसे चटनी और पेय पदार्थ वे कहलाते जो पिये जाते, जैसे ठडाई, दूध, पानी आदिक। इन पदार्थोंका कोई भोग करता हो या भोग करने का उद्यम करता हो तो उसके भोगनेमे बाधा डालना, ये सब अतराय कर्मके आश्रव कराते हैं। किसीका वैभव देखकर अथवा किसीकी समृद्धिको निरखकर उसमे विस्मय करना—कैसे मिला है, कैसे मिल गया है उसका आश्चर्य बनाना यह अन्तरायका आश्रव कराता है, क्योंकि इतना ज्ञान नही है कि ये सब बाहरी पदार्थ हैं, इनका आत्मासे क्या सम्बंध है? ये तो ऐसे ही दुनिया में पडे रहते हैं। कुछ पुण्यका उदय है कि जिसे वह इष्ट समझता है उसका समागम हो जाता है, पर ये सब कलकरूप हैं। उस पर क्या आश्चर्य करना? ऐसा ज्ञान नही है किन्तु खुद उस का लोभी है। और, दूसरोको प्राप्त हो तो उसमे विस्मय है, और वह विस्मय भी अपने भीतर एक ऐसा न मिलना चाहिए था, इस भावको लिए हुए है। सो यह भी अन्तरायका आश्रव कराता है। द्रव्यका त्याग न करना—खुदके पास धन वैभवका खूब साधन है, पर दूसरोके उपयोगके लिए उसका व्यय न कर सकना और केवल खुदके और अपने परिजनके लिए ही

यह द्रव्य है ऐसा निर्णय बनाये रखना, ऐसी कृपणता अंतरायका आश्रव कराती है। द्रव्यके उपयोगके समर्थनमे प्रमाद करना, कोई देना हो वह न सुहाये, कोई पदार्थका उपयोग करता हो तो उसका साधन बनानेमें प्रमाद बनाना देवतावोके लिए जो निवेदित किया गया अर्थात् नैवेद्य चढाया गया या जो नैवेद्यरूपसे नही, किन्तु व्यवस्थाके रूपसे रखा गया ऐसे द्रव्यको ग्रहण करना अर्थात् मंदिर, संस्था आदिकके द्रव्यको हडप लेना यह सब अन्तरायकर्मका आश्रव कराता है। कोई निर्दोष उपकरण हो किन्तु मनके माफिक सजे धजे शौक शान वाले न हो तो उनका त्याग करना, दूसरेकी शक्तिको मिटाना, धर्ममे विच्छेद डालना ये सब अंतरायके आश्रवके कारण है।

(१०४) **तपस्विगुरुचैत्यपूजाव्याघात आदि परिणमनोंकी अन्तरायास्रवहेतुता**—कोई तपस्वी गुरु उत्तम चारित्र वाले हैं और उनका लोग पूजा सत्कार करते हैं तो वह न सुहाये और उनकी पूजामे विघ्न डाले अथवा मंदिर आदिमे, मूर्ति चैत्यकी पूजामे विघ्न डाले, कोई पुरुष किसी दीक्षित, साधुको कोई द्रव्य दे रहा है या असमर्थ दीनको कोई द्रव्य दिया जा रहा है तो ऐसे दिए जाने वाले वस्त्र, पात्र आदिकमे विघ्न करना ये अन्तरायके आश्रवके कारण है। दूसरे पुरुषोको रोक देना, किसी जगह बंद कर देना, किसी चोरको बांधना, जो गुह्य अंग हैं उनका छेदन करना, कान, नाक, ओठ आदिकका काट देना, किसी प्राणीका बध करना, ये सब अंतराय कर्मका आश्रव कराते है। इस सूत्रमे और इससे पहले वाले आश्रव प्रसगके सूत्रोमे जो अनेक कारणोका ग्रहण किया गया है सो वह इति शब्दकी अनुवृत्तिसे किया गया है। सर्वप्रथम सातावेदनीयके आश्रवका कारण बतानेके लिए सूत्र कहा गया था—भूतव्रत्यनुकम्पादि, उसमे इति शब्द पडा है। जो कारण कहने थे वे कारण तो कह दिये और इसके बाद इति शब्द आया है, जैसे क्षमा, पवित्रता आदिक। सो उस इति शब्दका आगेके सब सूत्रोमे प्रकाश आ रहा है और उस इति शब्द द्वारा वह सब ग्रहण किया जा रहा है। आश्रवका वर्णन करने वाले इस छठे अध्यायमें इस अतिम प्रसगमे आगे कर्मोंके आश्रवके कारण बताये हैं सो इन आश्रवकी विधियोसे ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोंका आश्रव बंध होता है। जैसे कि कोई शराबी नशा लाने वाले मदिराको पीकर उसके नशेमे अनेक विकारोको करता है अथवा कोई रोगी जिस अपथ्य आहारसे रोग बढ़ता है उसी अपथ्य आहारको बडी रुचिसे खा लेता है तो उसके वात, पित्त, कफ आदिक अनेक रोग विकार उत्पन्न होते हैं, ऐसे ही यह जीव आश्रव करने वाले इन उपायोसे ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोंका आश्रव कराता है और नाना सस्कार विकारोको प्राप्त होता है।

(१०५) **सूत्रोक्त आस्रवहेतुवाचक शब्दोंमें आस्रवहेतुत्वके हेतुकी झांकी**—यहाँ कोई

यह शंका करता है कि आश्रवके कारण तो बताये गए बहुत, पर उनके साथ हेतु नही बताया गया कि ऐसा करनेसे इन कर्मोका आश्रव क्यो होता ? उसका कारण क्या है ? तो जब हेतु नही बताया गया तो इस आश्रवका नियम सिद्ध नही होता, पुष्टता नही आती कि ऐसा करनेसे अमुक पदार्थका आश्रव होता ही है। जो भी वर्णन हेतुपूर्वक होता है वही विद्वानोके द्वारा ग्राह्य होता है। तो यहाँ हेतु न कहनेसे यह आश्रवका कथन प्रामाणिक कथन नही बन सकता। इस शकाके उत्तरमे कहते है कि कितने ही प्रकरण ऐसे होते है कि उनका हेतु उन शब्दोके बोलनेसे ही सिद्ध हो जाता है। जैसे कहा कि किसीके ज्ञानसे ईर्ष्या करना, ज्ञानके साधनोमे विघ्न डालना ज्ञानावरणका आश्रव कराता है तो उसके सुनते ही हेतु मनमे आ जाता है कि जब दूसरेके ज्ञानसे ईर्ष्या कर रहे तो इसको भी ज्ञान न मिले, ऐसे कर्मोका आश्रव होगा ही। तो कितनी ही बातें ऐसी होती है कि जो एकदम सिद्ध हैं, जैसे दीपक घट पट आदिक पदार्थोका प्रकाशक होता है। अब उसमे कोई हेतु पूछे कि यह दीपक किस कारणसे प्रकाश करता है तो भाई वह तो उसका स्वभाव है और अपने स्वभावमे व्यक्त हो रहा है, तो ऐसे ही शास्त्र भी जो पदार्थ जैसे हैं, सत् है, जिस तरह हैं, उस तरह बताया करते है, और फिर सभी वादी प्रतिवादी अपने यहाँ शास्त्रोको पदार्थ प्रकट करने वाला मानते हैं, फिर यहाँ तो जो कुछ कहा गया है वह अतिशय ज्ञान वालेके द्वारा कहा गया है। मूलमे तो सर्वज्ञदेवके द्वारा कहा गया है, फिर उनके उपदेशको ग्रहण कर गणधर आचार्य आदिकके द्वारा कहा गया है। तो जो शास्त्रोमे वर्णन है वह ऐसा ही है जैसा कि कहा गया है। जितने भी अन्य प्रवादी हैं उन्होने अपने अपने सिद्धान्तमे पदार्थकी व्यवस्था बनायी है। कोई पृथ्वी आदिक द्रव्यको मानते हैं, उनका स्वभाव कहते है, कठिन स्वभाव है, जलका द्रव स्वभाव है, अग्निका उष्णता स्वभाव है, वायुका चलना स्वभाव है, यो वे वस्तुके स्वभावको प्रकट करते हैं। अब वहाँ कोई कहे कि हेतु बताना चाहिए कि वायुके चलनेका स्वभाव क्यो है ? जो बात जैसी है उसका वर्णन किया जा रहा है तो ऐसा अन्य सभी सिद्धान्तोमे पदार्थोके स्वरूपका वर्णन किया है, और फिर जैनशासनमे तो सर्वज्ञदेवके द्वारा प्रत्यक्ष जाने गए गणधर आदिक प्रभुवोके द्वारा भी एक देश प्रत्यक्ष देखा गया हो श्रुतज्ञानके द्वारा प्रमाणित किया गया है। इसलिए यह उलाहना देना ठीक नही है कि जो सूत्रोमे आश्रवके कारण बताये है तो उनका नियम नही बैठता।

(१०६) **सूत्रोक्त परिणमनोका नियतकर्मास्रवहेतुत्व बतानेका प्रयोजन नियतकर्मानुभागबधकी मुख्यताका प्रतिपादन**—अब एक शङ्काकार कहता है कि जो कारण बताये गए है किसी कर्मके आश्रवके सो उस परिणाम द्वारा तो सभी कर्मोका आश्रव होता है, क्योकि

आयुकर्मको छोडकर ७ कर्मोंका आश्रव संसारके सर्वसाधारण जीवोंके निरन्तर होता रहता है। तो परिणाम चाहे वह प्रदोषका हो, जिसको बतला रहे कि ज्ञानावरणका आश्रव कराता है किन्तु उस प्रदोष परिणामके प्रकट होनेपर अन्य कर्मोंका भी तो आश्रव होता रहता है। फिर तो जो भी आश्रव बताये गए है उनका नियम नही ठहर सकता कि अमुक काम करने से अमुक कर्मका आश्रव होता है, क्यो नियम नही ठहर सकता कि अनेक कर्मोंका आश्रव उस परिणामसे होता है। इस शङ्काके उत्तरमे कहते है। यद्यपि यह बात है कि किसी प्रदोष आदिक परिणामके होनेपर अनेक कर्मोंका आश्रव होता है याने सूत्रमे जिस परिणामको जिस कर्मके आश्रवका कारण बताया है उसके अलावा अन्य कर्मोंका आश्रव होता है, किन्तु ऐसा होनेपर भी विशेषताके कारण भिन्न-भिन्न कर्मोंका नाम दिया गया है। जैसे ज्ञानमें प्रदोष करनेसे यद्यपि प्रदेशबंध सभीका होता है किन्तु विशेषतया अनुभागबध ज्ञानावरणका होता है। इस कारण ज्ञानावरणके आश्रवके कारणमे इस ज्ञानप्रदोषको दिया गया है। तो इसी प्रकार जिन जिन कर्मोंके आश्रवके कारण बताये गए है उन परिणामो द्वारा उन कर्मों का अनुभाग बंध विशेष होता है और अन्य कर्मोंका साधारण होता है। इस विशेषताके कारण यहाँ आश्रवका नियम बनाया गया है। इस प्रकार इस अध्यायके प्रथम सूत्रमे जो बताया था कि काय, वचन, मनके कर्म योग हैं और वे आश्रवके कारण है। सो उस आश्रवके सम्बन्धमे जो प्रायोजनिक ज्ञेय तत्त्व था उसका यहाँ निरूपण किया गया है।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन एकोनविंश भाग समाप्त ॥

# मोक्षशास्त्र प्रवचन

## विंश भाग

✻ सप्तम अध्याय ✻

### हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥७-१॥

(१०७) **पञ्च व्रत और उनकी शुभास्रवहेतुता**—छठे अध्याय तक जीव, अजीव व आश्रव पदार्थका वर्णन हुआ था, किन्तु वह आश्रवका सामान्य वर्णन था और उसमे १०८ तरहके साम्परायिक आश्रव बताये गए। जीवाधिकरण आश्रव १०८ प्रकारके होते हैं और इसी कारण मालामे १०८ दाने माने गए हैं, उसका आशय यह है कि एक बार भगवानका नाम लिया तो मेरा यह पाप खत्म हो जाय तो वे सब आश्रव दो प्रकारके होते हैं—(१) पुण्य और (२) पाप। तो पहले जो आस्रवका वर्णन हुआ वह सामान्य वर्णन था तथा कुछ वर्णन पापास्रवकी प्रधानतासे भी था जैसे चारो घातिया कर्मोंका अलग-अलग वर्णन सूत्रोंमे था। इन घातिया कर्मोमे विशेष अधिक पापानुभागी कर्म मोहनीय कर्म है उसके आस्रवोके भी कारण बताये गये थे। उन विवरणोसे यह शिक्षा दी गई थी कि ऐसे ऐसे पापकार्योंसे बचने का पूरा ध्यान रखना चाहिये। तीर्थंकरप्रकृति, सातावेदनीय, शुभ नामकर्म, उच्चगोत्र जैसे पुण्यकर्मोंके आस्रवके भी कारण बताये गये थे जिनसे सद्भावनाओंकी शिक्षा मिली थी। अब व्रत सयम भावके होनेपर होने वाले पुण्य आश्रवको वर्णन किया जा रहा है। पापसे पुण्य प्रधान है, मोक्ष पुण्यपूर्वक होता है, पाप करके कोई मोक्ष नही गया, पुण्य करके पुण्यको छोडकर शुद्ध भावमे आकर मोक्ष हुआ करता है। साक्षात् तो पुण्यसे भी मोक्ष नही होता, पुण्य करनेसे तुरन्त मोक्ष नही होता। पुण्य करने वालेकी ऐसी पात्रता रहती है कि वह मोक्ष के मार्गमे लग जायगा, तो जब मोक्षमार्गमे लगा और बढ़ा तो उसका पुण्य भी छूट गया। पाप तो पहले छूट गया था, अब पुण्य भी छूट गया, अब उसके शुद्धोपयोग आ गया और शुद्धोपयोगसे मोक्ष होता है। तो मतलब यह है कि मोक्ष पुण्यपूर्वक होता है इस कारणसे पुण्यके आश्रव बताना चाहिए कौनसा हमारा परिणाम है जिससे पुण्यका आश्रव होता है। उसका वर्णन करनेके लिए सप्तम अध्यायके प्रारम्भमे यही सूत्र कहा है—"हिंसानृतस्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।"

(१०८) शान्तिलाभके लिये धर्मलाभकी अनिवार्यता—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील,

परिग्रह इन ५ पापोसे विरक्त होना व्रत कहलाता है। कोई नास्तिक लोग ऐसा भी सोच सकते हैं कि मनुष्य जीवन पाया तो मौजसे बिताओ। व्रत, तप, कष्ट करके करनेसे क्या फायदा है ? कोई लोग ऐसा सोच सकते हैं और उनकी दृष्टिमे धर्मका कोई महत्त्व नही है। लेकिन निष्पक्षरूपसे सोचा जाय तो हर एक कोई जीवनमे शान्ति चाहता है, सो यह खूब नजर करके देख लो कि किसी पर पदार्थमे, किसी विषयमे किसीके आधीन बनकर रहनेमे शान्ति मिलती है या सब बखेडोको दूर करके आरामसे बैठनेमे शान्ति मिलती है, तो अपने अपने अनुभव सभी बतायेंगे कि दूसरेके आधीन रहनेमें शान्ति नही मिलती और जो विषयों के आधीन रहेगे वे परतत्र रहेगे। तो परतत्रतामे शान्ति नही है, स्वतत्रतामे शान्ति है और स्वतत्रता भी कैसी ? देखिये हम आप सबका परिणाम धर्मके लिए चाहता तो है पर धर्मका जो मूल स्रोत है, कहाँसे धर्म निकलता है और किसका सहारा लेनेसे धर्म निकलता है इसका ज्ञान न होनेसे धर्मके नामपर परिश्रम बहुत कर डालते हैं और शान्ति नही मिलती। उसका कारण क्या है कि अभी तक धर्मका स्रोत नही जाना कि धर्म धरा कहाँ है ? हम यह ख्याल करते हैं कि धर्म हमे मदिरसे मिल जायगा, अमुक चीजसे मिल जायगा, केवल इतना ख्याल है। किन्तु, ध्यान यह होना चाहिये कि धर्मस्वरूप तो हमारा आत्मा है। आत्माका स्वभाव ज्ञान है वही धर्मस्वरूप है और इसी धर्मस्वरूप आत्माका जिन्होने सहारा लिया है वे अरहंत सिद्ध भगवान हुए हैं।

(१०९) **धर्मसाधनोंकी धर्मदृष्टिप्रयोजकता**—हम मंदिर इसलिए जाते कि हम अरहंत सिद्ध भगवानके गुण सोचेंगे और उससे हमको अपने आत्माकी खबर मिलेगी और आत्माका कुछ सहारा लेंगे तो हमे धर्म मिलेगा सो यह दृष्टि तो नही है, पर सीधी दृष्टि यह है कि हमको इस मदिरसे धर्म मिलेगा याने मंदिरकी भीतोसे या मन्दिरकी मूर्तिसे। अरे धर्म तो आत्माको मिलेगा उस आत्माके स्वरूपसे ही, पर वह मिले कैसे ? तो उस आत्मस्वरूपकी सुध करनेके लिए हम भगवानके मदिरमे जायेंगे और वहाँ भगवानके स्वरूपको विचारेंगे तो हमारे यहाँ वहाँके ख्याल सब दूर हो जायेंगे और उस समय जो हमको अपने आत्माका स्पर्श होगा उससे आनन्द जगेगा। आनन्द हमेशा अपने आत्मासे ही जगेगा, दूसरे पदार्थसे जगेगा नही। भगवानकी भक्ति करते समय भी जितना आनन्द जग रहा है वह भगवानसे निकलकर नहीं जग रहा है किन्तु इस आत्मामे से उठ उठकर जग रहा है। तो इसकी जिसको खबर हो जाय उसे अपने आपमे आनन्द मिलेगा और जिसको अपनी ही खबर नही है उसे आनन्द कहाँसे मिलेगा ? तो यह तथ्य निकला कि आत्मा इस जीवनमे सुख शान्ति चाहता है। तो परलोक है या नही इस बातको भी छोड़ दो, पर इस समय हमको शान्ति मिलनेका ढंग

क्या है यह तो समझ लो।

( ११० ) **विषयोंसे विरति होनेमे ही सबको लाभ**—कोई नास्तिक कहते कि न तो स्वर्ग है, न नरक है, हमे तो ये कही दिखते नही इसलिए क्यो धर्म करना, क्यो व्रत तप आदि करके कष्ट उठाना ? अच्छा तो चलो थोडी देरको उनकी ही बात मान लो स्वर्ग, नरक नहीं हैं, पर इस जीवनमे भी तो सुख शान्ति चाहिए ना ? तो निर्णय करो कि ससारके ये पदार्थ जो हमारी इन्द्रियके विषयभूत है इनकी गुलामी करनेमे आकुलता होती कि सुख मिलता ? कोई बता देंगे कि आकुलता मिलती है, सुख शान्ति नही मिलती तो इस ही जीवनको शान्त बनानेके लिए आवश्यक है कि विषयोका मोह छोडे। अभी यह हम उसको कह रहे जो कि परलोक नही मानते और अगर परलोक आया तो आगे जाकर सुख शान्ति पायेंगे। अगर मान लो पर लोक है नही तो इस जीवनमे तो सुख शान्तिसे रह लेंगे। हर दृष्टियोसे विषयो की प्रीति छोड़ना सुख शान्तिके लिए आवश्यक है। नही तो देखो विषयोमे रमते रमते जिन्दगी गुजर जाती और जैसे जैसे जिन्दगी गुजरती है वैसे ही वैसे यह अपनेको रीता अनुभव करता है कि मेरेको कुछ नही मिला, मेरेको कुछ नही रखा। तो अगर विषयोसे सुख होता तो जिन्दगी भर विषय भोगे वे सब जोड जोडकर आज कुछ सुखका भडार रहता, पर बात तो इससे उल्टी दिख रही। ज्यो ज्यो जिन्दगी बीतती जा रही, वृद्धावस्थामे आते हैं त्यो त्यो और भी दु खी होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि पदार्थोंमे सुख नही भरा है। सुख मिलेगा तो अपने आत्मा मे मिलेगा, आत्माके आलम्बनसे मिलेगा।

(१११) **मायाके प्रति आस्थाका कारण व्यामोह स्वप्न**—यहाँ तो अज्ञान छाया है सो यह जीव इस दिखने वाली दुनियाको सच मान रहा। जैसे कि सोते हुएमे कोई स्वप्न आ जाय तो स्वप्नमे देखी हुई बात सच मालूम होती है ऐसे ही मोहकी नीदमे जो ये घटनायें दिख रही है वे सब सच मालूम हो रही है। यह मानता है कि मेरा नाम फैलेगा, यश फैलेगा, कीर्ति चलेगी, मेरा बडप्पन चलेगा मगर इस मायामयी दुनियामे यश किसका नाम है ? अनन्ते चौबीस तीर्थंकर अब तक हो चुके, समयकी कोई आदि तो नही है, अब तक कितने ही चौथेकाल व्यतीत हो चुके उस कालमे २४ तीर्थंकर होते आये, बताओ आज उनके नाम भी कोई जानता है क्या ? उनकी तो बात छोडो, आजके ही २४ तीर्थंकरोके नाम कोई नही जानते, बिरले ही लोग जानते, तो काहेका नाम। अब वे भगवान सिद्ध होते हैं तो हम उन्हें जानें या न जानें, वे तो अपने अनन्त आनन्दमे लीन हैं, उनमे कुछ फर्क नही पडता। तो बताओ यश नामवरी न रहनेसे कोई दु ख होता है क्या ? बल्कि यश नामवरी जब चलती है तो कष्ट होता है, जिसका नाम बढा है वह हमेशा यह ख्याल रखता है कि मेरे यशमे कमी न आये, मेरा यश कही मिट न

जाय, तो वह उस शल्यके मारे धर्मसे दूर हो जाता है।

( ११२ ) **शान्तिका आधार अन्तस्तत्त्व**—शान्ति मिलेगी तो अपने आपके आत्माकी दृष्टि करनेसे मिलेगी, अन्य प्रकारसे नही, यह बात सुननेको मदिरमे मिलती है, यह बात निरखनेको मूर्तिमें मिलती है इस लिए हम दर्शन करते हैं। कही यहाँ मदिरके ईंट, भीट, फर्श आदिसे धर्म न मिलेगा। कही किसी स्थानसे धर्म नही मिला करता किन्तु वह स्थान धर्मका साधन है। उस धर्मस्थानपर रहकर धर्मका काम करेंगे तो धर्म मिलेगा, उस स्थानपर भी यदि धर्मका कोई काम न करे तो कोई जगहमे आने भरसे शान्ति नही मिलती। और, कभी थोडा मदिरकी जगहमे बैठनेसे भी शान्ति मिलती है तो वह भी धर्मके प्रतापसे ही मिलती है, जगह के प्रतापसे नही। वहाँ जाकर भी धर्मके भाव थोडे हुए तो थोडी शाति, अधिक हुए तो अधिक शान्ति मिलती है, तो शान्ति अपने धर्मभावसे मिलती है।

(११३) **धर्मलाभके लिये पापविरतिकी अनिवार्यता**—धर्मको पानेके लिए पहले यह आवश्यक है कि पापोको छोडा जाय। कोई पाप भी करता रहे और धर्म भी चाहता रहे, ये दो बातें नही हो सकती। जैसे एक म्यानमे दो तलवार नहीं समा सकती, ऐसे ही धर्म और पाप ये दोनो एक साथ रह नही सकते। अगर धर्म करना हो तो पाप छोडना ही होगा। चूकि मोक्ष पुण्यपूर्वक होता, पुण्यसे मोक्ष नही होता, पर पुण्य होकर भाव शुद्ध हो और वीतराग दशामे आये तो पुण्य छूटकर मोक्ष हो, मगर पुण्यमे आये बिना मोक्ष नही होता और पुण्यके छोडे बिना मोक्ष नही होता। ये दो बात कैसे कही ? अगर कोई पुण्यके मार्गमे न चले तो वह उस मार्गको पा नही सकता कि जिस मार्गसे चलकर वह अपने घर पहुचे। जैसे मानो कोई एक छोटी गली गई है, और वह एक बडी सडकसे मिली है, उस बडी सडक से चलकर मानो आपको किसी नगर पहुंचना है, अब उस नगरमे पहुंचनेके लिए, वह सडक तो धीरे-धीरे छूटती ही जायगी। उस सडकके छोडे बिना उस नगरमे नही पहुचा जा सकता, तो ऐसे ही समझो कि मुझे पुण्यमार्गसे चलकर मोक्ष प्राप्त करना है तो धीरे धीरे वह पुण्य छूटता जायगा, शुद्ध भाव बढना जावेगा तभी तो मोक्ष मिल पायगा। पुण्यके किये बिना व पुण्यके छोडे बिना मोक्ष तो न मिल पायगा। बताओ धर्म नाम है क्या ? तो जहाँ रागद्वेष न रहे और केवल ज्ञानमे ज्ञानका अनुभव रहे उसका नाम धर्म है, और पुण्य नाम किसका है ? तो अरहत सिद्ध भगवानमे भक्ति करना, धर्मानुराग करना, प्रभावना करना यह सब पुण्य कहलाता है। तो पुण्यमे जिसको पुण्य न करना आये उसको धर्म करना न आ पायगा, मगर मोक्ष मिलेगा धर्मसे ही, पुण्यसे नही। इतना अन्तर है इस कारणसे कि चूकि मोक्ष पुण्य-पूर्वक होता है। यहाँ पूर्वकका अर्थ पहले होता है यह लेना।

(११४) **मोक्षमार्गमें व्रतोंकी परिष्कृतता**—जिस पुण्यपूर्वक मोक्ष होता है उस पुण्य भावको बतानेके लिए यह सूत्र कहा गया है, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन ५ पापोंसे विरक्त होना व्रत है। देखिये—जैसे भोजनका नाम लेने मात्रसे पेट नही भरता, खानेसे पेट भरता ऐसे ही धर्मकी बातें करने मात्रसे अपना उद्धार नही होता, किंतु जो धर्मका स्वरूप है उसे करें तो उद्धार होगा। तो अपने आपमे यह खोज कीजिए कि हम रागद्वेष छोडकर ज्ञानके सही मार्गमे कितना चल पाते हैं और धन वैभव कुटुम्ब परिजन आदिमे, यहाँ वहाँ की फिजूलकी बातोमे हम कितना दिल बसाया करते हैं, यह हिसाब जरूर परखना चाहिए। अगर हम रागमे, विषयोमे ही फँसे रहकर अपना जीवन बिताते है तो वह जीवन बेकार समझिये। क्योकि वे सब बातें तो पशु पक्षीके भवमे भी मिल जाती। बताओ एक गायको अपने बछडेसे कम प्यार होता है क्या? नही होता, तब फिर बताओ इस मनुष्यभवमे आकर ऐसा कौनसा अपूर्व काम कर लिया जो किसी अन्य भवमे नही किया? जो आत्माका स्वरूप जानेगा, पाप उसीके अच्छी तरह कटेंगे। एक बनावटी ढगसे या जबरदस्तीके ढंगसे पाप छोडनेसे पाप न छूटेंगे और एक आत्माके स्वरूपका ज्ञान होनेके बाद जो एक सहज वैराग्य जगना है उसके कारण जो पाप छूटते हैं वे मूलसे पाप छूटते। जैसे किसी बच्चेसे कोई कहे कि रे बच्चे तू क्रोध न करनेका नियम ले ले और वह कहे कि हम यह नियम न निभा पायेंगे, फिर भी कोई जबरदस्ती करे। मानो क्रोधके समय उसके मुखमे पानी भर दे, वह कुछ बोल न सके तो भी बताओ उसका क्रोध दूर हो गया क्या? हाँ इतनी बात तो है कि यह अन्तर आ जायगा कि वह अपने क्रोधकी बातको मुखसे बोल न पायगा, जिससे लडाई न हो पायगी, मगर भीतरमे चाहे कि उसके क्रोध न रहे तो यह बात हो नही सकती, क्योकि उसके मनमे सस्कार तो बना ही है। उस सस्कारके कारण क्रोध तो उसे आयगा ही। और, जिस समय उसको यह ज्ञान होगा कि मेरे आत्माका स्वरूप कषाय करनेका है ही नही, अविकार स्वरूप हूँ मैं, ज्ञानमात्र हू मैं, तो वह अपने ज्ञानकी उपासनाके बलसे क्रोधको जडसे उखाड फेंकता है। तो जबरदस्तीके त्यागसे मूलत. पाप नही मिटते, किन्तु आत्माका ज्ञान होनेपर फिर त्याग हो तो मूलसे पाप मिटते है। फिर भी इतना फर्क हो सकता है कि किसी से जबरदस्ती भी मनाईकी करें कि तुम छोड दो तो कुछ दिनको तो मान लो त्यागे रहा वह चीज, सकोचवश उसका ग्रहण वह न कर सका, मगर बादमे वह उसका ख्याल भूल सकता है और वह फिर उसी मार्गमे लग सकता है। तब भी वह सच मार्गमे तो तब लग सकता है जब कि उसको आत्माका ज्ञान हो। इसलिए आत्माका धन ज्ञान है, दूसरा कोई वास्तविक धन आत्माका नही है।

(११५) सुख शान्तिका आधार विकारपरिहारक ज्ञानबल—सुख शान्तिसे रहना है तो ज्ञानके बलसे रहा जा सकता है, कोई दूसरा बल काम न देगा। मोक्षमें भी कोई जायगा तो वह ज्ञानके बलसे ही जायगा, किसी दूसरेके बलसे नही। जो बहुत तपश्चरण होते हैं— बैठ गए गर्मीमे सर्दीमे तो उन तपश्चरणोमे आत्माको ज्ञानमे लीन होनेका एक उपाय बनता है, मगर देह-तपनसे मोक्ष हो जाय सो बात नही। गर्मीमे बैठकर तपश्चरण किया तो उस स्थितिमे आत्माको ज्ञानप्रेरणा मिलती है। विषयोसे वैराग्य जगा उससे मोक्ष मार्ग मिला। सो भैया, करना तो सब पडेगा बाह्य व्यवहार चारित्र, मगर भीतरमे अन्तरात्मामें जोर देते हुए जो ज्ञानमे चलेगा उसको मोक्षकी प्राप्ति होगी। जब ज्ञान ही नही है तो फिर क्या करेगा? इसलिए आत्माका जैसे ज्ञान मिले, ज्ञान भी वास्तविक वह जो कि विषयविरतिसमृद्ध हो ऐसा ज्ञान मिले उस उपायमे लगना चाहिए और उसका उपाय क्या है? तो मुख्य उपाय उसके हैं दो— १–स्वाध्याय और २–सत्संग। इन दो साधनोंके सहारेसे ज्ञानमे चलनेकी प्रेरणा मिलेगी। इन दो साधनोसे अपने आपको जीवनमे बढ़ावें और ये जो बाहरी सग प्रसंग है घर द्वार, स्त्री पुत्रादिक ये तो मरनेपर छूटेंगे ही, ये साथ तो देंगे नही आगे। ज्ञान और वैराग्यका जो सस्कार यहाँ बना लेंगे वह अपना साथ देगा। यहांके कोई भी बाहरी समागम साथ न देंगे। जब ऐसा तथ्य है तो कुछ अपने आपपर दया करके अपने हितके लिए कुछ सोचना चाहिए कि हम एकदम बाहरके पदार्थोंमें ही ध्यान लगा लगाकर जो अपना जीवन गुजार रहे हैं इससे मेरेको नुकसान ही होगा, फायदा कुछ नही, क्योकि जिन बाहरी पदार्थो को हम अपना रहे वे कोई साथ न निभायेंगे। तो अपने सहज आत्मतत्त्वको पानेके लिए उन ५ पापोसे विरक्त होना जरूरी है सो इन ५ पापोंसे विरक्त होनेकी बात इस सूत्रमे कही जायगी। भावहिंसा–किसीका बुरा न विचारें, किसीका बिगाड करनेका यत्न न करें, किसी की झूठी बात न बोलें, किसीकी चीज न चुरायें, किसी परस्त्री अथवा परपुरुष पर गंदे विचार न बनायें, बाह्य परिग्रहोकी तृष्णा मत करें, इस प्रकार इन ५ प्रकारके पापोंसे जो विरक्त होना है उसे व्रत कह लीजिए। चारित्रमोहनीयके उपशम या क्षय या क्षयोपशमके निमित्तसे होने वाले औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक चारित्रके आविर्भावसे जो एक विरतिभाव उत्पन्न होता है, विषयोसे अत्यन्त पृथक्पना होता है उसको विरति कहते हैं। व्रत नाम है संकल्पपूर्वक नियम करना, जैसे कि यह ऐसा ही है, यह ही है, यो ही करना चाहिए इस प्रकारके तीव्र आशयसे जो अन्य बातोसे निवृत्त होना है उसका नाम नियम है। तो दृढ संकल्पसे किया हुआ शुभ प्रवर्तन सब जगह व्रत नाम पाता है।

(११६) बुद्धिसे अपाय होनेपर हिंसादिकोंमें ध्रुवत्वकी विवक्षाके कारण प्रथम पद

**में अपादानकारकत्वकी उपपत्ति**—इस सूत्रमे ३ पद हैं जिसमे प्रथम पद अपादानकारकमे है याने इन पापोसे। सो उसके विषयमे यहाँ शङ्का होती है कि अपादान कारक वहाँ लगाया जाता है जहाँ वस्तु ध्रुव हो और उससे कोई चीज अलग होती हो। तो जब हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पाप ध्रुव तो है नहीं, ये तो खोटे परिणाम हैं, अध्रुव हैं, क्षणमे होते है, विलीन होते हैं, तो जब क्षणिक हैं वे तो उनसे कुछ अपाय न हुआ इस कारण अपादान कारक यहाँ न लगाना चाहिए। यदि कोई इस शंकाका समाधान यह करे कि हिंसा आदिक पापोमे परिणत आत्मा ही हिंसा आदिक नाम पाता है क्योंकि हिंसा आदिक आत्मा के परिणाम हैं, सो वे कुछ आत्मासे अलग वस्तु नही है, तो यो पर्यायदृष्टि करनेसे हिंसा आदिकमें ध्रुवपनेकी कल्पना कर ली जायगी और इस प्रकार उनसे विरति करना व्रत है यह अर्थ बन जायगा। सो कहते हैं कि इस प्रकार भी अपादान कारक नही बनता, फिर कैसे बनता है कि बुद्धिमे उन्होने हिंसा आदिक पापोको एक मान लिया कुछ ध्रुवके ढगका, फिर उससे विरति हुई, यो अपादानकारक हो जायगा। हिंसा आदिक परिणामोको आत्मा ही मानकर अपादान न बन सकता था क्योकि आत्मा तो नित्य है, हिंसा आदिक अनित्य हैं मगर बुद्धिमे किसी चीजको ध्रुव रूपसे कल्पना करके अपादान कारक बन जाता है। जैसे यह कहना कि यह धर्मसे विरक्त होता है। कोई पुरुष धर्मको नही मानता तो उसको कहते हैं कि यह तुच्छ बुद्धि वाला मनुष्य धर्मसे विरत रहता है, तो ऐसा वाक्य बोलनेमे धर्म शब्द में पंचमी विभक्ति आ गई है। अपादान बन गया, कैसे कि उसकी बुद्धिमे धर्मके प्रति यह भाव जग रहा कि धर्म तो दुष्कर है, कठिनाईसे किया जाता है और फल भी इसका श्रद्धा-मात्र गम्य है। इस तरहसे एक धर्मभावके प्रति बोलनेके मूडमे ध्रुवत्वकी कल्पना करना, उसमे इद का प्रयोग करके ध्रुव मानकर अपादान कारक बना लिया जाता है, इसी प्रकार इन हिंसा आदिक परिणामोके प्रति ऐसी बुद्धि हुई। यह बुद्धिमान मनुष्य यो देखता है कि ये हिंसा आदिक परिणाम पापके कारण हैं और पापकर्ममे प्रवृत्ति करने वाले पुरुषको यहाँ भी राजा लोग दण्ड देते हैं और वह परलोकमे नाना प्रकारके दुःख प्राप्त करता है। सो अपनी बुद्धिसे ऐसा उसे पा करके उसे मानो ध्रुवरूप मानकर उससे बात करके यो ध्रुव समझकर वहाँसे अपादान बन जाता है तो बुद्धिके द्वारा ही इसमे ध्रुवपनेकी विवक्षा होनेसे अपादानपना इस सूत्रके प्रथम पदमे बन गया।

(११७) **अहिंसा व्रतकी प्रधानता होनेसे अहिंसाव्रतका प्रथम निर्देशन एवं विरतिकी सामान्यैकरूपता**—अब इन ५ नामोमे सबसे पहले अहिंसा व्रत कहा है। सो सबसे पहले कहनेका प्रयोजन यह है कि अहिंसा व्रत प्रधान है। शेषके जो चार व्रत हैं—सत्य, अचौर्य,

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सो ये भी अहिंसाका पालन करने वाले ही हैं। जैसे कि खेतीमे मुख्य बात है अनाज पैदा करनेकी। उसका ही पालन किया जाता है, उसकी ही प्रधानता है, पर बाड जो लगायी जाती है वह उस अनाजकी रक्षाके लिए लगायी जाती है, ऐसे ही मोक्षमार्गमे चलनेके लिए, उसके पालनके लिए, उसको निर्दोष निभानेके लिए सत्य आदिक व्रत कहे गए हैं। इस सूत्रमें विरति शब्द दिया गया है, उसका प्रत्येकके साथ योग किया जायगा। जैसे हिंसासे विरति, झूठसे विरति, चोरीसे विरति, अब्रह्मचर्यसे विरति और परिग्रहसे विरति। यहाँ विरति शब्द सबके साथ लगाया गया, ऐसा सुनकर एक शकाकार कहता है कि जब विरति अनेक हो गईं, ५ पापोसे विरतियाँ कराई गईं तो विरति शब्दमें बहुवचनका प्रयोग होना चाहिए था, एकवचनका प्रयोग क्यो कहा गया है ? जैसे कि गुड, तेल, चावल आदिक पकाये जाने योग्य हैं, उनके भेदसे विकासके भेद कर दिए जाते हैं। जैसे कहते हैं कि दो पाक हो गये, तीन पाक हो गये, ऐसे ही छोडने योग्य जो हिंसा आदिक भेद हैं उनसे जो त्याग कराया गया है सो भेदविवक्षा उत्पन्न हो गई इस कारण विरति शब्दको बहुवचनमें प्रयुक्त करना चाहिए ? इस शंकाके उत्तरमे कहते हैं कि ऐसी आशंका न करना, क्योकि यहाँ पर उन ५ पापोके विषयसे विरक्त होना, इससे कोई सामान्यको ही ग्रहण करना है। इस विषयके भेदसे विरतिमे भी भेद है ऐसी विवक्षा नही है। यहाँ जैसे कि गुड, तेल, चावल आदिकका पाक होता है यहाँ सामान्यकी जब विवक्षा होती है तो पाक शब्दमे भी तो एक वचन कर लिया जाता है, तो ऐसे ही ५ पापोसे वैराग्य होता है तो उस वैराग्य सामान्यकी विवक्षा है इस कारण विरति शब्दमे एकवचन लगाना न्याययुक्त है। इस ही कारण सर्वसावद्यनिवृत्तिरूप सामायिककी अपेक्षा व्रत एक है और जब भेदकी विवक्षा करें तो वह व्रत ५ प्रकारका है।

**(११८) व्रतोंके परिस्पंदवदर्शनके कारण सवररूपपना न होकर व्रतोकी संवरपात्रता होनेके कारण संवरपरिकर्मपना**—यहाँ शंकाकार कहता है कि इन व्रतोका अर्थात् ५ पापोसे निवृत्त होना व्रत है, इस बातका आश्रवके प्रकरणमे बोलना अनर्थक है, क्योकि इसका तो सम्वरमे अन्तर्भाव हो जायगा, सो जब सम्वर तत्त्वका अध्याय चलेगा तो उसमे यह स्वयं आ ही जाता है और कोई यदि ऐसा समाधान करनेकी कोशिश करे कि यह तो केवल कहने मात्रकी बात है कि व्रतोका अन्तर्भाव हो जाता है, तो सुनो—सम्वरके अध्यायमे दस धर्मोंका वर्णन आता है उन क्षमा आदिक दस धर्मोमे एक सयमधर्म भी है। उस उत्तम संयममें अहिंसा आदिक पांचो व्रतोका अन्तर्भाव हो जाता है या सत्य आदिक धर्म हैं उनमे अंतर्भाव हो जाता है। फिर यहाँ आश्रवके प्रकरणमे कहना अनर्थक है। यदि कोई ऐसा समाधान दे कि भले ही संयममे अन्तर्भाव हो जाता है पर यह संयमका विस्तार बता दिया, सयम किन-

प्रकारसे होता है उसके विस्तारमे यहाँ कथन कर दिया तो यह भी उत्तर उनका ठीक नही है, क्योंकि संयममे जिसका अतर्भाव है उसका यदि विस्तार करना है तो विस्तार वहाँ ही किया जा सकता है जिसमे कि इसका अन्तर्भाव है, पर सम्वरका प्ररूपण करने वाले अध्यायमे ये व्रत बताये जाते, यो संयममे अन्तर्भाव माना जा रहा है, सो यहाँ व्रतोका कहना अनर्थक रहा ना। अब उक्त शकाके समाधानमे कहते है कि ये जो ५ व्रत है ये संवर नाम नहीं पा सकते, क्योकि इन व्रतोमे परिस्पंद देखा जाता है, कोई प्रवृत्ति देखी जाती है। अशुभसे हटकर शुभमे प्रवृत्ति हो रही यह बात व्रतोमे पायी जाती और सम्वरमे परिस्पंदका भाव रहता है। कोई मनुष्य आरम्भका त्याग करता है तो इसके मायने हैं सत्य बोलता है, चोरीका त्याग किया, बिना दी हुई चीजका ग्रहण करना छोड दिया, मतलब दियाँ हुआ ही ग्रहण करता है। तो इस तरह इन ५ व्रतोमें परिस्पंद पाया जा रहा है इसी कारणसे इसको सम्वरमे अन्तर्भाव नही होता। यह आश्रवरूप है, और है शुभ आश्रव, मगर सम्वररूप नही बन पाते हैं। दूसरी बात यह है कि गुप्ति आदिक संवरोका वर्णन आगे किया जायगा, उससे इन व्रतोको भी सवरार्थ समझ लीजिए। यानि व्रत विधान करके ऐसी पात्रता उत्पन्न की गई कि अब वे गुप्ति आदिक संवरको कर सकेंगे इस कारणसे इन व्रतोंका पृथक् वर्णन करना सही है।

(११९) रात्रिभोजनविरतिका अहिंसाव्रतमें अन्तर्भाव—एक शकाकार कहता है कि रात्रिभोजनसे विरति होना यह भी तो एक व्रत है और छठवां अणुव्रत है, इस नामसे कही कथन भी किया जाता है सो उस रात्रिभोजनविरतिका भी इस सूत्रमें नाम दिया जाना चाहिए था। जैसे हिंसासे विरति, झूठसे विरति आदिक कहा गया ऐसे ही रात्रिभोजनसे विरति यह भी कहना चाहिए। तो इसके उत्तरमे कहते हैं कि रात्रिभोजनविरतिका अहिंसा व्रतकी भावनामे अन्तर्भाव हो जाता है। कोई प्रश्न कर सकता है कि भावनाओमे तो रात्रि-भोजनविरतिका नाम नही दिया गया। भावना भी प्रत्येक व्रतकी ५-५ कही गई, किन्तु वहाँ किसी भी व्रतकी भावनामे रात्रिभोजनविरति नही दिया गया। तो शङ्का यो न करना चाहिए कि अहिंसा व्रतकी भावनाओमे आलोकितपानभोजन ये शब्द दिये गए हैं, सो आलोकितपानभोजनका क्या अर्थ हैं? देख करके भोजन करना। सो इस शब्दसे ही रात्रि-भोजनविरतिकी बात आ जाती है, क्योंकि रात्रिमें अंधकार रहता है, वहाँ भोजन आदिक साफ दिखाई नही दे सकते इसलिए उसका त्याग स्वयं ही बन गया। इसपर एक प्रश्नकर्ता कहता है कि अगर दीपक आदिक जला दिए जायें, प्रकाश किया जाय तो रात्रिमे भी देख करके भोजनपान हो जायगा, जैसे कि देखकर भोजन करनेकी दृष्टिसे दिनमे भोजन करना बताया जा रहा है तो दीपक हंडा आदिकका जहाँ अच्छा प्रकाश हो वहाँ भी तो भोजनपान

सब दिखता है। तब रात्रिमे भोजन कर लिया जाना चाहिए ? तो यह प्रश्न भी ठीक नही है, क्योंकि दीपक आदिक करनेपर अनेक आरम्भके दोष आते है। अग्नि आदिकका साधन जुटाना आदिक दोष होते है, तो इसपर फिर वही प्रश्नकर्ता कहता है कि यदि दूसरा कोई पुरुष दीपक जला दे और इस तरह उसका आरम्भ किए बिना दीपकका उजेला मिल जाय तब तो रात्रिभोजन कर लिया जाना चाहिए वहाँ तो दोष न होता होगा ? तो इसके उत्तर में कहते है कि यह भी शङ्का ठीक नही है, क्योंकि वहाँ भली प्रकार आना जाना आदिक असम्भव है। हाँ सूर्यके प्रकाशसे, अपने ज्ञानके प्रकाशसे, इन्द्रियके प्रकाशसे जो मार्ग अच्छी तरहसे परीक्षित है, दूर तक देखा जा सकता है, ऐसे देश और कालमें चर्या करके साधुलोग आहार लेवें ऐसे आगममें उपदेश किया गया है, यह विधि रात्रिमे तो नहीं बनती है, रात्रिमे तो मलिनता बनती है, रात्रिमे आने जानेका कार्य भी नही बन सकता है अतएव रात्रिमे भोजन पान करना आलोकितभोजनपानमे नही आता।

(१२०) दिनमे लाकर रात्रिमें भोजन करनेपर भी अनेक पापारम्भोंकी विडम्बना— अब यहाँ वही प्रश्नकर्ता कहता है कि दिनमे भोजन ला दिया जाय और रात्रिमे भोजन कर लिया जाय, इसमे तो आरम्भ नही हुआ। तो इसके उत्तरमे भी यही समझना कि प्रदीप आदिकका समारम्भ तो हो ही गया और यह संयमका साधन नही है कि ला करके भोजन करना। सयमी जीव जो कि परिग्रहरहित है, हस्तपात्रमे ही जो आहार लेता है उसको कहीं से भोजन लाना कैसे सम्भव हो सकता ? यदि कुछ पात्र रख लिए जायें तो उसमे अनेक पाप लगते हैं। एक तो दीनताका भाव होता सो दीन चर्या बन जानेसे फिर तो निवृत्ति परिणाम सम्भव ही नही हो सकता। जिसके अतिदीनवृत्ति आ गई उसके पूर्ण निवृत्तिके परिणाम नही हो सकते, क्योंकि सर्व पापोका जहाँ त्याग किया गया वहाँ उस पात्रको जब ग्रहण कर लिया, बर्तन रख लिया तो पात्रका परिग्रह तो रहा ही रहा, पात्रसे लाकर परीक्षा करके भोजन भी करे कोई तो उस साधुको लाना, धरना, अलग करना आदिकसे होने वाले गुण दोष भी तो सोचने पडते हैं और जो आहार लाया गया उसके लानेमे भी और छोडनेमे भी अनेक दोष होते है। तो जैसे सूर्यके प्रकाशमे सर्व पदार्थ स्पष्ट दिखते है दाता, भूमि, जल, भोजन पान, गिरना रखना आदिक, उस तरहसे रात्रिको चद्रके प्रकाशमे नही दिखते, इस कारण दिनमें ही भोजन करना निर्दोष आचरण है। यह रात्रिभोजनका त्याग अहिंसा व्रतकी आलोकित-पानभोजन नामकी भावनामे अन्तर्भूत हो जाता है।

(१२१) प्रसंगविवरण—उक्त प्रकार व्रत ५ रहे। ५ पापोके त्यागमे ५ व्रत हुए। ये पांचों व्रत शुभभाव है और शुभभाव होनेसे शुभाश्रवके कारण है। ७वें अध्यायमे शुभ

आश्रवकी बात कही जा रही है। जैसे पहले अध्यायमे ज्ञानके उपाय बताये गए तो दूसरे तीसरे चौथे अध्यायमे जीवतत्त्वका वर्णन हुआ। तो छठवें और ७ वें अध्यायमें आश्रव तत्त्व का वर्णन है। छठवें अध्यायमे तो आश्रवका सामान्य कथन है। उसमे जुदे जुदे शुभ अशुभ की बात की गई है, उसका मात्र संकेत ही दिया गया है। ७वें अध्यायमे शुभ आश्रवकी बात कही जा रही है। इस प्रकार ५ पापोसे विरक्त होना व्रत है यह इस सूत्रका तात्पर्य हुआ। सप्तम अध्यायके इस प्रथम सूत्रमे सामान्यतया ५ प्रकारके विषयोंसे विरक्ति होनेरूप व्रतका कथन है। सो वे समस्त व्रत विरतिके आश्रयकी विवक्षामे दो ही प्रकार बन सकते हैं कि या तो वहा पूरी विरक्ति है या थोडी विरक्ति है। सो उन ही दो प्रकारोको अब सूत्रमे बताते है।

## देशसर्वतोऽणुमहती ॥७—२॥

(१२२) **व्रतके एकदेशविरति व सर्वदेशविरतिके भेदसे दो प्रकार**—विरति दो प्रकारकी है—(१) एकदेश विरति (२) सर्वदेश विरति। एकदेशसे विरक्त होनेका नाम अणुव्रत है, सर्व देशसे विरत होनेका नाम महाव्रत है। देश शब्द दिश् धातुसे बना है, जिसकी निरुक्ति है—कुतश्चित् अवयवात् दिश्यते इति देश कुछ अवयवोसे जो कहा जाय उसे देश कहते है अर्थात् एक देश। और सर्वकी निरुक्ति है—सरति अशेषान् अवयबान् इति सर्वः। जो समस्त अवयवोको प्राप्त हो उसको सर्व कहते हैं। सर्व, मायने परिपूर्ण। सो यहा देश और सर्व इन दो शब्दोमे द्वन्द्व समास किया गया है और फिर पचमी अर्थमे तसल् प्रत्यय किया गया है, जिसमे अर्थ हुआ कि एक देश और सर्वदेशोंसे। पूर्व सूत्रसे विरति शब्द की यहाँ अनुवृत्ति की गई है तब अर्थ हुआ कि एक देशसे विरक्त होना और सर्वदेशसे विरक्त होना अणुव्रत और महाव्रत है। अणु और महान् ये दो शब्द विशेषण हैं। पूर्व सूत्रसे व्रत शब्दकी अनुवृत्ति लाकर यहाँ अणुव्रत और महाव्रत अर्थ होता है, इस ही से इस द्वितीय पद को द्वन्द्व समास करके नपुसक लिगमे द्विवचनमे रखा गया है। यहाँ कोई जिज्ञासा करता है कि व्रत होता है एक अभिप्राय और सकल्पकी दृढतापूर्वक। जैसे मैं हिंसा न करूँगा अथवा नही करता हू, मैं झूठ नही बोलता हू या न बोलू या बिना दी हुई चीज न लूं मैं किसी अगनाका स्पर्श न करूँ, मैं परिग्रहको न ग्रहण करूगा, ऐसी दृढताके साथ अभिसधि करना, प्रयोग करना भाव बनाना व्रत कहलाता है। सो यहाँ यदि कोई इन भावोके करनेमें असमर्थ हो या ढीला हो जाय तो वह इस व्रतको कैसे निभा सकेगा, उसका कोई उपाय होना चाहिए ? तो इस जिज्ञासुकी मार्गसाधनाके लिए कहते है कि उन सर्व व्रतोकी ५-५ भावनायें होती हैं। उन भावनाओके आनेसे व्रतोमे दृढ़ता आती है। यही बात अब सूत्रमे कहते हैं।

## तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥७-३॥

(१२३) **व्रतोंकी स्थिरताके लिये पांच पांच भावनावोंकी वक्ष्यमाणताका निर्देश**— उन व्रतोंकी स्थिरताके लिए ५-५ भावनायें होती है। यहां भावना शब्द कर्मसाधनमें आया है, जिससे अर्थ हुआ कि वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे और चारित्रमोहके उपशमसे अथवा क्षयोपशमसे एव अगोपाग नामकर्मके लाभसे आत्माके द्वारा जो भायी जायें सो भावनायें हैं। यहाँ इस बातका सकेत किया है कि चारित्रमोहके उपशम क्षयोपशमसे ये भावनायें बनती है। भावनाओंके बननेमे मन आदिक अंगोपांगका साधन चाहिए और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी आवश्यकता शक्तिके लिए है। शक्ति हो, कषाय मद हो, मन आदिक उचित हो तो ये भावनायें बनती हैं, यहाँ एक शंका होती है कि सूत्रमे पच पंच शब्द देकर बताया है कि ५—५ भावनायें हैं, तो पच-पच दो बार न कहकर केवल एक बार पंच कह कर उसमे शस्लृ प्रत्यय लगा देना चाहिए जिससे पचशः यह अव्यय पद बन जाता है। ऐसा करनेसे एक शब्द कम हो जाता है। सूत्र लघु बन जाता है फिर ऐसा क्यो नही किया गया? इस शंकाके उत्तरमे कहते हैं कि यहाँ कारकका अधिकार है कि ५-५ भावनायें हैं। पहले से ही यह अर्थ चला आ रहा, क्या क्या है, इस कारण यहाँ शस्लृ प्रत्यय वाली बात नही बनती। तो प्रश्नकर्ता कहता है कि हम यहाँ भावयेत् क्रियाका अध्याहार कर लेंगे अर्थात् ऊपरसे लगा लेंगे तब बराबर वाक्य बन जायगा। उस समय सूत्रका अर्थ इस प्रकार होगा कि व्रतोकी स्थिरताके लिए ५-५ भावनायें भानी चाहिएँ। शस्लृ प्रत्यय भी डबल अर्थ मे होता है। उत्तरमे कहते हैं कि ऐसा किया जाना योग्य नही है, क्योंकि यहाँ विकल्पका अधिकार है, भेद बताया जानेका अधिकार है। दूसरा शस्लृ प्रत्यय विकल्पसे हुआ करता है किया भी जाय न भी किया जाय और फिर यहा क्रियाका अध्याहार करना एक बुद्धिसे ही सोचा जाता है। प्रकरणमे कही शब्द अनुवृत्तिके लायक नही है कि भावना करना चाहिए और फिर क्रियाका अध्याहार करे उसका अर्थ लगाये इससे जानकारी कठिन हो जाती है। स्पष्ट अर्थ नही झलकता, इस कारण स्पष्ट अर्थ समझनेके लिए पंच पंच ऐसा स्पष्ट निर्देश करना उचित है। ५ व्रतोमेसे प्रथम व्रत जो अहिंसा व्रत है उसकी ५ भावनायें कहते हैं।

## वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥७-४॥

(१२४) **वचनगुप्ति व मनोगुप्ति विषयक भावनावोंकी अहिंसाव्रतसाधकता**—अहिंसा व्रतकी ५ भावनायें ये हैं—(१) वचनगुप्ति, (२) मनोगुप्ति, (३) ईर्यासमिति (४) आदाननिक्षेपण समिति और (५) आलोकितपानभोजन। वचनको वश करना वचनगुप्ति है। जो पुरुष मौनसे रहे, जिसके नियंत्रणमे वचन है, सो वचनोके प्रयोगसे जो अपने चित्तका उम्भ्रम

होता है और दूसरेको क्लेशोत्पत्तिकी सम्भावना हो सकती है वह सब न होनेसे वचनगुप्तिका प्रयोग करना। यह वचनगुप्तिकी भावना अहिंसा व्रतका साधक है। वचन बोलकर या तो राग बढता है या द्वेष बढ़ता है तो राग और द्वेष दोनो ही हिंसारूप हैं और द्वेष बढ जाय तो उसके इस जीवनमे भी विडम्बनाका रूप हो जाता है इस कारण वचनगुप्तिकी भावना करने वाला और यथाबल वचनगुप्तिका प्रयोग करने वाला अहिंसा व्रतका साधक होता है। मनोगुप्तिका अर्थ है मनको वशमे करना। पाप, हिंसा, अपनेको सताना, दूसरे जीवोंके दुःखका निमित्त होना ये सब मनसे हुआ करते हैं। जिसने मनको वश किया, ज्ञानकी लहरसे मनको पवित्र बनाया उसके अहिंसा व्रतकी साधना सम्भव है इस कारण यथाबल मनोगुप्ति करना। मनोगुप्तिकी भावना रखना अहिंसा व्रतका साधक है।

(१२५) **ईर्यासमिति आदाननिक्षेपणसमिति व आलोकितपानभोजन-विषयक भावनावोंकी अहिंसाव्रत साधकता**—ईर्यासमिति—अच्छे परिणामसे अच्छे कार्यके लिए दिन मे खूब देख भालकर चलना ईर्यासमिति कहलाती है। ईर्यासमितिसे प्रवृत्ति वाले पुरुषके हिंसा टलती है, भावहिंसा भी दूर है, द्रव्यहिंसा भी दूर होती है अतः ईर्यासमितिकी भावना अहिंसा व्रतका साधक है। आदाननिक्षेपणसमिति—कोई चीज धरना अथवा उठाना तो देख भालकर उस वस्तुको शोधन करना, धरना उठाना आदाननिक्षेपणसमिति है। इस प्रकारकी जो क्रिया मे चलता है और ऐसी शुभ प्रवृत्तिकी भावना रखता है उसके अहिंसाव्रतकी साधना होती है और इस कारण आदाननिक्षेपणसमिति अहिंसा व्रतकी साधक है। आलोकितपानभोजन—देखा हुआ भोजन पान करना आलोकितपानभोजन है अर्थात् दिनमे भले प्रकार देख शोधकर भोजन पान करना इस प्रकार जो रात्रिभोजन त्याग रखता है और इस प्रकारकी भावना रखता है, उसका यह आलोकितपानभोजन अहिंसाव्रतका साधन है। अहिंसाव्रतकी शुद्धि निर्दोष चाहने वाले पुरुषोंको ये ५ भावनायें भाना चाहिये। अब सत्य व्रतकी भावनाओंका सूत्र कहते हैं।

**क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च॥७-५॥**

(१२६) **सत्यव्रतकी पांच भावनावोंका निर्देशन**—सत्य व्रतकी ५ भावनायें इस प्रकार है—(१) क्रोधप्रत्याख्यान, (२) लोभप्रत्याख्यान, (३) भीरुत्वप्रत्याख्यान, (४) हास्यप्रत्याख्यान और (५) अनुवीचिभाषण। क्रोधभावका त्याग करना क्रोधप्रत्याख्यान है। जो पुरुष क्रोधसे आवृत रखता है, क्रोध किया करता है क्योकि क्रोध एक ऐसा नशा है कि जिसमें वह सत्पथ भी भूल जाता है और उस क्रोधमे जैसा वह बिगाड चाहता है किसीका उस बिगाडके उपायोंका मनन भी साथ चलता है इस कारण क्रोध करना सत्य व्रतको भग कर देता है। सो सत्य व्रतकी रक्षा करने वालोको क्रोधका त्याग करना चाहिए। लोभ

प्रत्याख्यान—लोभ कषायका त्याग करना लोभप्रत्याख्यान है। किसी भी बाह्य पदार्थोंके लोभमें अथवा अपने आपके पर्यायकी प्रसिद्धि आदिकके लोभमे ऐसा यह भाव उत्सुक होता है और उस लोभसंगतिमे बढ़ता है कि वह असत्य वचनोंका प्रयोग करके भी लुभाये गए पदार्थोंका संग्रह करना चाहता है। तो जो पुरुष लोभ रखता है उसका झूठ बोलना बहुत कुछ सम्भव है इस कारण सत्य व्रतकी रक्षा करनेके लिए लोभ परित्यागकी भावना करना चाहिए। भीरुत्वप्रत्याख्यान याने डरपोकपनेका त्याग कर देना, जो मनुष्य कायर होता है, जरा-जरासी घटनाओमे भयभीत होकर कायर बनता है तो वह अपनी कल्पित रक्षाके लिए किसी भी असत्य साधनका प्रयोग कर सकता है, असत्य बोल सकता है। तो सत्य व्रतकी रक्षा करनेके लिए ऐसा ज्ञानबल बढ़ना चाहिए कि जिससे कायरता न रह सके। हास्यप्रत्याख्यान—हँसीका त्याग करना हास्यप्रत्याख्यान है। जो पुरुष दूसरोका उपहास करता है तो उस मजाक करनेकी प्रवृत्तिमे अनेक बार असत्य बोलनेके प्रसंग हो जाते हैं, अतः सत्य व्रतकी रक्षा करने वालेको हास्यका परित्याग करना चाहिए। अनुवीचिभाषण—आगमके अनुकूल वचन बोलना अनुवीचिभाषण है। यहां शंकाकार कह सकता है कि फिर तो अशुभ क्रियावो वाले वचनोसे भी बोलना अनुवीचिभाषणमे आ जायगा, उत्तर देते हैं कि नही। आगमके अनुसार बोलनेका यहाँ भाव है कि व्रत आदिक शुभ प्रवृत्तियोके बारेमे आगमके अनुसार बोलना, क्योकि यह प्रकरण पुण्याश्रवका है। अप्रशस्त क्रियावोके बारेमे अनुवीचिभाषण का अधिकार नही है अथवा अनुवीचिभाषणका अर्थ कीजिए—विचार करके भाषण देना, बिना विचारे जो शीघ्र भाषण कर देते हैं उनके असत्य बोलनेके प्रकरण बन जाया करते है अतः सत्यव्रतकी रक्षा करनेके लिए अनुवीचिभाषण करना चाहिए। ये सत्यव्रतकी ५ भावनायें हैं। अब तृतीय व्रतकी भावनायें बताते हैं।

## शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥७-६॥

(१२७) अचौर्यव्रतकी पांच भावनाओंका निर्देशन—अचौर्य व्रतकी ५ भावनाये इस प्रकार है—(१) शून्यागारावास, (२) विमोचितावास, (३) परोपरोधाकरण, (४) भैक्ष्यशुद्धि और (५) सधर्माविसम्वाद। (१) सूने घरमे रहना यह अचौर्यव्रतकी प्रथम भावना है। पर्वत की गुफायें, वृक्षोकी खोह आदिक स्थानोमे रहनेसे वहाँ चोरीके आश्रयभूत बाह्य पदार्थोंका प्रसंग न होनेसे अचौर्य व्रतकी स्थिति दृढ रहा करती है। इस कारण अचौर्य व्रतकी रक्षाके लिए सूने आगारोमे रहनेकी भावना व यथाबल प्रयोग करना चाहिए। (२) छोड़े हुए दूसरे के आवासोमे जिनमे दूसरे कोई गृहस्थ रहते थे और रोग महामारी या अन्य उपद्रवोके कारण उस स्थानको बिल्कुल छोडकर चले गए, एकदम वह सूना स्थान है तो ऐसे स्थानोमे रहना

यह अचौर्यव्रतकी दूसरी भावना है। ऐसे स्थानमे रहनेपर चोरीके आश्रयभूत बाह्य पदार्थोंका सम्बंध न होनेसे अचौर्य व्रत भली भाँति पलता है, इस कारण अचौर्य व्रतकी रक्षाके लिए यह दूसरी भावना कही गई है। (३) परोपरोधाकरण—दूसरेको निवास करनेसे रोकना नही, यह तृतीय भावना है। प्रथम बात तो यह है कि दूसरोको ठहरानेसे वही पुरुष रोक सकता है जिसके पास कुछ परिग्रह हो, द्वितीय बात यह है कि कुछ अपनी क्रियामे त्रुटि हो, सो वह अपनी त्रुटि छिपानेके लिए अथवा कोई कुछ चुरा न ले जाय इस भावनासे दूसरेको मना करेगा। तो उसको ऐसी अपनी निःशल्य स्थिति रखना चाहिए कि दूसरेको मना करनेका प्रसग ही न करना पडे। तब प्रवृत्ति यह रखना चाहिए कि जहाँ खुद ठहरे हैं वहाँ कोई भी साधर्मी आकर ठहरे, किसीको मना न करना, यह भावना अचौर्य व्रतकी साधक है। (४) आचार शास्त्रके मार्गके अनुसार भिक्षावृत्तिकी शुद्धि रखना भैक्ष्यशुद्धि है। मार्गानुसार आहार करने वाले पुरुषके आहारविषयक चोरीकी सम्भावना नही है अथवा अपने किसी बुरे परिणामको करने और छुपानेकी आवश्यकता नही होती, इससे भैक्ष्यशुद्धि अचौर्यवृत्तिकी साधक है। (५) यह मेरा है, यह तुम्हारा है, ऐसा साधर्मी जनोके साथ विसम्वाद न करना अचौर्य व्रतकी साधक है। मेरा तेराका भाव रखनेमे प्रथम तो उसमे ममताका भाव आया, सग्रहका भाव आया सो विशुद्धिकी हानि हो गई और फिर मेरा तेरा कहनेके प्रसंगमे कभी कोई विवाद हो जाय कि दूसरे भी यह कहने लगें कि यह मेरा ही है, तुम्हारा नही है और वे कहे कि मेरा ही है, तो ऐसे प्रसगमे उस चीजके चुरानेके उससे आँख बचाकर लेनेकी भावना बन जाया करती है, इस कारण अचौर्य व्रतकी सिद्धिके लिए सधर्माविसम्वाद नामक भावना भी भाना व उसका प्रयोग करना चाहिये। ये अचौर्यव्रतकी ५ भावनायें हैं। अब ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाओको कहते हैं—

**स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरता-**
**नुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥७-७॥**

( १२८ ) **ब्रह्मचर्यव्रतकी स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग व स्त्रीमनोहराङ्गनिरीक्षणत्याग एवं पूर्वरतानुस्मरणत्याग नामकी प्रथम, द्वितीय व तृतीय भावना**—इस सूत्रमे ब्रह्मचर्य व्रतकी ५ भावनायें कही गई हैं— [१] स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग—स्त्रियोमे राग उत्पन्न होना इस प्रकारके कथनके सुननेका त्याग करना, क्योकि यदि स्त्रीरागविषयक कथन सुनते रहेंगे तो उसका मन मलिन होगा और कामविषयक कल्पनायें जगने लगेंगी और उस ही का मन कर कर यह जीव मनसे वचनसे कायसे ब्रह्मचर्यसे च्युत हो सकता है। इस कारण ऐसी कथावोके सुननेका त्याग करना आवश्यक ही है। सो उसका त्याग करना और त्यागकी

भावनायें निभाये रहना यह ब्रह्मचर्य व्रतकी प्रथम भावना है। द्वितीय भावना है स्त्रीमनोहराङ्गनिरीक्षण त्याग। स्त्रियोके सुन्दर अगोके निरखनेका त्याग करना। कामसंस्कार वाले पुरुषोको जो स्त्रियोके अग निरन्तर लगा करते है, हाथ, मुख, जंघा आदिक ऐसे किसी भी अंगोंका निरीक्षणका भाव करता रहेगा और कुछ उस ओर प्रयत्न रहेगा तो इसका मन कलुषित होगा और उस भावनामे रह रहकर यह शील व्रतसे च्युत हो जायगा। इस कारण मनोहर अङ्गोके निरीक्षणका त्याग अनिवार्य है, अंतः उस त्यागकी भावना बनाये रहना, उसके विरुद्ध कल्पना न जगना सो यह ब्रह्मचर्यव्रतकी दूसरी भावना है। ब्रह्मचर्यव्रतकी तृतीय भावना है पूर्वरतानुस्मरण त्याग। पहले जो भोग भोगे उनके स्मरणका त्याग करना। यदि कोई पुरुष पहले भोगे हुए भोगोकी याद करता है तो उस यादमे उसे भोगविषयक वासना जग सकती है और उसका ही ख्याल कर, कल्पना कर यह उस ओर आसक्त होकर पुन: जो वर्तमान कोई संयोग प्राप्त हो उसके यत्नमें, उसके भावमे यह ब्रह्मचर्यसे च्युत हो सकता है। इस कारण पहले भोगे हुए भोगोके स्मरणका त्याग होना अनिवार्य है। वास्तविकता तो यह है कि जिनको आत्मज्ञान जगा है, जो सयममार्गमें आगे बढे है उनके अंतस्तत्त्व की धुन रहनेके कारण उस श्रमणनिरीक्षणके स्मरणकी ओर दृष्टि ही नही जाती। आत्मानुभवके प्रकरणसे उन्हे फुरसत ही नही है खोटे भावोमे आनेकी। और फिर भी कदाचित् चारित्रमोहके विपाकवश कुछ थोडी कल्पनासी जगे तो ज्ञानबलसे उस कल्पनाको वही तोड़ कर यह ज्ञानी अपने शीलको सुरक्षित रखता है।

(१२९) **ब्रह्मचर्यव्रतकी वृष्येष्टरसत्याग व स्वशरीरसस्कार त्याग नामकी चतुर्थ व पंचम भावना**—ब्रह्मचर्यव्रतकी चतुर्थ भावना है वृष्येष्टरस त्याग याने वृष्य इष्ट रसका त्याग करना। जो रस भोजन कामोत्तेजन हो, रसना इन्द्रियको प्रिय हो, ऐसे रसका परित्याग करना। यदि कामोत्तेजक औषधियाँ भस्म रस आदिकका सेवन रहा तो उससे शरीरमे उत्तेजना होगी और तदनुरूप वासना उभरने लगेगी, जिसके कारण यह शीलसे च्युत हो सकता है। और जो शीलसे च्युत हुआ उसका मन मलीमस हो जानेसे फिर वह मोक्षमार्गका पात्र नही रहता। तो इस कारण कामोत्तेजक इष्टरसका त्याग करना अनिवार्य है और उसकी भावना बनाये रखना कर्तव्य है। ब्रह्मचर्यव्रतकी ५ वी भावना है स्वशरीरसंस्कार त्याग। अपने शरीरके संस्कारका त्याग करना। जो पुरुष शरीरके संस्कारपर दृष्टि करता है, सस्कार करता है उस पुरुषके पर्यायबुद्धि है। शरीरको अपना माना, आपा समझा तब ही तो शरीर के संस्कार पर इसका उपयोग गया है। सो जिसको शरीरमे आत्मबुद्धि है, शरीरके सस्कार मे लगा है तो उसके कामवासना भी उभरने लगती है और वहाँ यह सस्कार करने वाला

तो भावोमे मलीमस होता ही, पर अन्य पुरुष स्त्रीजन जो इस ही वासनाके विचारके हो वे इसके शरीरको संस्कृत सुथरा देखकर आकर्षित होने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि संस्कार करने वाला यह पुरुष शील व्रतमे पतित हो जाता है। इस कारण हिताभिलाषी पुरुषो को अपने शरीरके सस्कारका त्याग करना योग्य है, अत इसकी भावना बनाये रखते जिससे कि कभी दुराचारभावका अवसर न आये। यह मोक्षार्थीका कर्तव्य है। इस प्रकार ब्रह्मचर्यव्रतकी ५ भावनायें कही।

## मनोज्ञाऽमनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ॥७-८॥

(१३०) **परिग्रहविरतिनामक व्रतकी पाच भावनायें**—इस सूत्रमे परिग्रह त्याग व्रत की भावनायें कही गई है। ५ इन्द्रियके विषय तो परिग्रह हैं। यदि कोई धन वैभवका सग्रह करता है तो वह इन विषयोके साधनोके प्रयोजनसे ही तो करता है। साथ ही मन भी अपने विषयोमे लगा रहता है, तो चूँकि विषयोकी साधना ही खुद परिग्रह है और विषयसाधनाके लिए ही चेतन अचेतन परिग्रह जोडे जाते हैं, सो परिग्रहत्यागव्रतको ठीक रखनेके लिए इन्द्रियविषयोका त्याग करना, उनमें रागद्वेष न करना यह आवश्यक हो जाता है। सो जो इन्द्रियविषय मनोज्ञ हो, इष्ट हो उनमे रागका त्याग करना और जो इद्रियविषय अमनोज्ञ हो, इष्ट हो, अनिष्ट हो उनमे द्वेषका त्याग करना ये परिग्रहत्यागकी ५ भावनायें हैं। कदाचित् ऐसा इष्ट अनिष्ट विषय न चाहते हुए भी सामने उपस्थित हो जाय और वहां इन विषयोकी ओर यह चित्त देने लगे तो वह इन विषयोको सुखकारी समझकर उनकी ओर आकर्षित होगा और आकिंचन्यव्रतका भग हो जायगा। परिग्रहत्याग आकिंचन्यव्रत ही तो है, सो आकिंचन्यव्रतको स्थिर रखनेके लिए विषयोमे रागद्वेष न करनेकी भावना बनाये रहना मोक्षार्थीका कर्तव्य है। यहा इन ५ व्रतोकी दृढताके लिए भावनायें बतायी गई हैं। तो अब इन भावनाओकी पुष्टिके लिए विरुद्ध बातोका क्या फल होता है, यह बतानेके लिए सूत्र कहते हैं।

## हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥७-९॥

(१३१) **हिंसा झूठ चोरी पापसे उभयलोकमे होने वाले अपायका चिन्तन**—हिंसा आदिक पापोमे इस लोकमे अन्याय देखा जाता है। अनेक प्रकारकी आपत्तियां विघात देखी जाती हैं, और परलोकमे इन पापोका कटुक फल मिला करता है। इस प्रकार हिंसा आदिक पापोकी दुष्टताका दर्शन करना यह पचव्रतोकी भावनाको दृढ करने वाली भावना है। अपाय का अर्थ है स्वर्ग और मोक्ष पदार्थका उनकी क्रियावोके साधनोका नाश करना अपाय है। अथवा इस लोक सम्बन्धी ७ प्रकारका भय हो जाना अपाय है। अवद्य निन्द्यतत्त्वको कहते हैं। हिंसा आदिक पापोके करनेसे जो वह हिंसक है वह सदैव उद्वेगमे रहा करता है और

हिंसकका वह सदैव बैरी रहा करता है। सो यह हिंसक यहाँ ही बंधनक्लेशादिकको प्राप्त करता है और पापकर्म बंधके कारण उनके उदयमे वह अशुभगतिको प्राप्त करता है हिंसक लोकमे निंद्यनीय भी होता है। इस कारण हिंसासे विरक्त रहना ही श्रेष्ठ है। झूठ बोलने वाला पुरुष लोगोकी श्रद्धासे गिर जाता है, फिर लोग उससे कुछ भी सम्बंध करना नहीं चाहते। झूठ बोलने वाला पुरुष इस लोकमे भी अनेक प्रकारके दंड पाता है। प्रजा द्वारा, सरकार द्वारा उसकी जिह्वा छेद दी जाय, आदिक अनेक प्रकारके दण्ड दिए जाते हैं। जिनके सम्बधमें वह पुरुष झूठ बोलता है वे वे सब इसके बैरी हो जाते है। तो जो बैरी हो गए वे इस पर अनेक आपत्तियाँ ढाते हैं। सो असत्यवादी इस लोकमें भी बहुत दुःख प्राप्त करता है और मरकर अशुभ गतिमे जाता है। इस कारण असत्य बोलनेसे विरक्त रहना ही चाहिए। चोरी करने वाले पुरुषका सब लोग तिरस्कार करते है, उसे निकट भी नही बैठने देते। चोर पुरुष इस ही लोकमे अनेक प्रकारके दडोको भोगते हैं। जैसे जनताके लोग या सरकारी कर्मचारी उसे मारते पीटते है, उसे बाँधते हैं, गिरफ्तार करते है, रस्सियोसे बांधकर डाल देते हैं; हाथ, पैर, कान, नाक आदिक छेद डालते हैं और उनके पास जो कुछ भी सम्पदा हो वह सब छुड़ा ली जाती है। चोर पुरुष इस लोकमे दण्डोको भोगता है और मरकर अशुभगतिमे जाता है। लोकमे वह बहुत निन्द्य होता है, इस कारण चोरी पापसे विरक्त होना ही कल्याणकारी है।

**(१३२) कुशील और परिग्रह पापसे उभयलोकमें होने वाले अपायका चिन्तन**—जो पुरुष कुशीलका सेवन करते हैं वे हमेशा कामके साधनोके वश रहा करते हैं और मदोन्मत्त हाथीकी तरह कामसाधनोके पीछे घूमते फिरते हैं। कुशील पुरुषोको लोग पीटते हैं, बध करते है, बाँधते है, अनेक प्रकारके कष्ट दिया करते हैं। जैसे कामासक्त पुरुष मोहसे दब जानेके कारण कर्तव्य और अकर्तव्यके विवेकसे रहित हो जाते हैं और ये किसी भी शुभ कर्मक्रियाके करने लायक नही रहते। परस्त्रीगामी पुरुषोपर यहीके लोग बडी आपत्तियाँ डालते है और उनके कामसाधनभूत अगोको छेद डालते हैं और उनका सर्वस्व वैभव हरण कर लिया जाता है। सो कुशील पुरुष इस लोकमे भी बहुत आपत्ति पाते हैं और मरकर अशुभ गतिमें जाते हैं, लोगोके द्वारा वे निन्द्य रहते है। इस कारण कुशील नामक पापसे विरक्त होना ही कल्याणकारी है। जो पुरुष परिग्रहकी तृष्णामे बढे चले जा रहे है वे पुरुष अन्य पुरुषोके द्वारा अनेक प्रकारसे झपटे जाते हैं। जैसे कि किसी पक्षीकी चोचमे पंजोमे मांसपिण्ड पडा हो तो अन्य पक्षी उस पक्षीपर झपटा करते हैं, ऐसे ही परिग्रहवान पुरुषपर अन्य लोग चोर, डाकू, राजा आदि सब झपटा करते है। परिग्रही पुरुष बड़े विकल्पमे रहकर अपने मनको व्यथित करता रहता है, वह चोरो के द्वारा तिरस्कृत होता है। अनेक डाकू उसका धन भी हर लेते हैं और उसके प्राणोका भी

घात कर डालते हैं। परिग्रहके उपार्जनमे अनेक सक्लेश और आपत्तियाँ हैं और परिग्रह जुड भी जाय तो उसकी रक्षा करनेमे अनेक आपत्तियाँ है, सक्लेश हैं और कदाचित् रक्षा करते हुए भी उसका विनाश हो जाये तो उसमे सक्लेश भोगना पडता है। परिग्रहकी लालसा वाले पुरुषोको जीवनमे कभी तृप्ति हो नही पाती। जैसे कि अग्निको ईंधनसे तृप्ति नही हो सकती अग्नि बढती ही चली जायगी ऐसे ही परिग्रहसे इस जीवको कभी तृप्ति हो ही नही सकती। वे लालसाकी अग्निसे जलते ही चले जायेंगे। परिग्रहका इच्छुक लोभके वशीभूत है, सो वह कर्तव्य अकर्तव्य कुछ भी नहीं गिनता, सो वह इस लोकमें ही अनेक बाधावोको प्राप्त करता है और मरकर अशुभगतिमे जन्म लेता है। यह लोभी है, यह कृपण है आदिक रूपसे लोक मे निन्द्य होता है, इस कारण परिग्रहसे विरक्त होना ही लाभप्रद है। इस प्रकार हिंसा आदिक पापोमे विघात और अवद्यका देखना ५ व्रतोकी स्थिरताके लिए आवश्यक कर्तव्य है। अब हिंसा आदिक पापोंमें अन्य प्रकारकी भावनायें बतानेके लिए सूत्र कहते हैं।

## दु:खमेव वा ॥७—१०॥

(१३३) हिंसादि समस्त पापोंकी दु खकारणता व दु.खरूपता—हिंसा आदिक पापो के सम्बन्धमे यह भावना और ध्यान रखनी चाहिये कि हिंसा आदिक पाप दुःखस्वरूप हैं। यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि दुःख तो असातावेदनीयके उदयसे होने वाला संताप परिणाम है और हिंसा आदिक क्रिया विशेष है, उनको दु ख ही कैसे कह दिया गया? दु ख करने वाला है, दुःखके कारण हैं, इन शब्दोसे कहते तब तो उचित था, पर यह स्वय दु ख ही है, यह कैसे कहा गया है? इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं कि यहाँ कारणमे कार्यका उपचार करके सुगम बोधके लिए इस प्रकार कहा गया है। जैसे लोकमे कहते हैं कि अन्न ही प्राण है तो प्राण तो जुदी चीज है, अन्न जुदी चीज है, किन्तु यदि अन्न न खाया, भोजन त्याग करदें या न मिले तो ये प्राण नहो टिक सकते। तो प्राण टिकनेके कारणभूत है अन्नादिक सेवन, तो प्राणके कारणभूत अन्नमे प्राणका जैसे उपचार किया जाता है इसी प्रकार दु'खके कारणभूत हिंसा आदिकमे ये पाप दुःख ही हैं, इस प्रकारका उपचार किया गया समझना, अथवा कभी कभी तो कारणके कारणमे भी कार्यका उपचार होता है। जैसे प्राणका कारण तो अन्नपान है और भोजनादिक अन्न आदिक कैसे लाये जायें तो उसका उपाय है पैसा। तो कभी ऐसा भो कहा जाता कि यह पैसा ही प्राण है, तब ही तो कोई पुरुष धन हर ले तो कहा करते हैं कि वह उसका प्राण हरता है। तो तीसरी बात यह है कि हिंसा आदिक पाप असातावेदनीय कर्मबन्धका कारणभूत है और असातावेदनीय कर्म दुःखका कारणभूत हैं। तो दुःखके कारणके कारणका दुःखका उपचार किया गया है। दुःखके कारण

हैं असातावेदनीय कर्मविपाक और असातावेदनीयके बन्धका कारण है हिंसा आदिक पाप, ये दु ख ही हैं, ऐसा उपचार किया गया है।

(१३४) पापविरक्त संतोंका चिन्तन—पापोसे विरक्त रहने वाले जनोका ऐसा चिन्तन होता है कि जैसे बधपोडा मेरेको अप्रिय है उसी प्रकार सर्व प्राणियोको बधपीडा अप्रिय होती है। जैसे उसके विषयमे कोई मिथ्या बात कही, कटुक वचन बोला तो उनको सुनकर जैसे मेरे अत्यन्त तीव्र दुःख होता है ऐसे ही खोटे वचनोसे सर्व जीवोको दुःख पहुंचता है और जैसे मेरे इष्ट द्रव्यका वियोग हो जाय, कोई मेरी चीज चुरा ले जाय तो बडी तकलीफ होती है इसी प्रकार दूसरोका द्रव्य हरा जानेसे उन्हे अत्यन्त कष्ट होता है। और जैसे मेरे स्त्रीजनोका तिरस्कार होने पर तीव्र मानसिक पीडा होती है उसी प्रकार अन्य जनों को भी इस कुशीलके प्रसगमे पोडा होती है और जैसे मेरा परिग्रह नष्ट हो जाय या प्रयत्न करने पर भी प्राप्त न हो तो उसकी इच्छा रखनेसे और शोकसे दुःख उत्पन्न होता है इसी प्रकार सर्व प्राणियोको दु ख होता है। ऐसी भावना करके अपने समान दूसरोंका दुःख विचारकर हिंसा आदिक पापोसे विरक्त रहना ही चाहिए।

(१३५) वैषयिक सुखोंकी दुःखरूपता—यहाँ शंकाकार कहता है कि हिंसा आदिक पापोको दुःख रूप ही बताया जा रहा है, सो यह एकान्तसे कहना ठीक नही लग रहा, क्योकि मैथुन प्रसंगमे अर्थात् अब्रह्मचर्य नामक पापमे स्पर्शकृत सुख पाया जाता है। जैसे किसी श्रेष्ठ स्त्रीके कोमल शरीरके संस्पर्शसे रतिका सुख होता है तब हिंसादिक दुःख ही है, यह बात तो न बनी। इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि अब्रह्मचर्यमे सुख रूप वृत्ति नही है किन्तु वह तो वेदनाका इलाज है। जैसे दाद खाज हो जानेपर उस दाद खाजसे पीडित हुआ पुरुष नखसे पथरी आदिकसे अपना शरीर खुजाता है और उस समय खूनसे गीला हो जाता है तो उस समय दाद खाज मिट तो नही रहा, उस समय दुःख भी होता है लेकिन यह खुजैला उसमे सुख मानता है। इसी प्रकार मैथुनको भोगने वाला मोही प्राणी अपने अज्ञानसे दुःखरूप वृत्तिको भी सुख ही मानता अथवा है उसकी कल्पनासे भले ही उस समय सुख माना जा रहा हो, पर वह दुःख का कारण है। इस कारण वह अब्रह्म दुःख ही है, ऐसी भावना रखनी चाहिए। अब बताते है कि जैसे ये क्रिया विशेष जो ५-५ भावनायें कही गईं वे वृत्तियां यदि शुद्ध लक्ष्यसे भाई जायें तो व्रतकी पूर्णताको करती हैं, उसी प्रकार अगले सूत्रमे कही जाने वाली भावनायें इस लोक और परलोकके लौकिक प्रयोजनके बिना भायी जाय तो ये भी व्रतकी समृद्धिको करते हैं। तो वे कौनसी भावनायें हैं उसके लिए सूत्र कहते हैं।

**मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥७-११॥**

(१३६) मैत्री प्रमोद कारुण्य व माध्यस्थ्यभावनाका व्रतकी परिपूर्णतामे सहयोग-- सर्व जीवोमे मैत्री भाव होना, अपनेसे गुणाधिक पुरुषोमे प्रमोदभाव होना, दुखी जीवोमे करुणा भाव होना और अविनेय, उद्दण्ड पुरुषोमे मध्यस्थभाव होना यह भावना व्रतसम्पत्तिको समृद्ध करती है। मैत्रीका अर्थ है अपने शरीर, मन, वचनके द्वारा करने, कराने, अनुमोदनेके द्वारा दूसरोके दुःखकी अनुत्पत्तिकी अभिलाषा होना, स्नेहका भाव होना सो मैत्री भावना है। किसी भी जीवको दुःख उत्पन्न न हो ऐसी भावनाको मैत्री कहते हैं। मैत्री भावना वाला जीव न दुःखकी उत्पत्तिका उपाय करता है, न कराता है, न करते हुएको अनुमोदता है। मन, वचन, कायसे गुणित कृतकारित अनुमोदना, इस प्रकार नवकोटिसे सभी जीवोके दुःखकी अनुत्पत्ति विचारना सो मैत्री भावना है। प्रमोद भावना--अपने मुखकी प्रसन्नता द्वारा नेत्रोंके हर्षण द्वारा शरीरमे रोमांच होना, इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे और स्तुति करना, निरन्तर नाम लेना, गुण बखानना आदिक प्रवृत्तियोसे जो भक्ति प्रकट की जाती है उसका नाम प्रमोद है। प्रमोद शब्दमे प्र और मोद ऐसे दो शब्दोका समास है। प्रकर्षरूपसे हर्ष होना, जो रत्नत्रयधारी हैं, ज्ञानमे बढे हैं, शान्ति क्षमामे बढे हैं, ऐसे पुरुषोको देखकर ऐसा अन्तरगमे हर्ष होना कि जिससे मुखपर प्रसन्नता भी स्वयं बनती है, रोमाञ्च हो जाता है, ऐसी भीतरी भक्तिको को प्रमोदभावना कहते हैं। कारुण्यभावना--जो जीव दुःखी है, दीन हैं, शारीरिक मानसिक दुःखसे पीडित हैं, ऐसे दीन पुरुषोका अनुग्रहरूप परिणाम होना सो कारुण्य है। कारुण्य शब्द करुणसे बना है। करुणस्य भाव कारुण्य। करुण कहते हैं कोमल पुरुषको, दयाशील हृदय वाले पुरुषको। उसके परिणामका नाम कारुण्य है। माध्यस्थका अर्थ है मध्यमे रहना अर्थात् रागद्वेष पूर्वक पक्षपात न होना। किसीके पक्षमे कोई पडा है रागसे या द्वेषसे याने किसीसे प्रीति विशेष है तो वह उसके पक्षमे आ जाता है और किसीसे द्वेष बनता है तो उससे भी जो द्वेष रखता हो उसके पक्षमे आ जाता है। तो किसीके पक्षमे पडनेका नाम पक्षपात है। जहाँ पक्षपात नही होता वहाँ वह बीचमें ठहरा है यो कहा जाता है। मध्ये तिष्ठति इति मध्यस्थः तस्य भावः माध्यस्थ्यं। रागद्वेष न करके उपेक्षाभावसे रहना माध्यस्थ्यभाव है।

(१३७) भावनावोंके आश्रय व आलम्बनोका दिग्दर्शन--ये चार भावनायें किनके प्रति की जानी चाहिएँ इसका उत्तर इस सूत्रके तृतीयपदमे है। सत्त्व, गुणाधिक, क्लिश्यमान और अविनेय। सत्त्वका अर्थ है चारो गतियोके ससारी प्राणी। सत्त्व शब्द सिद्ध धातु से बना है जिसका अर्थ दुःख पाना है। अनादि परम्परासे चले आये हुए ८ प्रकारके कर्मों की बध सततिसे जो तीव्र दुःख वाली योनियोमे, चारो गतियोमे दुःख पाते है उन्हे सत्त्व

कहते हैं। सत्त्वका अर्थ हुआ ससारके दीन दु'खी सभी प्राणी—उनमे मैत्री भावना की जाती है। गुणाधिकका अर्थ है जो गुणोमे अधिक हो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र, सम्यकतप आदिक गुण है। यहां गुणके मायने द्रव्य, गुण पर्यायमे कहा हुआ गुण नही, शक्ति नही। किन्तु जो सदाचार श्रद्धा ज्ञान आदि भली भाँति है वे गुण है, उन गुणोसे जो बढे चढे हुए है उन पुरुषोको गुणाधिक कहते है, गुणाधिक पुरुषोमे प्रमोदभाव करना व्रतकी निर्दोषतामे साधक है। क्लिश्यमान अर्थात् दुःखी, असातावेदनीयके उदयसे जिन्हें शारीरिक मानसिक दु ख प्राप्त हुए है और उस दु खके सतापसे जो कष्ट पा रहे है उन्हे क्लिश्यमान कहते हैं। क्लिश्यमान जीवोमे कारुण्यभावना कही गई है अविनेय—जो विनेय नही है, सुपात्र नही है उन्हे अविनेय कहते है। तत्त्वार्थके उपदेशोका सुनना और उन उपदेशोको ग्रहण करना—इन दो वृत्तियोके द्वारा जो पात्ररूप किया जाता है, विनीत किया जाता है उन्हे विनेय कहते है। जो विनेय नहीं है उन्हे अविनेय कहते है। अविनेयका अर्थ है दुराचारी, उद्दण्ड, दुष्ट, प्रकृति वाला, ऐसे पुरुषोमे मध्यस्थभाव करना बताया है।

(१३८) **चारों भावनावोमे चिन्तनकी मुद्राकी रेखा**—मैत्री भावनामे ऐसा चिंतन चलता है कि मैं सर्व जीवोको दु.खी करता हू, सर्व जीवोसे क्षमा चाहता हू, मेरी प्रीति सर्व प्राणियो के साथ है। किसीके भी साथ मेरा बैर मत हो। इस तरहका चिन्तन स्व और अन्य जीवो के स्वरूपका लक्ष्य करके ज्ञानियोके हुआ करता है। इस प्रकारकी मैत्री सर्व प्राणियोमे मानना चाहिए। दूसरी भावना—जो सम्यग्ज्ञानसे अधिक है, निर्दोष सम्यक्त्वपालन है, जिनका उपयोग स्वच्छ है, रागद्वेषवृत्तिसे रहित समतापरिणाम वाले है ऐसे पुरुषोके प्रति वदना करना, स्तुति करना, उनकी सेवा करना आदिक प्रवृत्तियोसे प्रमोदभाव बनाना चाहिए। जो पुरुष कष्ट पा रहे हैं, मोहसे दबे हुए है, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञानसे घिरे हुए है और विषयो की तृष्णाकी अग्निसे जिनका मन चलित हो रहा है, जिनकी प्रवृत्ति विपरीत हो रही, हितकार्योंसे हटे हुए है, अहित कार्योंमे जुटे हुए है, नाना प्रकारके दुःखोसे घिरे हुए हैं, ऐसे दीन पुरुषोमे, कृपण पुरुषोमे, अनाथमे, बालकमे, वृद्धमे अनुकम्पाभाव जगना—ऐसी करुणा की भावना होनी चाहिए। जो पुरुष ऐसे अपात्र है कि जो उपदेश ग्रहण कर नही सकते, भली बातको हृदयमे धार नही सकते, ज्ञानकी बात सुनना भी पसद नही करते, जिनमे सही तर्क वितर्ककी योग्यता ही नही है, महान मोहसे तिरस्कृत है, विरुद्ध प्रवृत्तियाँ करते रहते है, ऐसे प्राणियोमे माध्यस्थ्यभावना रखनी चाहिए, क्योकि ऐसे जीवोमे हितका उपदेश भी सफल नही होता। ऐसे इन चार भावनाओ द्वारा अहिसा व्रतकी परिपूर्णता होती है। अब यह जिज्ञासा होती है कि व्रतोकी परिपूर्णताके लिए जो भावनायें बतायी गई हैं, क्या मुमुक्षु महाव्रतधारी

पुरुषोंको उतनी ही भावनायें करना चाहिएँ या कुछ और भी उनके योग्य चिंतन है ? उसके उत्तरमे सूत्र कहते है।

## जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥७-१२॥

(१३६) सवेग व वैराग्यकी वृद्धिके लिये जगत और कायके स्वभावका चिन्तन—सवेग और वैराग्यकी वृद्धिके लिए ससार और शरीरके स्वभावका चिन्तन करना चाहिए। जगतके मायने यह सर्व दृश्यमान वैभव सचेतन अथवा अचेतन। शरीर शरीरको ही कहते है। इसका स्वभाव अर्थात् इसकी जो तारीफ है जिस रूपसे जगत और शरीर बर्तते है, वह उनका स्वभाव है। सो ससार और ससारका स्वभाव सवेग और वैराग्यके लिए चिन्तन करना चाहिए। सवेगका अर्थ है ससारसे भय रखना। भयका अर्थ क्या ? कि ससार दुःखमय है इस कारण ससारमे लगना योग्य नही है, उससे हटना ही श्रेयस्कर है, ऐसे भाव सहित ससारसे अलग होनेका यत्न करना यही सवेग कहलाता है। विराग कहते है विषयो से विरक्त होनेको। चारित्रमोहका उदय न हो, चाहे चारित्रमोहका उपशम हो, क्षय हो या क्षयोपशम हो, किसी भी स्थितिमे चारित्रमोहका विपाक न हो तो उस समय जो स्पर्श, रस, गध, वर्ण, शब्दसे राग हटता है उसको विराग कहते है। विरागके भावको वैराग्य कहते है। किस प्रकार जगतकायका स्वभाव विचारा जाता है ? १—ससारका स्वभाव—यह लोक इस परिणमते हुए द्रव्योका समुदाय है। जो सभी द्रव्य अनादि कालसे अवस्था बदलते जा रहे है इस कारण आदि वाले है और इनकी सत्ता किसीने नही बनायी है। ऐसा यह अनादि है। यो नित्यानित्यात्मक द्रव्यका समुदाय यह लोक है। इस लोकमे जीव चारो गतियोमे नाना तरहके दु खोको भोग-भोगकर परिभ्रमण कर रहे है। इस लोकमे कुछ भी वस्तु नियत नहीं है। यह जीवन जलके बुदबुदेके समान क्षणभगुर है। यह भोग समुदाय बिजलीकी तरह क्षणस्थायी है या मेघ आदिकका जो आकार प्रकार बनता है उसकी तरह अत्यन्त चचल है। इस शरीरमे लगाव रखने से आत्माका हित नही है, ऐसा ध्यान करना सो सम्वेगकी वृद्धिका कारण है। शरीरके स्वभावका यो चिन्तन करना कि यह शरीर अनित्य है, यह नियमसे बिखरेगा, नष्ट होगा और यह शरीर ही दुःखका हेतु है, क्योकि वेदनायें, इष्ट कल्पनायें, शारीरिक मानसिक सभी प्रकारके कष्ट इस शरीरके सम्बन्धसे होते हैं। यह शरीर सारहीन है, अपवित्र है, ऐसी शरीरके प्रति भावना करनेसे वैराग्य जगता है और जहाँ सम्वेग और वैराग्य भाव जगता है वहा धर्ममे बहुत आदर होता है। धार्मिक पुरुषोकी संगति रुचती है, मनमे विशुद्ध प्रसन्नता रहती है, आरम्भ परिग्रहमे दोष देखनेके कारण विरतिपरिणाम रहते है। उत्तरोत्तर आगे गुणोका विकास होता है। गुण-

विकासमे मोक्षमार्गमे श्रद्धा बढती है, ऐसी इन भावनाओसे जिसका चित्त भरा हुआ है वह पुरुष व्रतोके पालन करनेमे दृढ होता है।

(१४०) **स्याद्वादशासनमें भावनाओंकी सफलताका सयुक्तिक कथन**—यहाँ एक बात यह जानना कि व्रतोको पुष्टिके लिए जितनी भावनायें कही गई है वे भावनायें तब ही बन सकती हैं जब कि सर्व पदार्थ नित्यानित्यात्मक हो। सो ऐसा है ही। यदि पदार्थ सर्वथा नित्य हो तो वहाँ कोई परिणति ही नही सम्भव है। फिर भावनायें कैसे बनेंगी ? भावनायें करने वाले जीवको कोई सर्वथा नित्य अपरिणामी, जिसका कुछ बदल परिणमन हो ही नही सकता है कूटस्थ ध्रुव माने तो वहाँ कुछ परिणति ही न बनेगी तो भावना कैसे जगेगी ? और यदि आत्मामे विक्रिया मानते है अर्थात् परिणमन, बदल भाव होना मानते है तो वह आत्मा एकान्ततः नित्य तो न रहा, इसी प्रकार यदि आत्माको सर्वथा अनित्य माना जाय तो अब यह आत्मा अनेक समयोमे तो रहा नही। क्षणिकका अर्थ है—एक क्षणको सत्ता है, आगे सत्ता नही है। तो जब अनेक क्षणोमे न रह सका कोई वस्तु यह आत्मा तो अनेक पदार्थोंके विषय मे एक ज्ञान होना तो सम्भव नही है। जब क्षण-क्षणमे नये-नये ज्ञान अथवा आत्मा बन रहे तो कोई भी आत्मा पहलेके समयोके पदार्थोंका स्मरण नही कर सकता, और जब कुछ स्मरण नही हो सकता आगे पीछेका तो वहाँ भावना भी नही बन सकती। सो सर्वथा नित्यवादियो के यहाँ भावना साधना नही बन सकती ऐसे ही सर्वथा अनित्यवादियोके यहाँ साधना नहीं बन सकती, किन्तु स्याद्वाद शासन मानने वालेके साधना भावना सब बनती है। स्याद्वाद शासनमे द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे पदार्थ नित्य है तब अन्तरंग बहिरग कारणके वशसे उसमे उत्पादव्यय भी निरन्तर होता रहता है इस कारण अनित्य है। तो उत्पादव्ययध्रौव्यसे युक्त आत्मामे स्मरण बन सकता है और परिणति बन सकती है और इस प्रकार भावना, साधना क्रिया जाना सिद्ध होता है। इस सम्बधमे अपने आपके प्रति ऐसा निरखना चाहिए कि यह मै आत्मा अनादि से अनन्त काल तक रहने वाला एक चैतन्य पदार्थ हू। चूंकि जो भी सत् है, सबका स्वरूप है उत्पादव्यय होना और उत्पादव्यय होकर भी सत्ता बनी रहना, सो मैं सदा रहूगा, पर जैसी परिणति करूंगा वैसा ही फल भोगूंगा। इससे स्वभावके अनुरूप मेरी परिणति बने तो उसमे मेरा कल्याण है और स्वभावके विरुद्ध मेरा परिणमन चले तो उसका फल चारो गतियोमे जन्म मरण करके दु ख पाते रहना है। इससे पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जानकर उनसे मोह हटाना और अपने आपके ज्ञानानन्द स्वरूपमे उपयोगका मग्न करना—यह कल्याणार्थीका कर्तव्य है। इस अध्यायमे प्रथम सूत्रमे बताया गया है कि हिंसा आदिक पापोसे निवृत्त होना व्रत है, तो हिसा आदिक क्या कहलाते है ? वह कौनसी क्रिया विशेष है, उनका जानना तो बहुत

आवश्यक है ताकि उन परिणामोसे विरत होनेका प्रयोग परीक्षण हो सके। सो उस विषयमे चूकि एक साथ सबको नही कहा जा सकता तो सूत्रमे जिसका प्रथम निर्देश है उस निर्देश माफिक सबसे पहले हिंसाका लक्षण कहते है।

## प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥७-१३॥

(१४१) प्रमत्तयोगसे प्राणव्यपरोपणकी हिंसारूपता— कषाय सहित योगसे प्राणका घात हो जाना हिंसा कहलाती है। प्रमत्तभाव किसका नाम है ? इन्द्रियके प्रचार विशेषको न निरखकर जो परिणति होती है वह प्रमत्तभाव है। जिसमे विषयोकी प्रीति है, लगाव है, स्वार्थ है, कषायभाव है ऐसा लौकिक प्रयोजन जहाँ बसा हुआ है, खुदगर्जी है ऐसे खोटे परिणामोके साथ जो प्राण विपरोहण होता है अर्थात् प्राणोका घात होता है उसका नाम हिंसा है अथवा यहाँ प्रमत्त शब्दमे यह लगाकर अर्थ करना। प्रमत्तकी तरह योगसे प्राण का घात करना हिंसा है। किस तरह कि जैसे मद्य पीने वाला पुरुष जब उसका मदायलापन बढ जाता है तो यह कर्तव्य है, यह नही है कर्तव्य, यह बोलना चाहिए, यह न बोलना चाहिए इस विचारसे वह हट जाता है। उसे कहते है प्रमत्त। तो ऐसे ही जिसको जीवस्थानोका पता नही, योनियोका पता नही, जीव कहाँ पैदा होते है, किस प्रकारके होते है, किन-किन आश्रयो मे रहा करते है इसे जो नही जानता और कषायका है उसके उदय, विषयोमे है उसकी लगन, खुदगर्जीमे वह बस रहा है तो हिंसाके कारणोमे लग जाता है जिससे कि प्राणोका घात होता है। तो वह अहिंसामे प्रवृत्ति नही कर पाता, उसीका नाम प्रमत्त है, याने अज्ञानी और कषायवान जीवको प्रमत्त कहते है।

(१४२) प्रमादविशेषोका वर्णन—प्रमाद १५ प्रकारके कहे गए है। उन भावोसे जो च्युत हो उसे प्रमत्त कहते है। वे १५ प्रमाद कौनसे है ? चार विकथायें—१-स्त्रीकथा, २- राजकथा, ३ देशकथा और ४-भोजनकथा। स्त्रीविषयक चर्चा कहनी कहना सुनना यह स्त्रीकथाका प्रमाद है, क्योकि स्त्रीविषयक कैसी भी चर्चा करनेसे थोडा रागका भाव आता है और उससे प्रमाद होता है, कषाय बढती है। राजकथा—राजाकी कथा करना, अमुक राजा ऐसा है अमुक ऐसा है, अरे क्या प्रयोजन पडा है राजाओकी चर्चा करनेका ? बल्कि उससे तो लौकिकतामे गति बढ जाती है। देशकथा—देशोकी कथा करना, अमुक देशमे यह है अमुक यो है, यो देशोकी बात करना देशकथा है। ये सब करना चाहिए या नही, इसके तो उत्तर लोगोके चित्तमे भिन्न-भिन्न गुणोके अनुसार अनेक होगे, किन्तु मोक्षमार्गमे जहाँ संसारसे छुटकारा पाकर मुक्ति पानेका पौरुष सोचा है वहाँ तो किसी भी प्रकारके कषाय परका लगाव रखना कर्तव्य नही है। तो ये सब प्रमाद करना योग्य नही है, भोजनकथा—

इस प्रकारका भोजन बना, उसका स्वाद अच्छा है आदिक भोजनकी कथा करना, मैंने अच्छा खाया, कल यो खाऊँगा, यह चीज बनाऊँगा, तो इस भोजनकथामे प्रमाद होता है, कषाय जगती है। भोजन किया जाता है शरीरकी स्थिति रखनेके लिए। इतना ही यदि भाव है तो भोजन करते हुए भी वह भोजन नही कर रहा। घाटी नीचे माटी। उस स्वादका क्या उठता है ? बल्कि स्वादके वश होकर अपथ्य भोजन हो जाता है। तो भोजनकथा प्रमाद है। चार कषाय प्रमाद है— १- क्रोध, २-मान, ३-माया, ४-लोभ। ये जीवके स्वभाव नही है, यह कर्मके उदयकी झांकी है। और कर्मछाया जो कि इस जीवकी भूमिकापर पड़ी है यह उसमे व्यामुग्ध हो जाता है और कषायसे भिन्न अपनेको नही समझ पाता। कषाय प्रमाद है। ५ इन्द्रियके विषय--स्पर्शनइन्द्रियके विषयमे अनुरागी होना, किसीका कोमल शरीर छूनेका भाव होना, रसनाके विषयको भोगनेका भाव होना, घ्राण, चक्षु, कर्ण विषयके भोगनेके भाव, यह इन्द्रियके वश होना है और निद्रा स्नेह ये दो प्रमाद और है, नीद आना आलस्य आना यह प्रमाद है और स्नेह जगना यह प्रमाद है। तो इन १५ प्रकारके प्रमादो मे जो परिणमता है उसे प्रमत्त कहते है। योग शब्द यहा सम्बन्धके अर्थमे आया है प्रमत्तके योगसे।

(१४३) **प्रमादभावमे प्रमत्तता व प्राणव्यपरोपणमें प्राणोका घात**—यहा शङ्काकार कहता है कि यदि प्रमत्तभावके सम्बन्धसे यह अर्थ इस पदका है तो प्रमत्त शब्दमे त्व प्रत्यय और लगाना चाहिए प्रमत्तपनेके योगसे, क्योकि द्रव्यप्रधान शब्द रखनेपर समयकी प्रतीति नही होती। जैसे कषाय भावके सम्बन्धसे यह तो युक्त हो जाता कि यह अमुक कार्य किया जा रहा है पर कषायीके संयोगसे इसका कुछ सम्बन्ध नही बैठता। तो यहां प्रमत्त शब्दमे त्व प्रत्यय और लगना चाहिए। इस शंकाके उत्तरमे कहते हैं कि यहाँ प्रमत्त शब्द आया तो है द्रव्यप्रधान, पर आत्माके परिणामके लिए ही यह प्रमत्त शब्द दिया है। कर्तृ-साधनमे बना हुआ प्रमत्त शब्द आत्माके परिणाममे ही दिखाया गया है। जिसने प्रमाद किया है वह परिणाम उसके योगसे प्राणोका घात होना हिंसा है अथवा यहाँ योग शब्दका अर्थ लीजिए काययोग, वचनयोग, मनोयोग। काय, वचन, मनकी क्रियासे। तब इस पदका अर्थ होगा कि प्रमत्त जीवके काय, वचन, मनकी क्रियासे प्राणोका घात होना हिंसा है। यहा व्यपरोपण शब्द दिया है, जिसका अर्थ है वियोग करना। प्राण १० प्रकारके बताये गए है—५ इन्द्रियप्राण, ३ बल, १ श्वासोच्छ्वास और १ आयु। इन प्राणोका वियोग करना सो व्यपरोपण कहलाता है। प्राणोका वियोग करनेसे हिंसा प्राणीकी होती है, क्योकि प्राणी तो निरवयव है, उसका क्या वियोग है ? वह तो पूर्ण है। प्राणका वियोग होता

है। जैसे आयुका विच्छेद, श्वासका विच्छेद। इन्द्रियको हटा देना। प्राणका वियोग होनेसे आत्माको ही तो दु ख होता है, इस कारण प्राणका वियोग कर देना हिंसा है और अधर्म है क्योकि प्राण आत्मासे सर्वथा जुदे नही है।

(१४४) **आत्माकी प्राणोंसे भिन्नता व अभिन्नताकी मीमांसा**—एक नयमे आत्मासे प्राण जुदे दिखते है पर वह है निश्चयनय, स्वरूपदृष्टि। प्रत्येक पदार्थका स्वरूपास्तित्व उसका उसमे ही हुआ करता है, इस दृष्टिसे शरीरकी बातें भिन्न है, आत्मा भिन्न है, किन्तु इस समय सर्वथा भिन्न नही है। उनका सम्बध है, उनका बन्धन है और वहाँ प्राणोका घात होनेपर आत्माको कष्ट होता है। तो इस कारण प्राणका घात होनेसे दु ख है और हिंसा है और वही अधर्म है। प्राण आत्मासे भिन्न चीज है, इसको भी मना नही किया जा सकता। स्वरूपदृष्टिसे देखें तो भिन्न है, पर यह शका न रखना कि जब प्राण भिन्न है आत्मासे तो उनका वियोग करनेपर आत्माको दु ख न होना चाहिए। यह शका यो न रखना कि जब अत्यन्त भिन्न पुत्र, स्त्री मित्रादिकके वियोगमे आत्माको कष्ट होता है फिर प्राण तो कथचित् भिन्न है, सर्वथा भिन्न नही, तो उनके वियोगमे कष्ट तो होता ही है जीवोको। यद्यपि शरीर जुदा है, शरीरमे रहने वाले जीव जुदे हैं, शरीर जड है, आत्मा चेतन है, सो लक्षणके भेदसे अत्यन्त जुदी बात है, लेकिन दोनोका इस तरहका बध है कि इस हालतमे तो एकत्व बन रहा है। शरीरके वियोगसे होने वाला दुःख आत्माको ही होता है, इस कारण प्राणका वियोग करना हिंसा है, अधर्म है। जो लोग आत्माको निष्क्रिय मानते है, नित्य शुद्ध मानते है, सर्वव्यापी मानते हैं उनके यहाँ शरीरसे बन्धन नही हो सकता, क्योकि वहाँ आत्मा सर्वव्यापक माना है। शरीर तो थोडे देशमे है और जब शरीरसे बध न बन सका केवल उनकी कल्पनामे तो दु ख भी न होगा, हिंसा भी न होगी, पाप भी न लगा। तो पापसे छूटनेका उद्यम भी क्यो करना ? फिर व्रत, तप आदिक भी न करने होगे। तो धर्म कर्मका कुछ भी सम्बन्ध न रहा जो आत्माको निष्क्रिय नित्य शुद्ध मानते है।

(१४५) **प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपणका सम्बन्ध**—इस सूत्रमे दो बातें कही गई है—१–प्रमत्त योग और २–प्राण व्यपरोपण। ये दोनो विशेषण इस बातको सूचित करते है कि दोनोके होनेपर हिंसा होती है। इनमे से एक अगर नही है तो हिंसा नही होती। जैसे प्रमत्त योग न हो, सिर्फ प्राण विपरोपण हो तो वह हिंसा न कही जायगी। जैसे मुनि महाराज शुद्धभावसे ईर्यासमितिपूर्वक गमन कर रहे है और कदाचित् कोई छोटा प्राणी, कुन्थु जीव पैर धरनेके समयपर ही आ जाय और मर जाय तो भी चूँकि मुनिके परिणाममे कोई भी खोटापन नही है, न कषाय है तो उसे हिंसा नही होती। तो प्रमत्त योग न होने पर

प्राण विपरोपण भी हो जाय तो भी हिंसा नहीं होती। वास्तवमे तो परिणामोमे विकृति आये तब हिंसा है। तो विकृतिका ही नाम प्रमत्त योग है, उसके अभावमे प्राणवियोग होने पर भी हिंसा नहीं है। यहाँ शकाकार कहता है कि आप तो दोनों विशेषणोको आवश्यक बतला रहे है, किन्तु शास्त्रमे तो यह बताया है कि चाहे प्राणका घात न हो, पर प्रमत्तयोग हो तो हिंसा हो ही जाती है। जीव मरे या न मरे पर सावधानपूर्वक जो न चले, जिसके प्रमत्त योग बर्त रहा है उसे तो हिंसा ही है और जो प्रयत्नशील हैं, सावधानीसे गमन कर रहे है उनके द्वारा कदाचित् कोई प्राणवियोग भी हो जाय तो भी वध नहीं बताया, तो नियम तो न बना इन दोनो विशेषणोका कि एक न हो तो केवल दूसरेके रहनेसे हिंसा नहीं है। प्रमत्तयोग हो और प्राणविपरोप हो, दोनो ही बाते हो तब हिंसा होती है, यह बात तो न बनी। अब इस शङ्काके उत्तरमे कहते है कि जहा प्रमत्तयोग है वहां प्राणोका घात नियम से है। दूसरेके प्राणका वियोग न सही मगर खुदके ज्ञान दर्शन प्राणका तो घात हो गया। और वास्तवमे हिंसा तो अपने ही प्राणोका घात होनेसे हुआ करती है। तो भावप्राणोके वियोगकी अपेक्षा दोनो विशेषण यहाँ सार्थक है, वास्तवमे जिसके प्रमत्त योग है वह प्रमादी आत्मा पहले तो अपने विकार भावके कारण अपनी हिंसा करता है, चाहे फिर दूसरे प्राणी का बध या प्राणवियोग हो अथवा न हो।

(१४६) **प्रमत्तयोग बिना हिंसा न होनेसे अटपट शंकावोंका अनवकाश**—प्रमत्तयोग बिना हिंसा न होनेके कारण यह दोष भी नहीं बन सकता कि संसारमे तो सब जगह प्राणी भरे है—जलमे, थलमे, नभमे, तुम कहाँ बैठोगे ? जहाँ बैठोगे वही प्राणी भरे पडे है, वहाँ कितने ही प्राणोका घात हो रहा है। तो अहिंसक कोई नहीं बन सकता। तो यह दोष शका नहीं बनता, क्योंकि जो ज्ञानध्यानमे लवलीन है, प्रमादरहित है, कषायपर विजय करने वाला है, विषयोसे विरक्त है, ऐसे साधुको केवल प्राणवियोग हो जानेसे हिंसा नहीं होती। हिंसाका मूल आधार है अपने प्राणोका घात होना। बाहरमे कौन पदार्थ कैसा परिणाम रहा है, कहाँ क्या बन गया है ? इसके आधारपर हिंसा नहीं है, अपने ही भाव खोटे होनेके आधारपर हिंसा मानी गई है। अन्यथा अनेक अटपट शकायें आ सकती है। कोई साधु उपवास करता है तो उपवास करनेसे पेटके कीडोको कष्ट पहुचा कि नहीं ? उनको खुराक न मिली और जब पेटके कीडोको दुःख हुआ तो साधुको हिंसा लग जाना चाहिए, क्योंकि आहारका त्याग कर देनेसे पेटके अन्दरके अनेक कीडोकी मौत हुई। तो यो हिंसा नहीं लगती साधुके, क्योंकि उसके खोटे भाव तो नहीं है। उसके तो अपने रत्नत्रयका परिणाम है, स्वभावदृष्टि है, आत्माकी साधना है, तो जहाँ प्रमत्त योग हो, जहाँ खोटे परिणाम हो वहाँ खुदका घात तो

हो ही जाता है। ज्ञान दर्शन सही रूपमे न रह सके, यही तो हिंसा है। जीव दो प्रकारके पाये जाते है—(१) स्थूल और (२) सूक्ष्म। तो उनमे जो सूक्ष्म जीव है वे न तो किसीसे रुक सकते है, न किसीको रोक सकते है, उनके तो हिंसा होती ही नही है। जगतमे सूक्ष्म जीव सूक्ष्म एकेन्द्रिय निगोद जीव, उनका किसीसे छिदना भिदना हो ही नही सकता। अग्नि भी जल रही हो तो भी अग्निके कारण नही मरते। उनकी स्वयं आयु एक सेकेण्डमे २३वें हिस्सेकी है अर्थात् वे सेकेण्डमे २२-२३ बार जन्ममरण करते है, पर सूक्ष्म जीव किसी पर-पदार्थकी टक्करसे नही मरा करते। जो स्थूल जीव है उनकी यथाशक्ति रक्षा की जाती है और उनकी हिंसा रोकना शक्य है। अपनी चेष्टा सही बनायें, देख-भालकर निरखकर प्रवृत्ति करें तो उन स्थूल जीवोकी हिंसा न होगी, तो इसी कारण स्थूल जीवोकी यथाशक्ति रक्षा की जाती है। तो जिनकी हिंसा रोकना शक्य है उनके हिंसाका भाव जो नही रख रहे और प्रयत्नपूर्वक उस हिंसाको दूर करता रहे तो ऐसे सयतकी हिंसा कैसे सम्भव हो सकती ?

(१४७) प्राणव्यपरोपणसे प्राणीका घात होनेके कारण हिंसाकी उपपत्ति—इस सूत्र मे बताया है कि प्राणका वियोग तो प्राणका हुआ मगर हिंसा किसकी बनी ? प्राणीकी। यदि प्राणी न हो तो प्राण किसके ? प्राण पुण्य पाप भावसे बनते है और पुण्य पाप कर्म जीवके पापका निमित्त पाकर बनते हैं। अगर जीव नही है तो पुण्य पाप भी नही है। प्राण भी नही है, पर ऐसा नही है। यह प्राणोका सद्भाव प्राणीके अस्तित्वको सिद्ध करता है। जीव है शरीरमे क्योंकि श्वास आ रही, इन्द्रियाँ काम कर रही, तो इन प्राणोके सद्भावसे प्राणी जीव का परिचय होता है। जैसे कि किसी घरमे कोई लुहार बैठा हुआ लोहेका कार्य कर रहा है, सडासीसे लोहपिण्डको नीचा ऊँचा उठा रहा है, वह लोहार दरवाजेके एक तरफ भीतकी आड मे है, वह बाहरसे दिखता नही, मगर सडासीका उठाना, पकडना, चलाना देखकर यह अनु-मान बनता है कि यह लोहार है और कार्य कर रहा है, ऐसे ही इन्द्रिय आदिक प्राणोका सद्भाव देखकर यह ज्ञान बनता है कि इसमे प्राणी है, जीव है। यदि प्राणी न हो तो देखना, अनुभवना, पाना, ग्रहण करना, सस्कार बनना आदि सब बातें न हो सकेंगी। तो अब शक्तिहीन हो जाने से ये भौतिक पदार्थ अथवा कोई क्षणिक आत्मा माने तो वह एक दूसरेके उपकारके प्रति अब उत्सुकता न रखेगा। तो आत्माका सद्भाव न मानने पर कर्ता का अभाव होनेसे फिर पुण्य पापकर्म न बनेगा और प्राणोका अभाव हो जायगा और जो कुछ यह देखना अनुभवना चल रहा है, ये कुछ न बनेंगे। ये अचेतन पदार्थ अथवा क्षणिक आत्मा जब अपने ही कार्य करनेमे असमर्थ है तो हिंसाका व्यापार कैसे कर सकेगा और हिंसाका व्यापार देखा जा रहा है, इस कारण हिंसाका करने वाला आत्माका सद्भाव है

और उस प्राणीका सद्भाव होनेसे प्राणोका भी सद्भाव बनता है। और प्राणोके व्यपरोपण से प्राणीका घात होता है।

(१४८) क्षणिकवादमे हिंसा हिंसाफल ससार मोक्षमार्ग व मोक्षकी अनुपपत्ति— जो सिद्धान्त आत्माको क्षणिक मानते है उनके यहा एक ही आत्मा कोई देखे, अनुभवे, प्राप्त करे, निमित्तका ग्रहण करे उसमे सस्कार आये, स्मरण करे— ये सारी बाते नही हो सकती है, क्योकि ये बातें भिन्न-भिन्न आत्मावोमे रहेगी। एक ही समयमे ये सारी क्रियाये नही हो सकती। तो जब स्मरण न हो सकेगा तो कैसे यह कर्ता है? इसने फल भोगा, यह फल पायगा। यह एक कर्तामे नही बन सकता। तो न हिंसाका व्यापार बन सकेगा और न फल पानेका व्यापार बन सकेगा। उत्पत्तिके बाद जब आत्मा तुरन्त नष्ट हो गया और विनाश अहेतुक है तो किसीका प्राण नष्ट हो गया उसमे भी कोई हेतु न रहा। जब किसीके द्वारा किसी का प्राण नष्ट होता ही नही है तो कोई हिंसक कैसे कहलाया? और उसे हिंसाका फल क्यो मिलेगा? फल मिलता रहेगा दूसरेको जिसने हिंसा नही की। ऐसी अधेरगर्दी होवे तो फिर इस लोकमे कोई हिंसक ही नही हो सकता। करेगा कोई, पाप लगेगा दूसरेका, फल पायगा कोई और ही। ऐसा तो हो न सकेगा कि किसी भिन्न सतानमे आये हुए आत्माके प्राणके वियोगसे हिंसा लग जाय। तो क्षणिकवादमे न पापकी व्यवस्था बनती, न फल पानेकी व्यवस्था बनती, न फल पानेकी व्यवस्था बनती और न मोक्षमार्ग बनता। जो सिद्धान्त आत्माको नित्यानित्यात्मक मानते हैं और है भी ऐसा ही सो उनके यहाँ ही ससार और मोक्षकी व्यवस्था हो सकती है। अब हिंसाका लक्षण कह कर असत्यका लक्षण कहते है।

## असदभिधानमनृतम् ॥७—१४॥

(१४९) असत्य पापका लक्षण—असत्य कहना अनृत पाप है अर्थात् झूठ नामका पाप है। सत्का अर्थ है उत्तम। प्रशंसावाची शब्द है यह। और जो सत् नही है वह असत् है अर्थात अप्रशस्त अयोग्य निन्द्य, उसका कथन करना सो असत्य है। जो पदार्थ जिस प्रकार विद्यमान है उस प्रकार न कहकर अन्य प्रकार कथन करना असत्य है। यहाँ शकाकार कहता है कि सूत्रको यदि इन शब्दोसे बनाते मिथ्या अनृतं, तो यह बडा छोटा सूत्र बनता। और सूत्र जितना छोटा बने उतना ही भला माना गया है। इस शकाके उत्तरमे कहते है कि मिथ्या शब्द देनेसे झूठके जो अर्थ है उनका पूरा बोध नही हो सकता, क्योकि मिथ्याका तो अर्थ इतना ही है कि उल्टा। उल्टा कहना झूठ है सो कोई उल्टा कहे, जो विद्यमान है उसका लोप करे और जो है ही नही उसका कथन करे, बस इतना ही झूठ शब्दमे आता, अन्य असत्योका ग्रहण नही होता। जैसे अनेक सिद्धान्त लोगोके द्वारा माने गए है कि आत्मा नही है, पर कही लोन

है तो विद्यमानका लोप करना झूठ है, उसका ग्रहण हो गया। इसलिए कोई लोग कहते हैं कि आत्मा कगनीके चावल बराबर है, अगूठीकी पोर बराबर है। कोई आत्माको सर्वव्यापी मानते, कोई निष्क्रिय मानते। तो जो मिथ्या वचन बोले गए वे ही असत्य कहलाते मिथ्या शब्द कहनेसे, पर जो अप्रशस्त वचन है, खोटे वचन है, दूसरेको पीडा पहुचाने वाले कटुक वचन है वे तो असत्य नही कहलाते, लेकिन असत्य वे भी है। जिन वचनोसे दूसरोका अहित हो वे भी असत्य कहलाते है। इस तथ्यको सिद्ध करनेके लिए सूत्रमे असत्का अभिधान अर्थात् कथन, यह शब्द दिया है। अब असत्यका लक्षण कहकर चौर्य पापका लक्षण कहते है।

## अदत्तादानं स्तेयम् ॥७-१५॥

(१५०) चौर्य पापका लक्षण—अदत्तका ग्रहण करना चोरी है। जो किसीके द्वारा दिया गया नही है, बिना दिए हुएको ग्रहण कर लेना चोरी है। यहा एक जिज्ञासा होती है कि कर्मोको तो कोई देना नही है और उसे यह आत्मा ग्रहण करता है। अपने शुभ अशुभ परिणामोके द्वारा आत्मा कर्मवर्गणाओको गहण करता है वहाँ आस्रव होता है। तो लो यह बिना हुए ही ले लिया। तो उसे चोरीका पाप लग जाना चाहिए और ऐसे कर्मोका ग्रहण वीतराग मुनि सतोके भी चलता है और शरीरवर्गणाओका ग्रहण भी चलता रहता है, शरीर वर्गणावोका ग्रहण तो सशरीर परमात्माके भी चल रहा है, तो क्या ये सब चोरी पाप कहलायेंगे ? इस जिज्ञासाके समाधानमे कहते है कि अदत्त शब्दका अर्थ यह है कि जिसके विषय मे दिया गया, नही दिया गयाका व्यवहार होता है। जिसके देनेमे और लेनेमे प्रवृत्ति और निवृत्ति देखी जाती है। जैसे किसीने स्वर्ण, भोजन आदि दिया तो उससे वह निवृत्त हो गया। किसीने ग्रहण किया तो वहाँ देने लेनेकी और प्रवृत्ति निवृत्तिकी जहाँ सम्भवता है, वहाँ ही बिना दिया हुएको ग्रहण करना चोरी कहलाता है। इससे कर्म आते है उनसे चौर्य पापकी व्यवस्था नही की गई। कोई यह न समझे कि ये अपनी इच्छासे ही अर्थ लगाये जा रहे है। अदत्तादान शब्द ही इस बातको जतला रहा है याने जिसमे देनेका प्रसग है उसीको न देनेपर अदत्त कहलाता है। जैसे वस्त्रपान भोजन आदिक हाथ आदिकके द्वारा दिये जाते, लिए जाते उस तरह कर्मका देने लेनेका व्यवहार नही है। कर्म तो अत्यत सूक्ष्म है। उनके हाथ आदिक के द्वारा देना लेना नही होता। वहाँ तो केवल यह व्यवस्था है कि जीवके रागद्वेषरूप परिणाम होते है तो उसका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती है। सो सर्व पदार्थोका परिणमन स्वतन्त्र है, उसमे देन लेनका सकल्प नही है। नैमित्तिक भाव है, उनमे अदत्तादानकी बात नही आती। वह तो सब निमित्तनैमित्तिक भावका परिणाम है। जीवके रागादिक भाव होते है, कर्मोका आस्रव होता है। जब गुप्ति आदिक सम्वर भाव होते है तब

आस्रवका निरोध हो जाता है। यहाँ लौकिक लेनदेनका व्यवहार नही है। जहाँ लेनदेनका व्यवहार है वहाँ ही विना दिए हुएका ग्रहण करनेमे चौर्य पाप होता है।

**(१५१) प्रमत्तयोगके बिना पापकी असंभवता**—अब एक शकाकार कहता है कि इन्द्रियके द्वारा शब्दादिक विषयोका ग्रहण देखा जाता है और यह बात साधु महाराजके भी बन रही है, नगरके दरवाजे आदिकसे साधु गुजरता है तो वह भी बिना दिए हुए द्वारको प्राप्त करता है तब तो साधुको भी चौर्यपाप लगना चाहिए। इस शकाके उत्तरमे कहते है कि जैसे हिंसा लक्षण वाले सूत्रमे प्रमत्त योग शब्द दिया था कि कषायसहित परिणाम होने से हिसा होती है, तो उसकी अनुवृत्ति इसके पूर्व सूत्रमे भी आयी कि कषायसहित होनेसे असत्का कथन करना झूठ है सो उसकी अनुवृत्ति इस सूत्रमे भी आती है। कषायभावसे बिना दिए हुएका ग्रहण करना चोरी है। तो जो साधु यत्नवान है, देख-भालकर चलता है, किसीके प्रति बुरा भाव रखता नही, अप्रमत्त है, आगममे कही हुई विधिसे आचरण कर रहा है यदि उसके कानमे शब्दादिक सुननेमे आ गए तो इसमे चोरीका दोष नही है। जो वस्तु सबके लिए दी गई है वह अदत्त नही कहलाती और इसी कारण साधु उन दरवाजोमे प्रवेश नही करता जो सार्वजनिक नही है, किसी एक व्यक्तिका द्वार है अथवा बद है उसमे प्रवेश नही करता। तो जिसमे दिया लिया जानेका व्यवहार है और सार्वजनिक साधारण विधि नही है वहाँ बिना दिएका ग्रहण करना चोरीपाप कहलाता है। यो तो कोई यह भी कह सकता है कि साधु वदन, सामायिक आदिक शुभ क्रियायें करता है और उसके पुण्यका सचय होता है तो उस पुण्यको ग्रहण करने मे भी तो बिना दिया हुआ लिया। भले ही शुभ चोरी हुई पर यह भी तो चोरी है। यह आशका बिल्कुल बेसिर पैरकी है, क्योकि जब एक बार बता दिया कि जहाँ देने लेने का व्यवहार होता है वहाँ ही बिना दिए हुएका ग्रहण करना चोरी है और फिर प्रमत्त योगका सम्बन्ध भी तो हो तब चोरी होती है। वदना आदिक क्रियावोमे सावधानीपूर्वक आचरण करने वाले साधुके प्रमत्तयोग नही है इसलिए चोरीका प्रसग नही है। किसी पुरुषके प्रमत्तयोग हो, खोटे परिणाम हो, किसी की चोरी करनेका भाव बना लिया हो और चोरी भी न कर सके तो भी दूसरेको पीडाका कारण तो सोचा। वहाँ पापका आस्रव होगा ही। यहाँ कोई ऐसी भी शका कर सकता कि कोई डाकू किसी घरपर डाका डालता है तो वह बिना मालिकके दिए हुए नही लेता, मालिकसे ही तिजोरी खुलवाता, उसके ही हाथसे सारा सामान निकलवाता, तो उसमे उस डाका डालने वालेको चोरीका दोष तो न लगना चाहिए। क्योकि उसने दिया हुआ ही तो लिया ? तो भाई ऐसी शका ठीक नही। कारण यह है कि अभिप्रायसे मैं दे रहा हू, मुझे देना चाहिए, ऐसा हर्ष

वाला अभिप्राय उसके कहाँ है ? तो वह दिया जाकर भी न दिया हुआ ही है। ऐसा धन ग्रहण करना भी चोरी कहलाता है। चोरीपापका लक्षण कहते है।

## मैथुनमब्रह्म ॥७-१६॥

(१५२) **कुशील पापका लक्षण**—मैथुन कर्मको अब्रह्म कहते है। स्त्री-पुरुषविषयक शरीर सम्मिलन होनेपर सुखकी प्राप्तिकी इच्छासे जो रागादिक भाव होता है वह मैथुन कहलाता है। मिथुनके भावको मैथुन कहते है। शब्दकी व्युत्पत्ति तो यह है, पर उस का भाव यह नही है कि दो द्रव्य जहाँ इकट्ठे हो वह मैथुन हो गया। अर्थ यह है कि परस्पर मिलकर जो कामविषयक भाव किया जाता है वह है मैथुन। यदि दोका एक जगह रहना कुशील कहलाने लगे तो जो उदासीन वृत्तिसे घरमे रहते है स्त्री पुरुष, जिनके ब्रह्मचर्यका नियम है, अलग रह रहे है, राग भी नही है कामविषयक तो उनके रहने मात्रसे फिर मैथुन कह दिया जायगा, इसलिए यह अर्थ नही किया जा सकता कि जो दोका कार्य है सो मैथुन है। मिथुनस्य कर्म मैथुन, यह भी अर्थ नही बनाया जा सकता, क्योकि किसी कार्यको दो पुरुष मिलकर कर रहे है—दुकान करना, भोजन बनाना या कोई एक ट्रकका दोनोके द्वारा ले जाना तो ये दो पुरुषोके द्वारा किए गए हैं, ये भी मैथुन कहलाने लगेंगे। इस कारण यह भी अर्थ न करना कि जो दोका काम हो सो मैथुन है। एक तीसरा यह अर्थ भी न करना कि स्त्री पुरुषका जो काम हो सो मैथुन है। दो पुरुषके किए हुए कामको मैथुन नही कहा किन्तु स्त्री पुरुष मिलकर कार्य करते हो वह मैथुन होता—यह भी अर्थ न करना क्योकि अनेक कार्य ऐसे होते कि स्त्री पुरुष मिलकर कर रहे। कभी भोजन बनाना आदिक भी स्त्री पुरुष मिलकर कर रहे हैं तो क्या वह कार्य मैथुन कहलायगा ? अथवा स्त्री पुरुष दोनों किसी साधुको नमस्कार कर रहे, प्रभुकी पूजा कर रहे तो क्या ये कार्य मैथुन हो जायेंगे ? नही। तब यह तीसरा अर्थ भी ठीक नही है कि स्त्री और पुरुषका जो कार्य है सो मैथुन है, किन्तु मैथुनका अर्थ क्या है ? चारित्रमोहका उदय होनेपर स्त्री पुरुषका परस्पर शरीरससर्गपूर्वक सुख चाहने वाले उन दोनोमे जो राग परिणाम होता है वह मैथुन है। सो यह तो मैथुन है ही, पर इतना ही न समझना, किन्तु एक पुरुष यदि हस्तादिक क्रियावोसे अपने शरीरके वीर्यको खोता है तो ऐसे समयके परिणाम भी मैथुन कहलाते है, ऐसे किसी भी प्रकारके रागभावको कुशील परिणाम कहते है।

(१५३) **कामचेष्टाओंमे मैथुनत्वकी प्रसिद्धि**—कामासक्त पुरुष अकेला ही कामपिशाच के वशीभूत होकर यही दो रूप बन गया है, इस कारण चारित्रमोहके उदयसे प्रकट हुए काम पिशाचके वशीभूत होनेसे वह अकेला ही पुरुष जो कामसक्त है वह दूसरेके साथ हो गया, इस

कारण भी उसकी क्रियावोको मैथुन कह सकते है। यद्यपि कुशील अपने कामविषयक खोटे भावको कहते है, फिर भी इस कुशीलताकी प्रसिद्धि मैथुन शब्दसे यो बनी है कि लोकमे और शास्त्रोमे उसकी प्रसिद्धि स्त्री पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुई रति विशेषमे हुई। लोकमे तो चरवाहे तक भी स्त्री और पुरुषविषयक रति कर्मको मैथुन कहा करते है। शास्त्रमे भी व्याकरण तकमे मैथुन शब्दका इसी भावसे प्रयोग है, इस कारण मैथुनमे कुशीलपरिणामका नाम रखा गया है। मिथुन शब्दसे प्रसिद्धि तो स्त्रीपुरुषविषयक है पर कभी दोनो पुरुषोमे भी परस्पर काम चेष्टा हो जाती है तो वह पुरुष चारित्रमोहके तीव्र उदयसे घिरी हुई स्थितिमे है। सर्व शकाओ का समाधान प्रमत्तयोग शब्दसे हो जाता है। जहाँ जहाँ प्रमत्तयोग है उसके कारण जो मिथुनका कर्म है, जो कामपिशाचके वश हुई चेष्टायें है वे सब मैथुन कहलाती है। यहाँ शब्द दिया है अब्रह्म। जो ब्रह्म नही सो अब्रह्म। ब्रह्म किसे कहते है ? अहिंसा आदिक गुण जिसके पालन करनेपर बढे उसका नाम ब्रह्म है। आत्मशीलकी दृष्टि करनेसे अहिंसा आदिक गुणोका विकास होता है, इस कारण शीलकी दृष्टिसे विषयोसे विरक्त होना ब्रह्म कहलाता है, है। और जो ब्रह्म नही है वह अब्रह्म है। अब्रह्ममे, मैथुन प्रवृत्तिमे उसके हिसा आदिक दोप पुष्ट होते है। जो मैथुन सेवन कर रहा है वह पुरुष योनिगत चराचर प्राणियोकी हिसा कर रहा है और वह उस रागमे झूठ भी बोलता है और इस कामकी पीडाके वश होकर कभी यह अदत्त वस्तुको भी ग्रहण करता है। इसके परिग्रहभाव मूर्छाभाव तो निरन्तर चलता रहता है। कामी सचेतन और अचेतन परिग्रहका ग्रहण करता है। अब्रह्म पाप एक महान पाप है, वहाँ तो अब्रह्म व्यभिचार हिंसाको भी कह सकते है, झूठ आदिकको भी कह सकते हैं किन्तु व्यभिचारकी प्रसिद्धि क्यो कुशील नामक चौथे पापमे हुई है कि इस कुशीलसेवन करने वालेके आत्माकी सुध होना बडा कठिन होता है। इस कारण कुशील आत्मशीलसे एकदम विपरीत भाव है। यहाँ तक हिसा, झूठ, चोरी, कुशील—इन चार पापोका वर्णन किया गया, अब परिग्रहका वर्णन क्रम प्राप्त है। सो अब परिग्रहका लक्षण बतलाते है।

## मूर्च्छा परिग्रहः ॥७-१७॥

(१५४) परिग्रह पापका लक्षण—मूर्छाको परिग्रह कहते हैं। किसी भी बाह्य पदार्थ का आत्मामे न लगावका सम्बध है और न विलगावका सम्बध है। सर्व पदार्थ स्वतन्त्र स्वतन्त्र अपनी सत्ता लिए हुए अवस्थित है और किसी भी पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मामे नही आता। इस कारण बाह्य पदार्थोको न यह आत्मा ग्रहण करता है और न बाह्य पदार्थ परिग्रह कहला सकते है। तो परिग्रह तो वह है जिसको अपने आत्मामे ग्रहण करे। आत्मा विकल्पको ग्रहण करता है इसलिए विकल्प मूर्छा यह ही परिग्रह है। बाह्य वस्तु परिग्रह नही

होता, फिर भी इन विकल्पोका व्यक्तिकरण आश्रयभूत कारणमे उपयोग देकर होता है और आश्रयभूत कारण है चेतन अचेतन बाह्य पदार्थ, सो आश्रयभूत कारण होनेसे इसमे परिग्रहका उपचार किया गया है। वास्तवमे परिग्रह मूर्छा है। मूर्छा क्या कहलाती है ? बाह्य जो धन धान्य वैभव चेतन अचेतन पदार्थ, गाय, बैल, भैस, पशु, वधु आदिक और भीतरमे है रागादिक भाव, इनकी रक्षा, इनका उपार्जन, इनमे लगाव, इनके सस्कारके प्रति जो आत्मा का भावरूप व्यापार है, विकल्प है उसे मूर्छा कहते है। यहाँ एक शकाकार कहता है कि शरीरमे जो वात, पित्त, कफ नामका किसी भी दोषसे जो यह शरीरमे विकार होता, बेहोशी होती, मूर्छा तो उसे कहा करते। उस ही मूर्छाका परिग्रह कहना चाहिए। इस शकाके उत्तर मे कहते है। इस शारीरिक मूर्छाको मूर्छा कैसे कहा जा सकता ? मूर्छा धातु मोह अर्थमे आती है, सो बाह्य और अतरग उपाधिकी रक्षा आदिकके विषयमे जो कुछ विकल्प जगता है वही यहाँ मूर्छा शब्दसे लिया गया है।

(१५५) **बाह्य पदार्थमे उपचारसे परिग्रहपना**—शकाकार कहता है कि यदि मूर्छा नाम अन्तरङ्ग विकल्पका है तो फिर धन धान्य वैभव आदिक परिग्रह न कहलायेंगे, क्योकि मूर्छा शब्दसे आध्यात्मिक परिग्रह ग्रहण किया है। फिर बाह्य पदार्थ परिग्रह न रहेगा। इस शकाके उत्तरमे कहते है कि प्रधानता तो अध्यात्मकी है, क्योकि जीवको कष्ट अपने मूर्छाके कारण होता है। आत्माकी सुध न रहना और अटपट बाह्यविषयक विचार जगना—यह ही मूर्छा है और इस ही से आत्माको कष्ट है। यह मेरा है, इस प्रकारका जो संकल्प है वह आध्यात्मिक परिग्रह है। और उसीको यहाँ कहा गया है। जब सकल्प विकल्पको परिग्रहमे ग्रहण किया गया तो इसका आश्रयभूत कारण जो बाह्य विषयभूत पदार्थ है वह अपने आप परिग्रह है। ऐसा उपचार किया जाता है। जैसे कि लोग कहने लगते कि अन्न ही वास्तवमे प्राण है, तो कही अन्न ही तो प्राण नही हो गया। प्राण तो ५ इन्द्रिय, ३ बल, १ श्वासोच्छ्वास और १ आयु ये १० है। अन्य कही प्राण नही है। चूकि शरीरकी स्थिति अन्नके कारण रहती है। इस कारण कर्ता कार्यका उपचार किया है सो कहा कि अन्न प्राण है। इसी प्रकार वास्तवमे मूर्छा तो अतरगका विकल्प है, पर इस विकल्पके आश्रयभूत कारण है बाह्य पदार्थ, अत बाह्य पदार्थोको परिग्रह कहा है और उनको ही मूर्छा शब्दसे कह सकते है।

(१५६) **नैमित्तिक भावोके अपनानेमे परिग्रहपना**—अब यहाँ कोई शकाकार कहता है कि यदि आत्मामे उठने वाले रागद्वेषादिक परिणामको परिग्रह कहते हो तो आत्मामे उठने वाले दर्शनज्ञानचारित्रको भी परिग्रह कह दीजिए, क्योकि आध्यात्मिक परिग्रहको प्रधान कह रहे हो। तो जो ज्ञान, दर्शन, चारित्रमे यह मेरा गुण है, यह मेरा स्वरूप है, इस प्रकारका

जो संकल्प है उसे ही परिग्रह कहो फिर ? इस शकाके उत्तरमे कहते है कि इस सूत्रमे प्रमत्त योग शब्दकी अनुवृत्ति लेना है, जिससे यह अर्थ निकलता कि प्रमाद कषायके सम्बन्धसे जो यह मेरा है, ऐसा सकल्प बनता है उसे मूर्छा कहते हैं, पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणके सम्बध मे किसीको बेमुधी या मोह कषाय नही जगती। प्रमत्तरहित साधुके भी ज्ञान दर्शन चारित्रके विषयमे कोई कषाय नही जगती, ऐसे मोहका अभाव होनेसे उस चिन्तनमे मूर्छा नही कही जाती और वह परिग्रहरहित है। दूसरी बात यह है कि रागादिक भाव तो कर्मोदयका निमित्त पाकर होते है सो वे रागादिक भाव पराधीन हैं, कर्मके उदयके आधीन है, इस कारण रागादिक भाव आत्माके स्वभाव नही है, किन्तु ज्ञानादिक भाव तो स्वय है, अहेय हे, ये त्यागे नही जा सकते। आत्मा स्वभावरूप है इस कारण ज्ञानादिक भावोसे परिग्रहपना नही माना गया है। हाँ रागादिक भाव जो मेरे स्वरूपमे नही है, कर्मके उदयकी छाया है उन भावोमे यह मेरा है—इस प्रकारका सकल्प होना यह परिग्रह कहलाता है।

(१५७) दर्शनमोहमे निरन्तर व्याकुलता एवं दुर्गति—यह मेरा है इस कथनमे भी दो जातियाँ है। एक पुरुष तो रागादिक विकारोको आत्मस्वरूप समझकर, उनसे भिन्न न निरखकर उसीको ही मानता है कि यह मै हूँ, यह मेरा है, ऐसे दर्शन मोह वाले जीवके भी बाह्य पदार्थोंमे यह मेरा है, ऐसा ख्याल जगता है। और सम्यग्दृष्टि पुरुषके भी परिस्थितिवश ऐसा कथन चलता है कि यह घर मेरा है, यह भाई मेरा है। परिग्रहपना यद्यपि दोनोमे आया तो भी एक अज्ञानीका विकल्प है और एक ज्ञानीका विकल्प है। वास्तवमे मूर्छा अतरग विकार को ही कहते है। जीवमे जितना भी दोपका सम्बध होता है वह परिग्रहके कारणसे होता है। जब किसी पदार्थमे यह मेरा है, ऐसा सकल्प बना तो उसकी रक्षाकी भी चिंता होती है, अनेक प्रकारके उद्यम करने पडते है और उन प्रवृत्तियोमे हिंसा भी अवश्य होती है। और परिग्रहके लिए यह झूठ भी बोलता है, चोरी भी करता है, कुशील कर्ममे भी लगता है और पश्चात् इन कुकर्मोंके कारण नरकादिके अनेक दुःख भोगने पडते है, इस लिए परिग्रह इस आत्माके लिए अत्यत अनर्थकी चीज है। जिस पुरुषको रागादिक विकारसे रहित ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप का परिचय नही है वह एकदम अधेरेमे है और इस जगतमे किसी भी पदार्थपर टिक नही सकता, क्योकि बाह्यपदार्थ तो अनित्य है, उनपर उपयोग जमेगा नही। जो अपना ध्रुव स्वरूप है उसका इसे परिचय नही तो इसका उपयोग जहाँ चल सकता है उसका तो ख्याल ही नही। बाहर ही बाहर भटकता रहता है।

(१५८) ज्ञानप्रकाश प्राप्त होनेपर ज्ञानीको सर्वत्र निरापदता—ससारमे जीवको कही भी दुःख नही है, क्योकि इसका स्वरूप ही आनन्द है। केवल आत्मस्वरूपमे दृष्टि करे

तो विदित होगा कि यह मैं ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हू, जिसका जगतमे कोई पहिचानने वाला नही है। जितना भी दूसरे लोग व्यवहार करते है मुझसे तो केवल इस शरीरको, इस पर्याय को निरखकर ही व्यवहार किया करते हैं, मेरे चैतन्यस्वरूपसे कोई व्यवहार नही कर सकता और न किसी पदार्थसे मेरा सम्बन्ध भी है। ऐसा विविक्त ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको दृष्टिमे लेने वाला पुरुष लोकमे उत्तम है। बाह्य धन वैभवकी तो कथा ही क्या ? यह शरीर भी मेरा स्वरूप नही। शरीरमे कोई चेष्टायें हो रही है तो उनका ज्ञाताद्रष्टा रहना है यह ज्ञानी। शरीरमे कोई रोग हो, शरीरमे कोई विकार हो तो उसका यह ज्ञाता द्रष्टा ही रहना है। उसे अपनाता नही कि हाय मैं क्या करूँ ? ज्ञानी पुरुषको किसी भी स्थितिमे उलझन नही रहती क्योंकि उसने यह समझ लिया है कि मैं तो केवल ज्ञानमात्र हू और स्वत ही सहज आनन्दस्वरूप हू। मेरेको बाह्यमे कुछ करनेको भी नही पडा है। किसी अन्य पदार्थमे मैं कुछ कर भी नही सकता हू। मात्र मैं अपने आपके भाव ही किया करता हू। फिर डर किसका ? शङ्का क्या ? विपत्ति कहाँ ? विपत्ति केवल माननेकी होती है। किसी भी स्थितिको अनिष्ट मान लिया लो विपत्ति आ गई और जब यह ज्ञान रहता है कि मेरा आत्मा परिपूर्ण है, ज्ञानमय है, आनन्दसे भरा है और यह अपने आपमे अपना परिणमन करता रहता है। हमे तो अपनेसे बाहर कुछ मतलब ही नही है, ऐसे अविकार स्वरूपको निरखने वालेके मूर्छा नही हो सकती। ज्ञानी पुरुषको तो अपने रागादिक भावोके प्रति भी ममता नही है। तब फिर उसे जगतमे कष्ट ही क्या है ? जितनी भी विपत्तियां आती है वे सब इस मूर्छाके आधारपर आती है। यहाँ तक ५ प्रकारके व्रत कहा, पांचो व्रतोकी भावनायें कही और जिन पापोसे विरक्त होना है उन पापोका स्वरूप कहा, सो भावनाओके द्वारा जिन्होने अपना चित्त स्थिर किया है और पापोमे अपाय विनाश देखते है, ऐसे विलक्षण पुरुष, विवेकी पुरुष समस्त ससारी क्रियावोसे हट जाते है, उनमे उत्सुकता नही रहती, क्योकि वे सब दु खरूप है। तब वे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ, इन भावोसे अपनेको स्वच्छ करते हुए मोक्षके प्रति अपना चित्त लगाते है। ऐसे पुरुषोके व्रत हुआ करते है। तो वे व्रती कैसे होते हैं इसके मूल स्वरूपको कहते हुए सूत्र कहते है।

## निःशल्यो व्रती ॥७-१८॥

(१५९) व्रतीकी अनिवार्य विशेषता—निशल्य व्रती होता है, व्रती निशल्य होता है। जीवकी रक्षा पापसे निवृत्त रहनेमे है। हिसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पापोमे जो अपना उपयोग रखता है, धर्मकी अवहेलना करता है। चूँकि यह स्वय भगवान आत्मा है। जानता तो सब है ही कि मैं यह खोटा काम कर रहा हू तो उसके ज्ञानमे होनेसे उसके

ज्ञानका बल घट जाता है और ज्ञानका बल घट जानेसे उसे अनेक प्रकारकी विह्वलतायें होती है। इससे जिसको अपने जीवनमे सुख, शान्ति चाहिए और जो दृढतापूर्वक अपना जोवन-यापन करना चाहता हो उसका कर्तव्य है कि अपनी शक्ति अनुसार इन ५ पापोसे विरक्त होवे। अब कोई पुरुष ५ पापोको ऊपरसे तो छोड चुका। किसीकी हिंसा नही करता, किसी से झूठ नही बोलता, किसीकी चीज नही चुराता, किसी परनारीपर दृष्टि नही देता, अधिक परिग्रह नही रखता या परिग्रहका त्याग कर देता, फिर भी यदि उसके अन्दर कुछ शल्य है तो वह व्रती नही कहला सकता। यह बात इस सूत्रमे कही जा रही है। भल्यका अर्थ है जो अनेक तरहसे प्राणि समूहको घाते, हिंसा करे, दु खी करे, काँटेकी तरह जो चुभे उसे कहते है शल्य।

(१६०) व्रतीकी मायाशल्यरहितता—वे शल्य तीन तरहके है—(१) माया, (२) निदान, (३) मिथ्या। छल-कपट करना। किसीके प्रति कपटका व्यवहार करनेसे फायदा क्या, बल्कि उस कपट करने वालेको हानि है। जिस किसी दूसरेके प्रति कपट किया गया उसको हानि होना उसके पापके अनुसार है, मगर इसने जो बुरा परिणाम किया उससे तो तत्काल ज्ञानबल घट गया और ऐसा कर्मबन्ध हुआ कि जिसके उदयमे यह भविष्यमें भी दुःखी रहेगा। जिसके आत्माका ज्ञान नही है वही पुरुष छल कपटकी बात सोचता है। जिसको साफ विदित है कि यह जगत भिन्न है, देह भी मेरा नही है, मैं अमूर्त ज्ञानमय पदार्थ हूं, स्वय सहज आनन्दमय हू। जैसे आकाश निर्लेप है ऐसे ही मै आत्मा अमूर्त अपने स्वरूपत निर्लेप हू। इसमे कोई वेदना नही, इस आत्मामे कोई बाधा नही, इस आत्माको कोई जानता नही। यह आत्मा स्वय आनन्दस्वरूप है। ऐसा जानने वाला पुरुष अपनी ही स्वरूप दृष्टिमे मग्न रहता है। बाहरसे वह सुखकी आशा नही रखता। होता ही नही कही बाहरसे सुख। जितना भी सुख होता है वह आत्माका आत्माके आनन्द गुणसे होता है। जब बाहर मेरा कही कुछ नही है तो किसी पदार्थके सचयके लिए क्या कपट करना? जीवन मिला है, कर्म भी साथ है, जैसा उदय होगा वैसा सहज योग मिलता जाता है। कार्य चलता जाता है, पर किसी भी पदार्थकी तीव्र अभिलाषा रखनेमे जिसके लिए कपट करना पडे तो उसका फल यह ही खुद भोगता है, दूसरा नही भोगता। जो ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है, व्रती है उसके छल कपट वाला शल्य नही होता। यह जीव वास्तविक सद्भूत पदार्थ है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आनन्द आदिक अनेक गुणोका यह समुदाय है। यदि यह सत्य ज्ञानरूप बना रहे तब तो आनन्द ही आनन्द है। और जहां तृष्णाका भाव आया और तृष्णाके कारणसे छल कपट करना पडता है तो ऐसा कपट वृत्ति रखने वाला पुरुष व्रती नही हो सकता।

(१६१) व्रतीकी निदानशल्यरहितता—दूसरा शल्य है निदान। मैं परलोकमे राजा बनू, सेठ साहूकार बनूं या देव बनू, इस प्रकारका भाव रखना निदान है। निदान तो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष करता ही नही है, व्रती हो तो वह निदान करेगा ही क्यो? जिसको अपने आत्माकी खबर नही है वही ऐसी उडान लगायेगा कि मैं राजा बनूं, देव बनूं • क्योकि उस अज्ञानीको यह खबर नही है कि ये राजा देव, सेठ आदि सब दु खी हैं। जहा जहा अज्ञान है वहा वहा दुःख है। उन दु खोकी रीति भिन्न भिन्न है। सेठ लोग और तरहमे दु ख महसूस कर रहे हैं, उनके पास धन वैभव है तो इसकी रक्षा कैसे हो, यह बिगड रहा है। इतना नुक्सान हो रहा है, यो न जाने कितने-कितने विकल्प करके दु खी रहते है? निर्धन लोग निर्धनतासे दु खी रहते है, चैनसे नही बैठ सकते। तो ये सब ससारके जितने रूपक होते। चाहे सेठ हो, चाहे राजा हो, चाहे मिनिस्टर हो, चाहे राष्ट्रपति हो, जो भी है वह निरन्तर दु.खसे पीडित रहता है। हां मोहके कारण वे अपनी पीडा ऐसी नही महसूस करते कि मैं दु खी हू, अपनेको कल्पनासे मानते कि मैं सुखी हू, पर है वे दु खी। वास्तविक विवेकी तो वह है जो ऐसा उपाय बनावे कि ससारके सकट सदाके लिए मिट जायें। प्रथम तो यह जानना कि इस शरीरका सम्बध ही सारे दुःखोकी जड है। शरीरका सम्बध न हो, केवल आत्मा ही आत्मा हो तो वह तो उसमे मग्न है, पर शरीरका सम्बध होनेसे कितनी ही बाधायें होती है। रोगकी बाधा, सम्मान अपमानकी बाधा, और और भी अनेक बाधायें है। खाली आत्मा हो तो वह क्या सोचेगा कि मेरी कीर्ति बढे, पर यह शरीर साथ लगा है और यह ही लोगोकी दृष्टिमे है तो उसे निरखकर निरतर यह विकल्प बनाये रहते है कि मेरा यश फैले, नाम हो, प्रशसा हो। यह सब चक्र इस शरीरका सम्बध होनेसे लगा है।

( १६२ ) आत्माकी परसे अबाधितता—भैया, तो यह जानें कि यह शरीर मेरेसे बिल्कुल भिन्न पदार्थ है। मैं आत्मा अपनी सत्ता लिए हुए हू। मेरे आत्माको किसी अन्य पदार्थ से कभी बाधा हो हो नही सकती। जितनी बाधाके जितने कष्ट लोग मानते है वे अपने आप मे अपने विचार, अपने विकल्प बनानेके दु ख हैं। बाहरी पदार्थोंसे कष्ट किसी जीवको होता ही नही है, कैसे हो? जैसे आकाशमे आग लगायी जा सकती है क्या? कभी नही लगायी जा सकती। अमूर्त है वह तो ऐसे ही इस आत्मामे कोई कष्ट दे सकता क्या कि इसमे कोई कील ठोक दे या इसे कोई पीट दे, या इसे कोई छुडा दे या इसे कोई दाब दे? कुछ भी नही किया जा सकता। यह आत्मा अपनेमे पूर्ण सुरक्षित है लेकिन यही खुद अपनेमे ज्ञानविकल्पकी तरग उठाकर अपनी ही करतूतसे, अपने ही मानसिक विचारसे, वासनासे, कुबुद्धिसे अपने आपको दु खी करता रहता है। इसको दुःखी करने वाला कोई अन्य पदार्थ हो ही नही

सकता कभी। यह श्रद्धान जिसके नही है वह पद-पदपर कुछसे कुछ सोच-सोचकर दु.खी होता रहता है, ऐसे ही अज्ञानी पुरुष कभी जान ले कि परलोक है तो वह उसका निदान किया करता है–मै राजा बनूँगा, मैं देव बनूँगा ? अरे सोच तो यह सोच कि मैं आत्मा केवल आत्मा रह जाऊँ, जिसके साथ अन्य कोई सम्पर्क न रहे, बस मैं यह चाहता हू। इसको तो अन्य कुछ चाहिए ही नही, क्योकि परका सम्बन्ध बनाना कलक है, कष्ट है।

(१६३) आत्माके परिपूर्ण स्वरूपास्तित्वके परिचयमें निःशल्यता—जब यह आत्मा स्वय परिपूर्ण अस्तित्वमे है, जब यह अनन्त ज्ञानानन्दमे रचा हुआ है तो इसको जरूरत क्या है पर पदार्थकी ? किसी भी पदार्थकी सत्ता अधूरी नही होती है। जो है वह पूरा है। जैसे किसी मकानकी अभी छत नही पडपाटी तो लोग कहने लगते कि अभी तो यह अधूरा है, पर मकान तो कोई वस्तु ही नही है ? वस्तु कोई भी अधूरी नही होती। क्या है ? परमाणु। वस्तु क्या है ? जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल एक एक जो परमाणु है वह है वस्तु। तो कोई वस्तु अधूरी हो तो बताओ ? कोई वस्तु आधा "है" बने और आधा "है" न बने ऐसा है नही। "है" आधा है ऐसा भी नही हो सकता और "है" आधा नही है ऐसा भी नही हो सकता। जो भी है वह पूरा है। मैं हू सो पूरा हू, परिपूर्ण हू। तो जब मैं अधूरा होता ही नही तो मेरेको फिर क्या पडा है बाहर कि जिसके लिए माया करें, निदान बाँधें। ज्ञानी जीव निदान नही बांधते। वास्तविक तथ्यका ज्ञान होना यह बडे ऊँचे भवितव्यकी बात है। संसारमे सुख दु ख है, पुण्य पाप है, वैभव मिलता है, सब कुछ ठीक है मगर शान्तिका आधार तो ज्ञान है। शान्तिका आधार वैभव नही। अगर शान्तिका आधार वैभव होता तो तीर्थंकर चक्रवर्ती जैसे महापुरुष अपने इस वैभवको तजकर क्यो जाते ? यहां तो यह सोच लेते कि हमारे निकटका पुद्गलस्कन्ध अगर कुछ कम हो गया तो मेरा बडा नुक्सान है और वे बडे तीर्थकर चक्रवर्ती सब कुछ त्यागकर भी अपने आत्मामे सतुष्ट रहा करते थे। मार्ग यह है, करना कुछ पडे, मगर सच्चा ज्ञान रहेगा दृष्टिमे तब ही हम पार हो पायेंगे। अगर सम्यग्ज्ञान नही है अपने उपयोगमे तो चाहे कुछसे भी कुछ मिल जाय, सासारिक विभूति, समृद्धि कितनी भी हो जाय मगर पार नही हो सकते। सिद्ध भगवन्तका स्वरूप कैसे निरखा जाता ? अब जैसे कि सिद्ध भगवान अकेले है, केवल आत्मा है, शुद्ध है, ऐसे ही केवल आत्मा मैं अभी यहां हू सबसे निराला केवल अपना ही अस्तित्व रखने वाला, यह मै आत्मा अब भी अकेला ही हू, अपने ही इस सत्त्वसे हू। दुकेला होना तो खराब है, पाप है, ससार है, कष्ट है।

(१६४) आत्माका सच्चा आराम—अपनेको अकेला विचारें, जैसा कि अपना खुद

मे स्वरूप है तो धीरता जगेगी, ज्ञानबल बढ़ेगा, शान्ति मिलेगी। ऐसा जीवनमे अगर रोज रोज १०-५ मिनट आत्माके स्वरूपका ध्यान न किया जाय तो यह जीवल किस लिए बिताया जा रहा है ? उत्तर तो दीजिए। जीवन बेकार है। यदि आत्माकी सुधका कोई उपाय नही बनाया जा रहा तो २४ घटेमे १०--१५ मिनट तो ध्यान आना चाहिए कि मैं सारे जगतसे निराला हू। जैसे कोई मजदूर दिन भरसे तेज परिश्रम करके आखिर आधा पौन घटा काम छोडकर, विकल्प छोडकर, पैर पसारकर, ढीला ढाला पडकर आराम तो कर लेता है तो ऐसे ही दिन रात विकल्प करके, विकल्पका परिश्रम करके, अपने आत्माको व्यथित करके जो एक थकान होती है, बेचैनी होती है नो भाई इन २४ घटोमे १०–१५ मिनटको तो सारे विकल्प छोड कर, अपने शरीरको ढीला ढाला छोडकर, उपयोगमे आत्मस्वरूपको निहार कर आराम तो कर। सच्चा आराम गद्दे से पडनेमे नही है, सच्चा आराम सारे जगतसे निराले अपने ज्ञान गात्र परमात्मस्वरूपकी दृष्टि करने और यहाँ ही ज्ञानको बनाये रहनेमे है। जिसके शल्य लगी है वह बडे कोमल गद्देमे भी पडा हो तो भी क्या उसे चैन मिलती है ? अरे वह तो बेचैन रहता है। और जो नि शल्य है, जिसको आत्माका ज्ञानप्रकाश मिला है वह कूडेमे पडा हो तो भी सुखी रहता है। तो जो नि·शल्य हो वही व्रती बन सकता है। शल्यवान पुरुष व्रती नही कहला सकता।

(१६५) **व्रतीकी मिथ्याशल्यरहितता**—तीसरा शल्य है मिथ्याभाव। पदार्थ अन्य प्रकार है, मान्यता अन्य प्रकार बन रही है, यह कहलाता है मिथ्यात्व। जगतके जितने पदार्थ हैं वे सब भिन्न हैं, विनाशीक हैं, पर यह अज्ञानी मानता है कि जो मेरा वैभव है वह भिन्न कहाँ है ? वह तो मेरा खास है। मकान, दूकान, कारखाना, पैसा ये सब जो कुछ मिले है सब मेरेसे कहाँ बिछुडे है, मेरे ही तो है। ये किसी दूसरेके कैसे हो सकते ? ऐसी जो श्रद्धा बनी है यह है मिथ्यात्व। ये सर्व पदार्थ विनाशीक है, औरोके लिए तो विनाशीक समझमे आते है, ऐसा समझते कि जो मिले है सो नष्ट हो जायेंगे, पर खुदको जो प्राप्त हुआ है उसके बारेमे यह श्रद्धा नही बनती कि यह भी नष्ट हो जायगा। मुखसे कहना और बात है, भीतर मे भावभासना होना और बात है। यह है मिथ्याभाव। मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानका दुश्मन है। उसे ज्ञानकी कोई चीज भाती ही नही, उसे ज्ञानोपदेश न रुचेगा, ज्ञानका स्थान न रुचेगा, ज्ञानका कोई कार्यक्रम रुचेगा ही नही। उसे तो ये बाह्य ढेला पत्थर ही कुछ हैं, क्योंकि अज्ञान छाया है, मिथ्यात्वका पिशाच चढा है। यह मिथ्यादर्शन बहुत बडा शल्य है। जिसके मिथ्यात्व है वह व्रती नही हो सकता। अब कुछ सयुक्तिक चर्चा सुनिये–सूत्रमे दो बातें कही गईं—(१) जो नि शल्य है सो व्रती है—तो एक शकाकार कहता है कि यह तो कोई तुक न

मिली कि नि शल्य व्रती कहलाता है। जो निःशल्य है सो तो निःशल्य कहलायगा, व्रती कैसे ? और जो व्रती है सो व्रती कहलायगा, वह नि'शल्य कैसे कहलायगा ? निःशल्यको व्रती कहना यह तो बेतुकी बात है। जो डडा पकडे हो सो डडा वाला कहलायगा, वह छतरी वाला कैसे अथवा पुस्तक वाला कैसे ? ऐसे ही निःशल्य और व्रतीकी बात है। नि.शल्यकी बात और है, व्रतीकी वात और है। इस शंकाका उत्तर यह है कि निःशल्य शब्दका अर्थ नि शल्य है, व्रती नही है और व्रती शब्दका अर्थ व्रती है नि.शल्य नही यह शब्दार्थ पदार्थ तो ठीक है, किन्तु इन दोनोमे कार्यकारण भाव है। जो नि.शल्य होगा वही व्रती हो सकता है, दूसरा नही। जिसके शल्य है वह व्रती नही है। यह बात यहाँ कही जा रही है।

(१६६) **सशल्यसे निःशल्य होनेका एक उदाहरण**—सशल्य व नि शल्य होनेमे पुष्पडाल मुनिका एक कथानक बहुत प्रसिद्ध है। पुष्पडाल जब गृहस्थावस्थामे थे तो उनके यहाँ एक दिन उनके गृहस्थकालके मित्र वारिषेण मुनिका आहार हुआ। वारिषेण मुनि भी उसी नगरीके थे। मुनि अवस्थामे जगलोमे रहते थे। सो आहार करनेके बाद जब जगल जाने लगे तो पुष्पडाल उन्हे पहुचाने गए। धीरे धीरे करीब १ मील जगह तय कर गए, पर न तो पुष्पडालने लौटनेकी बात कही और न वारिषेण महाराजने वापिस होनेकी बात कही। पुष्पडाल किन शब्दोमे कहे कि हम वापिस लौटना चाहते ? कुछ समझमे न आया सो एक तालाबको देखकर बोले—महाराज यह वही तालाब है जहाँ बचपनमे हम आप स्नान किया करते थे। यहासे नगर करीब १ मील दूर है। तो इसका अर्थ यह था कि मैं एक मील तक पहुचाने आ गया हू और वापिस लौटनेकी बात महाराजश्री बोल दें। इतनेपर भी जब न बोले तो कुछ आगे चलकर एक बगीचेको देखकर बोले—महाराज यह वही बगीचा है जहाँ बचपनमे हम आप खेलने आया करते थे। यह नगरसे करीब २ मील है इसका भी अर्थ वही था कि अब हम दो मील तक पहुचाने आ गए, वापिस होनेकी आज्ञा दे, पर वारिषेण महाराजने वापिस लौटनेकी कुछ बात न कहा। कुछ दूर और गए तो वह जगल भी मिल गया जिसमे वह मुनिराज रह रहे थे। वहाँसे भी वापिस लौटनेकी बात न कही। कुछ प्रसग पाकर भाव उमडे और वही पुष्पडाल भी मुनि बन गए। अब बन तो गए मुनि, पर उनको यह शल्य बराबर बना रहा कि मै अपनी स्त्रीसे बताकर भी नही आया, पता नही हमारी उस स्त्रीका क्या हाल होगा ? सुनते है कि उनकी स्त्री कानी भी थी, पर उसीकी याद बराबर बनी रही। आखिर वारिषेण महाराजने पुष्पडालके मनकी सब बात समझ ली और कहा तो कुछ नही, पर एक उपाय रचा पुष्पडालका शल्य निकालनेका, क्या, कि वारिषेण महाराजने अपनी माताके पास खबर भेजी कि कलके दिन दोपहरमे हम घर आवेंगे, आप सभी

रानियोको खूब सजाकर रखना। यह समाचार पाकर वह माता बडी हैरान हुई। सोचा कि क्या दुर्बुद्धि छा गई मेरे बेटेमे जो घर आना विचारा। कुछ सोचकर मन ही मन—अच्छा देखा जायगा। दूसरे दिन उस माताने सभी रानियोको खूब सजा दिया, (शायद ३२ रानियाँ थी) और दो सिंहासन पास ही पास रख दिये, एक स्वर्णका और एक काठका इस ख्यालसे कि अगर बेटेके मनमे कुबुद्धि गई होगी तो स्वर्णके सिंहासनपर बैठ जायगा और यदि कोई और बात होगी तो काठके सिंहासनपर बैठ जायगा। आखिर हुआ क्या कि जब पहुचे वारिषेण महाराज और पुष्पडाल तो वारिषेण महाराज तो काष्ठासनपर बैठ गये और पुष्पडालको सुवर्णासनपर बैठा दिया। पुष्पडाल वहाका सारा ठाठ देखकर दग रह गए। इस विचारधारामे पड गए कि अरे ऐसी ऐसी सुन्दर ३२ रानिया, ऐसा ऐसा ठाठ छोडकर ये मुनि हुए और यह मै एक कानी स्त्रीका इतना ख्याल बनाये रहता, धिक्कार है मेरे जीवन को। बस क्या था ? ज्ञान जग गया, वह शल्य दूर हो गया जो उनकी आत्मसाधनामे बाधक बन रहा था। वारिषेण महाराज तो ऐसा चाहते ही थे जिससे इस प्रकारका उपाय रचा था। जब पुष्पडाल मुनिका वह शल्य निकला तब धर्मध्यानमे उनका चित्त जमा।

(१६७) निःशल्य पुरुषके ही व्रताधिकारपना—यहां कह रहे थे कि जहां शल्य है वहां व्रत नही, जो व्रती है उसमे शल्य नही। बाहरमे दृष्टि डालकर देख लो, शान्ति कही बाहरसे न मिलेगी। शान्ति मिलेगी अपने आपके अन्तःस्वरूपमे बसे हुए ज्ञानानन्द स्वभावमे। तन्मात्र ही अपने आपको मापें तो उद्धार है, अन्य किमी बातसे इस जीवका उद्धार नही। जरा ध्यान देकर कुछ मोचो तो सही कि आज हम आप कितनी श्रेष्ठ स्थितिमे है—मनुष्यपर्याय मिली, श्रेष्ठ कुल मिला, सब श्रेष्ठ समागम मिले, सब प्रकारके आरामके साधन मिले, धर्मका कुछ सिलसिला भी चल चल रहा है। ऐसे सब प्रसगोको पाकर अब इस मानवजीवनको व्यर्थ नही खोना है, अपने लिए कोई हितका उपाय बनाना है। वैसे तो बहुतसे लोग रोज रोज मदिर भी आते, धर्मस्थानोकी भी बडी बडी व्यवस्थायें करते, लोग भी धर्मात्मा समझते, पर कोई इसका सही निर्णय नही दे सकता कि हां वह वास्तवमे धर्म कर रहा है। पता नही, ये सब कुछ धार्मिक क्रियाकाण्ड करके भी उसे अपनी इज्जत प्रतिष्ठाको मनमे चाह हो। तो बताओ कहां रहा वह धर्म ? एक बाहरी दिखावा भरका धर्म रहा। इस जगतमे सब एक दूसरेकी झूठी प्रशसा करते है, गल्ती करते हुए भी अपनी गल्ती नही महसूस करते। कुछ धर्म कार्य करके अपनेको मानते कि मैं बडा धर्मात्मा हू और इसके फलमे मुझे मोक्ष मिलेगा, मगर यह सब उनकी भूल है। जिसको अपने आत्माके सहज स्वरूपका बोध नही है, मेरी क्या परिणति है, क्या स्वरूप है और क्या धर्म है ? उसे धर्ममार्ग रच मात्र भी नही मिल सकता। तो

कहनेका तात्पर्य यह है कि इतना तो कष्ट कर रहे, साथ ही थोडा यदि ज्ञानकी बात और जान लें, प्रकाश पालें तो इनका यह सारा उद्यम भी इनको हितमार्गमे बढनेके लिए सहयोगी बन जायगा। परमात्मस्वरूपका बोध हुए बिना किसीको धर्ममार्ग मिल नही सकता, इससे आत्मा को जाननेके लिए चाहे अपना सर्वस्व अर्पित करना पडे, फिर भी अर्पण करनेको तैयार रहे। तो जो आत्मज्ञानी है वे नि.शल्य है और जो नि.शल्य है सो ही व्रती है। अब यहाँ जिज्ञासा होती है कि व्रतीके विषयमे जो वर्णन किया है कि वे तीन शल्यसे रहित होना, हिसा आदिक पापोके अभावसे अहिसा आदिकमे परिणाम बढना, परिग्रहसे निरपेक्ष होना, समस्त आगार अर्थात् घरके सम्बन्धको तजना सो वही व्रती कहलाता है या और कोई गृहस्थ भी व्रती हो सकता है, इस जिज्ञासाके समाधानमे कहते है कि इन हिसा आदिक पापोकी विरतिके एकदेश और सर्वदेशके भेदसे ये व्रती दो प्रकारके कहे गये है—उनमे एक गृहस्थ है और एक मुनि है। इसी बातको इस सूत्रमे कहते है।

## अगार्यनगारश्च ॥७-१६॥

(१६८) भावागार होने न होनेके आधारपर व्रतीके भेद—व्रती दो प्रकारके—गृहस्थ और मुनि। गृहस्थको यहाँ अगारी कहा गया है। अगारका अर्थ है घर। अगारका घर अर्थ कैसे निकला ? तो अगार शब्द बना है अङ्ग् धातुसे। आश्रय चाहने वाले मुनिके द्वारा जो ग्रहण किया जाय, अगीकार किया जाय उसे आगार कहते है। वह है घर। और जिसके अगार नही है उसे अनगार कहते है। यहाँ एक शंका होती है कि जिसके घर हो, जो घरमे रहता हो वह गृहस्थ है। जो घरमे नही रहता वह मुनि है, ऐसा नियम बनानेसे तो दोष आयगा। कैसा ? यदि कोई गृहस्थ किसी कारणसे जगलमे चला गया तो वहाँ वह घररहित है तब तो उसे मुनि कहना चाहिए। अथवा कोई मुनि धर्मशालामे, मदिरमे या किसी घरमे निवास करे तो उसे गृहस्थ कहना चाहिये। तो यह नियम तो न बना कि जिसके घर हो वह गृहस्थ है। जो घरमे नही है वह मुनि है। इस शंकाके उत्तरमे कहते हैं कि यहाँ अगार का अर्थ भीत वाला घर न लेना, किन्तु भावका अगार लेना। जिसके भावमे घर बसा है उसे कहते है गृहस्थ, अगारी और जिसके भावमे घर नही बसा उसे कहते है अनगार। चारित्रमोहका उदय होनेपर घरके सम्बन्धके प्रति जिसका परिणाम नही निवृत्त हुआ, घरसे जो नही हट सकता ऐसा पुरुष तो अगारी है। वह चाहे किसी कारणसे वनमे भी चला जाय अथवा कुछ धार्मिक भी हो, जिसको विषयोमे तृष्णा लगी है वह जंगलमे चला जाय तो भी अभी घरसे उसका परिणाम हटा नही है, संस्कार मिटा नही है। अभिप्रायपूर्वक दृढतापूर्वक उसका अलग होनेका निर्णय नही है, इसलिए वह अगारी है और जिसके अगार नही अर्थात्

भावमे घर नही उसे अनगार कहते हैं।

(१६९) **एकदेश व्रत पालन करनेपर भी व्रतित्वका उपदेश**—अब एक शका और होती है कि जो गृहस्थ व्रती है उसके समस्त व्रत नही है। जब समस्त व्रत नही है तो उसको अव्रली कहना चाहिए। इस शकाके उत्तरमे कहते है कि यहाँ व्रतीका कथन नैगम, सग्रह और व्यवहाररूपसे है। जैसे कि कोई नगरके किसी एक कोनेमे रहता है और उससे पूछा जाय कि तुम कहाँ रहते हो ? तो वह कहता है कि नगरमे रहते। अब नगर तो है कोई मील दो मील भरका, उस सबमे कहाँ रहेगा कोई ? तो नगरके एक देशमे रहनेपर भी जैसे उसे नगरवासी कहते है इसी प्रकार समस्त व्रत न होनेपर भी कुछ नियम किये तो भी वह व्रती कहलाता है अथवा जैसे कोई ३२ हजार नगरोका अधिपति है तो वह सार्वभौम राजा है। और यदि कोई एक देशका ही पति है, राजा है तो क्या वह राजा नही कहलाता ? अर्थात् कहलाता। इसी प्रकार १८ हजार शील और ८४ लाख उत्तर गुणका जो धारी है वह तो अनगार है, महाव्रती है, पर सयमासयम गृहस्थ भी अणुव्रतधारी होनेसे क्या व्रती नही कह- लाता ? कहलाता ही है। इस सूत्रमे यह बताते कि जिसके भावघर है वह गृहस्थ है और जिसके भावघर नही है वह मुनि है। अब अगारीका लक्षण कहते है—

## अणुव्रतोऽगारी ॥७-२०॥

(१७०) **व्रतित्वकी दृष्टिसे अगारीका स्वरूप**—जिसके अणुव्रत है वह अगारी होता है, गृहस्थ श्रावक कहलाता है। व्रतोमे अणुपना कैसा, जिससे कि अणुव्रत नाम कहलाये ? उत्तर—समस्त सावद्यसे वह हटा नही है, इस कारण उसके व्रतको अणु कहते है। पूरा पापसे न हटनेके कारण उसके व्रतका नाम अणु है। तब फिर यह किससे हटा हुआ है ? यदि समस्त पापोसे नही हटा तो किससे हटा है। उत्तर—दो इन्द्रिय आदिक जीवोकी हिंसासे निवृत्त हुआ है मनसे, वचनसे, कायसे। अब यह ज्ञानी जीव दो इन्द्रिय आदिक जगम प्राणी का घात नही करता, घातसे निवृत्त हो गया। उसका अहिंसक अभिप्राय बन गया, नियम हो गया। यह तो अहिंसाविषयक अणुव्रत है। और सत्यविषयक अणुव्रत क्या है गृहस्थके कि स्नेहके, द्वेषके, मोहके उद्रेकसे जो असत्य कथन होता है उस असत्य कथनसे निवृत्त हो गया, ऐसी असत्य वाणीसे उसका आदर नही रहा तो वह लक्षणीय असत्याणुव्रतका धारी है। तीसरा व्रत है अचौर्याणुव्रत। दूसरे पुरुषोको पीडा पहुची हो या राजाका भय हो या किसी कारणसे उसे छोडना ही सोचा हो कि इस चीजको छोडना ही चाहिए, किसी तरह छूट गया हो या किसीके भूलसे गिर गया हो तो वह अदत्त है, किसीका दिया हुआ तो नही है। तो ऐसे अदत्त धनके प्रति आदर न रहना सो यह अचौर्याणु व्रत है। ब्रह्मचर्याणु व्रत-

विवाहित या जिसके साथ विवाह न हुआ हो ऐसे अन्य स्त्रियोके संगसे विरक्त रहना यह ब्रह्मचर्याणुव्रत है। ५ वा अणुव्रत है परिग्रहपरिमाणुव्रत। धन धान्य खेत आदिककी जितनी अपनी इच्छासे सीमा ले ली है उस सीमाको न तोडना और उस परिमाण किए हुए वैभवमे ही अपना निर्वाह करना यह ५वाँ परिग्रह परिमाणाणुव्रत है। इस प्रकार जिसके ये ५ अणुव्रत पाये जाते है वह अगारी है, गृहस्थ श्रावक है। अब जिज्ञासा होती है कि जो ५ पापोसे विरक्ति बतायी गई है, जिसने ऐसी स्थूल विरति पायी है उस श्रावकके क्या इतनी ही विशेषता है या अन्य भी कुछ विशेषता है ? अन्य विशेषता अर्थात् शील बतानेके लिए सूत्र कहते है।

**दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोपधोपवासोपभोगपरि-**
**भोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥ ७-२१ ॥**

( १७१ ) **दिग्व्रत और देशव्रतका निर्देश**—वह अणुव्रती गृहस्थ श्रावक ७ शीलो से सम्पन्न होता है। तीन गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत इनका नाम शील कहलाता है, क्योकि इन ७ व्रतोमे प्रथम तीन तो है गुणव्रत। गुणव्रत उसे कहते है जो व्रतीके गुणोकी वृद्धिमे उपकारक हो। वे तीन है—(१) दिग्व्रत, (२) देशव्रत और (३) अनर्थदण्ड व्रत। पाप आरम्भके त्यागके लिए जीवनपर्यन्त दिशावोमे सीमा रख लेना, उससे बाहर आना, जाना आदिक सम्बंध न रखना सो अहिंसा दिग्व्रत है। दिशायें कहते हैं आकाशके प्रदेशोको। उस ओरके आकाशप्रदेश जहाँसे सूर्य निकलता है उसे कहते है पूर्व दिशा। और, वह सूर्य गोल घूमकर उसके सीधमे पहुच जाय तो उसे पश्चिम दिशा कहते है। जितना पूर्व और पश्चिमके बीच है वह कहलाता दक्षिण और जितना पश्चिम और पूर्वके बीच हो वह कहलाता उत्तर। तो सर्व दिशावोमे आजीवन व्यापार आदिकका नियम कर लेना कि इससे बाहर मेरा सम्बध न रहेगा, यह हुआ दिग्व्रत। देशव्रत–दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर और थोडा क्षेत्र, थोडे समयके लिए करनेपर देशव्रत कहलाता है। जिसमे यह भाव होता है कि मैं इतने समय तक इससे बाहर आने जानेका सम्बध न रखूंगा। तो इसे कहते है देशव्रत। दिग्व्रत और देशव्रतमे जितनी सीमा रखी है उस व्रतके समय उस सीमाके बाहर वह पापसे रहित है।

(१७२) **अनर्थदण्डविरतिके लक्षण व प्रकार**—अनर्थदण्डव्रत अनर्थमे अर्थात् अपना कोई काम नही है, अपना कोई भला नही होना है, उपकार नही होना है, फिर भी पापके साधनोसे सम्बन्ध करना, प्रयोग करना सो अनर्थ दण्ड है। इन सबसे विरक्त होना सो व्रत कहलाता है। इस सूत्रमे विरति शब्द पूर्वमे कहनेसे शब्दके साथ लगेगा। जैसे दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति। समस्त अनर्थदण्डोके साथ विरति शब्दका प्रयोग होगा। यहाँ

शंकाकार कहता है कि ७ वें अध्यायके इस पूर्व प्रकरणमे सब जगह प्रथम सूत्रमे कहे गए विरति शब्दकी अनुवृत्ति ली जायगी। सो विरतिकी अनवृत्ति होनेसे अपने आप विरति सिद्ध हो गया। फिर इस २१ वें सूत्रमे विरति शब्द रखनेकी जरूरत नही है। इसके उत्तरमे कहते है कि यदि सूत्रमे विरति शब्द न दें तो यहाँ किस किसके साथ विरति शब्द लगाना चाहिए ? यह अर्थ न मिलेगा। उसका अर्थ सामान्यविरति होगा और यहाँ विरति शब्द देनेसे सबमें नाम बन जाता है—जैसे दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदडविरति। अनर्थदड ५ तरहके होते है—(१) अपध्यान, (२) पापोपदेश, (३) प्रमादचर्या, (४) हिंसादान और (५) दुश्रुति। दूसरे जीवका जय पराजय सोचना, किसीके बध बधका विचार करना, किसी का कोई अग छेदना, किसीका धन हरना अपध्यान नामका अनर्थदड है, क्योकि ऐसा विचार करने वाले पुरुषको इस विचारसे क्या लाभ होता ? दूसरेका बुरा विचारनेसे इस आत्मा को क्या लाभ होता, चाहे कितनी ही किसी ने बाधा दी हो, फिर भी उसका बुरा विचारना ठीक नही है, क्योकि बुरा विचारनेसे उसका बुरा न होगा, बल्कि स्वयका परिणाम मलिन करनेसे स्वयके परिणामसे स्वयका बिगाड होगा। तो किसीका भी बुरा न विचारना यह है अपध्यान अनर्थदण्डविरति। पापका उपदेश न करना। जैसे इस देशमे पशुको खरीदकर अमुक जगह जाकर बेचा जाय तो वह लाभ देता है, ऐसे पापयुक्त वचन बोलनेको पापोपदेश कहते हैं। हिसादान—किसी शिकारी जाल वालेको यह कहना कि इस बनमे पक्षी बहुत है। इस वनमे हिरण आदिक रहते है, ये वचन पापोपदेश है, क्योकि उसका प्रयोग तो शिकारी लोग उसका बध करनेसे मानेंगे, इसी प्रकार खेती आदिकके प्रयोगात्मक युक्तियाँ बताना, इस तरह खोदना, इस तरह जलाना, इस तरह अग्नि लगाना आदिकके आरम्भ इन उपायोसे करना चाहिए, यह कहना आरम्भिक उपदेश है। प्रमादचर्या– कुछ प्रयोजन नही है फिर भी वृक्षादिकको छेदना, भूमिको कूटना, पानी बखेरना आदिक सावद्यकर्म प्रमादचर्या कहलाते है। हिंसादान–जैसे शस्त्र, अग्नि, बरछी, ढाल, तलवार आदिक जो जो भी हिंसाके उपकरण है उनको देना हिंसा दान है। दुश्रुति—हिंसामे राग बढाना, दुष्ट कथावोको सुनाना, खोटी शिक्षा करना आदिक व्यापारोको अशुभ दुश्रुति कहते हैं। ऐसे इन ५ अनर्थदंडोसे बचना अनर्थदडविरति कहलाता है।

(१७३) **सामायिक एवं प्रोषधोपवास नामके शिक्षा व्रतोका निर्देश**—उक्त कथनमे तीन गुणव्रतका स्वरूप सुना, अब शिक्षाव्रतोका स्वरूप सुनिये—सामायिक नाम है समता परिणामका। नियत देशमे नियतकाल तक प्रतिज्ञा की हुई सामायिकमे रहकर अविकार आत्मस्वरूपके अनुभवका पौरुष करना सामायिक है। जैसे दिग्व्रतमे मर्यादाके वाहर न चलने

से वह श्रावक सीमाबाह्य क्षेत्रके प्रति महाव्रतीका तरह है, देशविरतमे क्षेत्रमर्यादाके बाहर गृहस्थ महाव्रतीकी तरह है, ऐसे ही सामायिकमे आत्माभिमुखताके समयमे वह महाव्रतीकी तरह है, पर दिग्व्रती देशव्रती व सामायिक शिक्षाव्रती श्रावक वस्तुत. कही महाव्रती न कहलायगा, सयमी न कहलायगा, क्योकि सयमका घात करने वाले कर्मका उदय उसके चल रहा है, फिर भी महाव्रत जो कहा जाता है वह उपचारसे कहा जाता है। हिंसा आदिक बाह्य क्रियावोमे जिसकी बुद्धि आसक्त नही है किन्तु अतरगमे सयमका घात करने वाले कर्मोका उदय होनेसे सर्वदेशसे विरति नही है तो भी जितने देशमे, जितने कालमे वह इस आरम्भमे रहता है उससे बाहरके देशकालमे निराम्भ होनेसे उसके महाव्रतका उपचार किया जाता है तभी तो भाव महाव्रतो की अन्तःस्थिति न होने पर भी निरतिचार द्रव्य महाव्रतके धारी, निर्ग्रन्थलिङ्गधारी कोई अभव्य पुरुष भी हो, उसके ११ अगका अध्ययन हो जाता है, महाव्रत का पालन भी हो जाता है फिर वह नवग्रैवयक तक उत्पन्न भी होता है। उपवास कहते है अपने धर्मध्यानके लिए आत्माके लक्ष्य पूर्वक रहनेको। उपवास शरीरका सस्कार नही होता, शृंगार भी नही होता, स्नान भी नही होता, आभरण पहिनना आदिक भी नही होता, तो ऐसी स्थितिमे यह श्रावक साधुवो के निवास क्षेत्रमे रहकर, चैत्यालयमे रहकर या अपने ही घरमे जो एक अलग स्थान बनाया है, जिसमे धर्मध्यान किया जानेका सकल्प है वहाँ बैठकर, रहकर, धर्मकथायें सुनकर, चिंतनकर जिसका मन पवित्र हो गया, ऐसा पवित्र चित्त होकर अपने आत्माके निकट निवास करे वह निरारम्भ श्रावक वृत्ति है—यह कहलाता है उपवास। उप मायने निकट वास मायने रहना। प्रोषध एकाशनको कहते है, प्रोषधपूर्वक व प्रोषधपरक उपवासको प्रोषधोपवास कहते है।

**(१७४) शुभास्रवके प्रकारणमे मोक्षमार्गपात्रतानुकूली अणुव्रतोका वर्णन**—इस सप्तम अध्यायमे आस्रवका प्रकरण है। किस भावकर्मसे किस द्रव्यकर्मका आस्रव होता है यह बात तत्त्वार्थ सूत्रके छठवें और ७वें अध्यायमे कही गई है। छठवें अध्यायमे आस्रवका सामान्य वर्णन था। यहाँ पुण्यास्रवका वर्णन चल रहा है। व्रत करनेसे कर्मनिर्जरा नही किन्तु पुण्यका आस्रव है और शुद्ध आत्माका ध्यान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। यद्यपि जो व्रत करता है उसके भी शुद्ध ध्यान कुछ-कुछ साथ है और अतरगमे सम्यग्दर्शन और पापनिवृत्तिका परिणाम है इसलिए वहाँ भी निर्जरा चलती है। पर व्रतक्रिया करनेसे निर्जरा नही किन्तु पापसे निवृत्ति हो गई है, उसका कारण निर्जरा है। जैसे मानो कि रागके १०० अश है और रागके १५ अश निकलने पर सम्यक्त्व हुआ और उसके बाद मानो २५ अश और निकले तब अणुव्रत हुआ

अर्थात् अणुव्रतीके जो कुछ राग निकल गया, कुछ राग रह गया, यह स्थिति है श्रावकोंकी। अब व्रतोमे जो प्रवृत्ति चलती है दया करना, सच बोलना, ऐसी जो शुभ प्रवृत्ति चलती है उसका कारण है वह बचा हुआ राग, और जो राग निकल चुका था, न रहा, उसका काम है कि पापसे हट जाना। तो पापसे जो हट गया उससे तो है निर्जरा और शुभ क्रियावोमे जो लग रहा उससे है पुण्यका आस्रव। इसी शुभ आस्रवके प्रकरणमे इस सूत्रमे श्रावकके अणु-व्रतोंके पोषक शील व्रतोका वर्णन चल रहा है।

(१७५) **अणुव्रतपोषक सप्त शीलोका निर्देश**—दिग्व्रत, देशव्रत अनर्थदण्डव्रत ये तीन गुणव्रत है अर्थात् दिशावोकी मर्यादा कर लेना कि मै इन चारो दिशावोमे इतनेसे बाहर किसी दूसरे देशसे लेनदेन न रखूँगा, कोई सम्बन्ध न रखूँगा, आना जाना न रखूँगा, यह दिग्व्रत कहलाता है। इसका प्रयोजन यह है कि यह श्रावक अपनी सीमाके अन्दर ही विकल्प विचार करेगा, आना जाना रखेगा, इसके बाहरसे सम्बन्ध न रहेगा तो निराकुलता रहेगी, धर्मसाधनामे बढेगा। देशव्रतमे उस दिग्व्रतकी मर्यादाके अन्दर भी और छोटी मर्यादा रख ली कुछ समय नियत कर। जैसे दसलक्षण पर्वके दिनोमे अपने नगरसे बाहर न जाना, ऐसे ही कुछ और म्याद रख ले वह है देशव्रत। उसका भी यही प्रयोजन है कि विकल्प तरग इच्छायें न उठें। अनर्थदण्डव्रत—जिस कायके करनेसे आनन्दमे अटक आ पडे और कर्मोंका बध होता है उनको त्यागना यह अनर्थदण्डव्रत है। जैसे व्यर्थके पापके उपदेश करना, हिंसा की चीज दे देना, अधिक जल बखेरना, चलते-चलते पत्तोको छेद देना, इनमे मेरा कुछ अटका नही है फिर भी करना अनर्थदण्डव्रत है। यो अनर्थदण्डसे विरक्त होना व्रत है। ४ शिक्षा-व्रत है, (१) सामायिक करना, नियत समयपर नियत कालमे आत्मचिन्तन करना, (२) प्रो-षधोपवास करना अर्थात् अष्टमीको उपवास किया तो सप्तमीको एकाशन, नवमीको एकाशन, फिर दशमीको उपवास यह प्रोषधोपवास है। इसके अतिरिक्त दो और व्रत है। (३) भोगो-पभोग परिमाण और (४) अतिथिसम्विभागव्रत। इन दोनो व्रतोका वर्णन आगे आयगा।

(१७६) **भोगोपभोगपरिमाणव्रतनामक शिक्षा व्रतका विवरण**—भोगोपभोग परि-माण—भोग और उपभोगकी चीजोका परिमाण कर लेना। भोग कहते है उसे जो एक बार भोगनेमे आ जाय, फिर दुबारा न भोगा जा सके। जैसे भोजन, पानी, तेलमालिश या नहाना जिस जलसे नहा लिया उस नहाये गए जलसे फिर नही नहाया जाता तो यह सब भोग कह-लाता है। उपभोग वह कहलाता कि भोगे छोडे फिर भी वही चीज भोग सकता है। जैसे रोज रोज कपडे पहनते है, वही घर है, वही आभरण है। जिसे रोज रोज बर्तते हैं। तो ये उपभोगकी चीजें कहलाती है। तो भोगोपभोग दोनोका परिमाण कर लेना, मैं इतनी

चीज रखूँगा इससे अधिक नही। जिनके परिमाण नही है उनके दिलका कही टिकाव नही हो पाता। प्रथम तो परिग्रहका परिमाण होना चाहिए। ५ लाख, १० लाख जो भी उचित समझे, उतनेका परिमाण कर लेना। परिमाण होनेसे उसके चित्तमे तृष्णाकी दाह नही रहती। यो तो लखपति है तो करोडपति होनेका भाव बनता, करोडपति है तो अरबपति होनेका भाव बनता, फिर और भी आगेके भाव बनते, बस इसी तृष्णाकी दाहमे जलते हुए सारा जीवन यो ही व्यर्थ खो दिया जाता, उसका कोई सही उपयोग नही हो पाता। इस मानव जीवनका सही उपयोग है धर्मपालनसे। धर्मपालनकी दृष्टि रहे इसी लिये गृहस्थको परिग्रह परिमाण करना बताया गया। भोगोपभोगमे परिमाण रखना कि मुझे इतनी ही चीज रखना, उससे आगे नही। आज जो प्राय करके सब दुःखी नजर आते है उसमे कारण यही है कि लोगोके चित्तमे परिमाणकी भावना नही है। अब जो बात कभी घरमे होती ही न थी, वे होने लगी। रेडियो आया, फिर टेलीविजन हुआ, फिर फ्रिज हुआ, बिजलीके पखे हुए, पखोसे भी काम न चला तो कूलर लगवाये, कपडा धोनेकी मशीन हुई, आराम करनेके समय कोई शरीर दाबने वाला न हुआ तो उसकी भी मशीन हो गई। भला बताओ ऐसा कौनसा काम बाकी रह गया जो मशीनोसे न होता हो? अब परिग्रहका परिमाण न होनेसे मनमे एक ऐसी लालसा बनी रहती कि अभी अमुक चीजे चाहिएँ, अमुक चाहिएँ। भला बताओ इसी इसीमे चित्त बसा रहनेसे उसे आत्माकी सुध कहाँसे हो सकती? जिनका जीवन किसी न किसी कष्टमे बना रहता है ऊपरी कष्टमे, अज्ञानके कष्टमे नही किन्तु शारीरिक कष्ट, धन वैभवका कष्ट, परिजनका कष्ट। तो उस सुखी आदमीसे वे अधिक अच्छे है जिनको ज्ञान जगा है और उन कष्टोमे अपने आत्माका स्मरण करता है और परमात्माका स्मरण करता है। बाहरसे कष्ट होने पर भी भीतरमे उसको शान्ति है और एकको बाहरमे कोई कष्टके साधन नही है, बडा ठढा मकान है, बहुत नौकर चाकर है, गद्दो तकियोपर पडे है, ये सब आराम है मगर अज्ञान बसा है इससे चित्तमे उसे शान्ति नही मिल सकती। शान्तिका आधार ज्ञान है, बाहरी चीजका मिलना नही। तो जिसको अपने आत्माको पवित्र करनेका ध्यान है वह बाहरी भोग और उपभोगकी सामग्रीमे चित्त न रमायेगा। तो परिग्रहका परिमाण रखें।

(१७७) **पञ्च प्रकारके अभक्ष्योंकी आजीवन हेयता**—भोगकी चीजोमे मुख्य हैं खाने पीनेकी चीजे। ५ चीजे तो ऐसी है कि वे तो जीवनमे कभी लेनी ही न चाहिएँ। वे क्या क्या है—(१) त्रसघात— जिसमे त्रसका घात होता हो, जैसे फूलगोभी, शराब, मास, अंडा, बाजारकी सडी गली जलेबी, दही अचार मुरब्बे वगैरह। (२) दूसरी चीज है बहुघात अनन्त स्थावरघात–जैसे आलू अरवी, गीली हल्दी, गीली अदरख आदि ऐसी चीजें जिन्हे व्रती

न खायें वे त्यागने योग्य है। (३) तीसरी चीज है प्रमाद करने वाली वस्तुएँ। जिनमे तम्बाकू मुख्य है। उसीका आज घर घर रिवाज है। जो घर बीडी, सिगरेट, तम्बाकू आदिक से बचा हुआ है उसके ये दोष नही आ सकते। व्यर्थकी चीज, नशा करने वाली चीज, व्यर्थं पैसे भी खोये, इतना तो गरीबोको दे दिया जाय तो उनका भला हो। और लोग तो बताते है कि तम्बाकू खानेके कारण कैन्सर रोग हो जाता है। तो ये प्रमाद करने वाली चीजें अभक्ष्य है। (४) चौथी चीज है अनिष्ट। जिसके स्वास्थ्यमे जो चीज नुकसान कर वह चीज वहां अभक्ष्य है। जैसे बुखार वालेको घी नुकसान करता तो घी उसके लिए अभक्ष्य है। ५ वी चीज है अनुपसेव्य—जैसे गायका मूत या लार। तो इनका तो वैसे ही त्याग होता है पर इनके अतिरिक्त जो खाने पीने योग्य पदार्थ है उनका परिमाण होना, मैं इतना सेवन करूंगा इससे अधिक नहीं।

(१७८) अतिथिसंविभाग नामक शिक्षाव्रतका निर्देशन—१२वां व्रत अथवा ७ वीं शील है श्रावकका अतिथिसम्विभाग। जिसकी कोई नियत तिथि न हो, आने, जाने, रहने आदि की उसका नाम है अतिथि। अतिथि शब्दसे व्रती ग्रहण किया जाता है, मुनियोका ग्रहण होता है। उनको ४ प्रकारका दान करना अतिथिसम्विभाग है। जो मोक्षके लिए उद्यमी है ऐसे अतिथिके लिए सयममे जो प्रवीण है, शुद्ध चित्त वाले है उनको निर्दोष भोजन देना, धर्मके उपकरण देना, औषधि देना और रहनेका उत्तम स्थान देना इसको कहते है अतिथि-सम्विभाग। पहले रिवाज था और आज भी कोई कर्तव्यपालन करना चाहे तो कर सकता कोई मुश्किल बात नही। पहले रोज-रोज शुद्ध भोजन बनता था और उसमे कोई अतिथि आ जाय, कोई व्रती त्यागी आये तो उसको आहार कराकर आहार करूँ, ऐसा सकल्प रहता था। अब मानो पूरा निर्दोष भोजन बनानेमे आजकल सुविधा नही है। इसलिए लोग क्या कहते कि जब पूरा शुद्धभोजन हमारे यहाँ बन नही सकता तो उसका क्यो विकल्प रखना ? पूरा ही अशुद्ध भोजन बनने दो। तो उनकी यह बात ठीक नही। मान लो दो ही चीजें शुद्ध बनती हैं दाल, चावल तो वह चोका अधिक अशुद्ध तो न रहा। कमसे कम इतना तो शुद्ध रखना ही चाहिए कि कोई अतिथि आ जाय तो उसे भोजन कराया जा सके। मान लो आटा घी दूध आदिक रोज-रोज शुद्ध नही रख पाते तो कमसे कम दाल चावल तो शुद्ध बना सकते। कभी अचानक कोई व्रती आ जाय तो उसको भोजन करानेमे दिक्कत तो न हो। पहले रिवाज था ऐसा कि प्रायः करके शुद्ध भोजन बनता था। उसे कहते है अतिथिसम्विभाग। उसमे अतिथिका विभाग बनाना। आजकल भी कई घरोमे ऐसा रिवाज देखनेमे आता कि चौकेमे पहली रोटी जो निकलती उसे घरके लोग नही खाते, किसी अन्य प्राणीको दे देते,

तो यह रिवाज मानो इस बातकी निशानी है कि पहले अतिथिको भोजन कराकर लोग खुद-भोजन करते थे। तो अतिथिको आहारदान, शास्त्रदान, औषधिदान और अभयदान देना आदि ये श्रावकके बाहरव्रत कहे। अब वह बतलाते है कि उन बाहर व्रतोका जीवनभर पालन करने वाला गृहस्थ अन्त समयमे क्या करे, उसका उपदेश करते है।

## मारणान्तिकी सल्लेखनां जोषिता ॥७-२२॥

(१७९) **मरण समय सोत्साह सल्लेखना करनेका कर्तव्य**—मरणके समयमे सल्लेखना को प्रीति सहित सेवन करे। जिसको ज्ञान जगा है और शरीरसे भिन्न अपने आत्माका स्वरूप जाना है वह जीवन भर तो व्रतका पालन कर रहा, पर अन्त समयमे जब कि अत्यन्त वृद्ध हो गए अथवा कोई उपसर्ग आ गया, कोई अत्यन्त कठिन बीमारी आ गई जिसमे यह दिखने लगा कि अब तो यह अन्त समय है तो वह उस समय उस शरीरका मोह छोड देता है और समाधि मरणमे अपना परिणाम लगाता है। वस्तुत: विचारे तो मरणमे जीवको नुकसान कुछ भी नही है। जैसे कोई पुरुष अपनी तीन चार कोठियोमे रहता है—रातको किसी हवेलीमे रहता, सुबह किसी गोदाममे, दोपहरको किसी करखानेमे, शामको फिर किसी कोठारमे। बताओ वहाँ कुछ नुक्सान है क्या ? ऐसे ही यह शरीर भी इस जीवका घर है। कभी पशुके शरीरमे रहा, कभी मनुष्य शरीरमे, कभी देवशरीरमे, कभी कीटपतिगेके शरीरमे। अब देख लो शरीर तो बदलते रहे पर जीव तो वही पूराका पूरा है, इस शरीरके बदलनेमे जीवका नुक्सान क्या ? पर ये मोही अज्ञानी जीव मरणसे बडा भय मानते हैं। मरण समयमे छूटते हुए धन वैभव कुटुम्ब परिजन आदिके समागमको देखकर बडा कष्ट मानते है। हाय मैने बडा परिश्रम करके यह सब कुछ बनाया, आज यह सब हमसे छूटा जा रहा है, यह सोच सोच कर बडा दु.ख मानते है। यदि मोहभाव न हो तो मरण समयमे भी उसे ऐसा लगेगा जैसे कि मानो किसी टूटे फूटे घरको छोडकर किसी नये घरमे जा रहे हो। उसे दुःख नही होता बल्कि खुशी खुशीसे मरण करता है।

(१८०) **अज्ञान न रहनेपर कष्टकी अनुपपत्ति**—कष्ट जितना भी है वह सब अज्ञानमे माना जाता है। नही तो इस जीवनमे भी क्या कष्ट है सो तो बताओ। उस जीवकी बात कही जा रही है जिसने आत्माके स्वरूपको पहिचान लिया और उस ही आत्माकी भावना रख रहा कि मै तो यह चाहता हू कि यह जो मात्र अकेला आत्मा है सो ही रह जाऊँ, मेरे साथ किसी बाहरी चीजका लाग लपेट न रहे, शरीरका लपेट रहे, न कर्मका। ऐसी स्थिति चाहता हू। ऐसी जिसकी भावना जगी है उस पुरुषको जीवनमे भी कोई कष्ट नही है। आप कष्टोका नाम लीजिए, क्या कष्ट हुआ करते है ? धन कम हो गया इसको लोग कष्ट कहते हैं। यह ज्ञानी

सोचता है कि वे चीजें बाहर-बाहर पडी थी। बाहर इतनी थी इतनी रह गई। मेरेमे न कुछ अधिक हुआ, न कुछ कम हुआ। और किसमे कष्ट मानते है लोग ? इज्जत बडी थी अब कम हो गई, हम देशमे बडे नेता थे, मन्त्री थे, अब चुनावमे हार गए अरे कोई यदि ज्ञानवान है तो वह रच भी कष्ट न मानेगा, क्योकि यश नाम किसका ? ये जो चलते फिरते सनीमाके जैसे चित्र नजर आ रहे इनको लोग सच समझ रहे और उनके बीच अपने सम्मान अपमान आदिकी कल्पना कर रहे और कष्ट मान रहे। जिनकी दृष्टि बाहरमे लगी है उनको कष्ट है और जिनको अपने आत्मामे लगन लगी है उनको रच भी कष्ट नही है और, कष्ट क्या है ? मरण हो रहा है यही सबसे बडा कष्ट है। ज्ञानी जीव जानता है कि मै आत्मा इस शरीरसे निराला हू। अब इस घरको छोडकर पूराका पूरा जाऊँगा, मेरा कोई बिगाड हुए बिना, मेरे कोई प्रदेश कटे बिना, मेरे कोई गुण मिटे बिना यह मैं पूराका पूरा अपनेमे हू। जब मैं हू तो मेरा इसमे कोई बिगाड नही। जिसने मोह छोडा, आत्माकी अभिमुखता ग्रहण की उसको किसी भी प्रकारका कष्ट नही है। तो व्रती श्रावक अन्तमे क्या करे ? शरीर और कषाय इन को कृश करे।

(१८१) **अन्त समयमे अन्नादिके त्यागकी सगतता**—यह भी लोग सोचते हैं कि मरण समयमे व्रतीजन, मुनिजन या अच्छे श्रावक लोग क्यो छोड किया करते कि मेरे अन्न का त्याग, मेरे दूधका त्याग, मेरे अमुक चीजका त्याग। ये त्याग क्यो किया करते हैं ? अन्तरङ्ग कारण तो यह है कि उसमे ममता छोड रहे है, पर बहिरङ्ग कारण यह है कि ऐसा वृद्धावस्था वाला शरीर उन चीजोका त्याग करनेमे शान्तिसे रहेगा और बुढापेमे ही खाया जा रहा है तो उसे तो अनेक रोग होगे। अफरा चढेगा, गैस फूटेगी, अनेक प्रकारकी तकलीफ होगी और त्यागमे कोई तकलीफ नही होती। अनेक रोग ऐसे है कि जिनका आप इलाज न करें तो अपने आप रोग ठीक हो जायगा। कुछ ही रोग ऐसे हैं कि जिनका इलाज करना जरूरी होता। मान लो किसीको बुखार आ रहा है उसका इलाज करना है, तो इलाज करते हुए भी करीब १५-२० दिन तो ठीक होनेमे लग ही जाते होगेपर ऐसा भी हो सकता कि कोई यह संकल्प करके बैठ जाय कि जब तब बुखार ठीक नही होता तब तक न दवा लूँगा, न अन्न, सिर्फ प्यास लगने पर गरम जल या भूख लगने पर उचित फल ले लूँगा तो इस दृढता से भी वह बुखार उतने ही दिनोके अन्दर ठीक हो जायगा। बल्कि उससे भी जल्दी ठीक हो सकता। दवा लेने पर यह तो अदेशा है कि रोग बढ जाय, मगर दवा न लेने पर रोग बढने का तो अदेशा नही, बल्कि रोगका घट जाना अधिक सम्भव है। तो यह त्याग हर स्थितिमे शान्तिका साधक बनता है। इन चीजोका बुढापेमे जो त्याग किया जाता है तो मरण समयमे

यह शरीर अपनी अवस्थावोके अनुसार स्वस्थ रहता है जिसमे कि धर्मध्यान बन सकता है। अभी कोई हट्टा-कट्टा पुरुष भी खूब डटकर भोजन कर ले तो उसे भी बेचैनी होती है, फिर ऐसी वृद्धावस्थामे यदि उसे खूब खिलाया जाय तो उसके पेटमे बडा विपरीत असर होगा। उसका धर्मध्यानमे चित्त भी नही लग सकता। इसलिए शरीरको कृष करनेका उपदेश है। और कषायको कृष करना, क्षीण करना यह यह तो व्रतोका ध्येय ही है। तो यहाँ श्रावक उस समय समाधिमरणका प्रीतिपूर्वक सेवन करता है।

(१८) **सोल्लास सल्लेखना धारण करनेके कर्तव्यके परिचयके लिये जोषिता शब्द का उल्लेख तथा आत्मबधके प्रसंगकी अनुपपत्ति**—इस सूत्रमें कहा जा रहा है कि मरणके समयमे उत्साह और उमंगके साथ सल्लेखना धारण करना चाहिए। यहाँ क्रिया शब्द दिया है जोषिता, उसके एवजमे शंकाकार कह रहा है कि इतना कठिन शब्द क्यो रखा ? सेविता यह शब्द रख देते। झट समझमे आ जाता कि सल्लेखनाका सेवन करना चाहिए। उत्तर इस का यह है कि सेवन करना और जोदिना, जोषना और जोषिताके अर्थमें अन्तर है। सेवन करना तो सामान्यरूपमें है, मगर जोषिता शब्दमे यह अर्थ बसा है कि विनयपूर्वक सेवन करना चाहिए। सेविता तो भोगकी चीजमे भी आता। भोगका विषयका सेवन करना। जोषिता शब्द केवल आदरकी क्रियामे, कर्तव्यमे आता है। तो इस सूत्रका अर्थ हुआ कि मरणके समयमें सल्लेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन करें। यहाँ एक शका होती है कि समाधिमरणमे लोग यही क्रिया तो करते हैं कि यह चीज छोडा, वह चीज छोडा, यो छोडकर अपने प्राण नष्ट कर दिया, फिर यह व्रत कैसे रहा और इसके फलमे सुहाति कैसे मिलेगी ? तो उसके उत्तरमे कहते है कि इस सूत्रमे भी उस प्रमत्त योगकी झाँकी है। चूकि यह व्रतका प्रकरण है, पापका नही है। पापमे तो प्रमत्त योगसे यह अर्थ किया था। यहाँ अर्थ करते कि प्रमत्त योगके बिना सन्यासमरण धारण करो। प्रमत्त योगका अर्थ है—रागद्वेष मोह, स्वार्थ, खोटे भाव ये न रखे जायें और सन्यासमरण हो तो वह सल्लेखना कहलाता है। सल्लेखनामे उत्साह उमग प्रभुकी ओर भक्ति, आत्मस्वरूपकी ओर विनय ये सब सद्गुण आते हैं। तो यो बड़े विनयसे आदरभावसे सल्लेखना धारण करना। जिसको आत्मतत्त्वका परिचय है, आत्मामे ही जिसका प्रेम है, शरीरको लोयडाका पिण्ड जानकर उसके प्रति जिसको मोह नही है वह आत्मतेजमे उपयोग रमाकर तृप्त हो रहा है। उसे और कुछ नही सुहाता। यह एक मरण समयकी बहुत बडी विशेषता है। वैसे तो ज्ञानी जीवको बाहरी कोई बात भीतर सुहाती नहीं है। एक अन्तःस्वरूप ही सुहाता है और फिर उस ज्ञानीका हो शरीर छूटनेका समय तो उसकी इस प्रगतिमे और भी विशेषता बढ जाती है। वैसे बाहरी बातें तो कोई साधारण व्यक्ति हो तो उसे भी मरण समय मे नही सुहाती। जैसे किसीको फांसी दी जा रही हो तो वह आत्महत्या हो तो है, खुद न की,

दूसरे ने की। उसे वहाँ न खाना सुहावेगा, न कोई मौज। तो मरणसमयका प्रसग ही ऐसा है. फिर जिस ज्ञानीको जीवनमे भी कुछ न सुहाया उसको आत्मस्वरूपके अतिरिक्त मरण समय मे दूसरा सुहायेगा ही क्या ? केवल आत्मस्वरूपकी आराधना रहे तो वह तो प्रसन्न होकर सल्लेखना कर रहा है। वहाँ आत्महत्याका प्रसग नही है।

( १८३ ) **सल्लेखनामरणमे आत्मबधके प्रसंगकी अनुपपत्तिके अन्य कारण**—दूसरी बात यह है कि समाधिमरण करने वालेको भी मरण अनिष्ट है, वह मरण नही चाहता। लेकिन मरण आ ही जाय तब वे अपने वैभवकी रक्षा करते है। जैसे कोई पुरुष दूकानमे आग लग जाय, यह नही चाहता। कोई चाहता है क्या कि मेरी दूकानमे आग लगे ? और कदाचित् आग लग गई दूकानमे और ऐसी आग लगी कि बचनेका कोई साधन नही, देहाती स्थल है, कोई फायर वगैरहका प्रबध नही है तो उस समय विवेकी विवेक क्या करेगा कि जो धन है, जो मूल्यवान चीजें है उनको भडारमेसे जल्दी निकाल लें, यह तो बच जाय। दूकानमे आग लगती है तो लगे मगर भण्डारमे जो बहुमूल्य रत्न रखे हैं वे तो बच जायें। ठीक यही दशा समाधिमरणमे है। शरीरमे आग लग गई मायने मरण हो रहा, मृत्यु निश्चित है, मरण इष्ट नही है तो भी मरण आ रहा, तो उस समय विवेकी यह करता है कि मेरे भण्डारमे जो रत्न हैं—ज्ञान दर्शन चारित्र आत्मदृष्टि सम्यक्त्वादिक वे सब तो मैं बचा लू, वे तो न नष्ट हो जायें। यह प्रीति बसी है भीतर। तो ऐसे एक उत्तम लक्ष्यको लिए हुए कोई समाधिमरण करे तो आत्महत्या कैसे कहला सकती ? हाँ समाधिमरणका नाम लेकर अज्ञानी जीव कोई यदि आहार आदिकका त्याग करके मरे और नाम भले ही समाधिमरणका धरे, मगर लक्ष्यका जिसे पता नही है उसके लिए आत्मबध है मगर जिसको लक्ष्यका पता है और अपने सम्यक्त्वादिक गुणोकी रक्षाके लिए ही वह सन्यासमरण कर रहा है तो वह आत्मबध नही है। तीसरी बात यह है कि सन्यासमरण करने वालेको न जीनेकी चाह है, न मरनेकी। उस ओर दृष्टि ही नही है। एक अपने गुण रत्नकी रक्षाकी दृष्टि है। जैसे कोई यह न चाहे मुनि या विवेकी कि मेरेको ठड लगनेका सुख पैदा हो या गर्मी लगनेका दुःख पैदा हो और वे सुख दुःखके साधन जुट जायें तो सुख दुःख तो बने, मगर उनमे वह रागद्वेष नही करता। ज्ञाता-द्रष्टा रहता है, मायने अपनी रक्षा करता है।

( १८४ ) **समाधिमरणकी भावनाकी प्रतिक्षण आवश्यकता**—वास्तविकता तो यह है कि समाधिमरण तो प्रतिक्षण करना चाहिए। मतलब क्या कि मरण दो तरहका होता है—एक तो आवीचिमरण और दूसरा तद्भवमरण। प्रतिक्षण हमारी आयु घट रही है। आयुका निषेक उदयमे आकर दूर हो रहा तो हम प्रति समय मर रहे है। आयुक नाश

होनेका नाम मरण है। अब जो आयुका उदय आया उसका तो नाश हुआ। तो हम प्रति-क्षण मर रहे हैं, फिर ऐसा कह सकते ना जैसे कोई कहता है कि हम ५० वर्षके हो गए तो उसके मायने यह हैं कि हम ५० वर्ष मर चुके। चाहे यह कहे कि हम ५० वर्षके बड़े हो गए, उसका सीधा अर्थ है कि हम ५० वर्षकी आयु खो बैठे, मर चुके, अब थोड़ा समय और शेष रहा तद्भवमरण हो जायगा। मायने इस भवसे ही कूँच हो जायगा। तो जब हमारा मरण प्रतिसमय हो रहा है तो हमारा कर्तव्य है कि हम प्रतिसमय अपनी भावना शुद्ध रखें ताकि हमारा प्रतिक्षणमे समाधिमरण बना रहे और जो ऐसा प्रतिक्षणका समाधि-मरणका अभ्यास नही रखता उसे अंतिम समयमे भी मुश्किल पड़ेगा समाधिमरण करनेमे। तो जिसके न जीनेका अभिप्राय है, न मरणका वह पुरुष मान लो मरणको प्राप्त हो रहा है, समय आ गया है तो उस समय वह मरणका दुःख न मानकर अपने गुणोकी रक्षामे प्रसन्न रहता है, इस कारण सन्यासमरण करने वालेको आत्मबध नही होता है।

(१८५) सल्लेखनामरणको किसी भी दार्शनिक द्वारा आत्मवध कहनेकी अनुपपत्ति—चौथी बात—जो दार्शनिक यह कहते कि यह तो आत्महत्या है तो ये दार्शनिकोके उत्तर स्वयं उनके शास्त्रसे विरोध आता है अर्थात् सिद्धान्तसे विरोध आता है। जैसे आत्मवध कहने वाले कौन हैं ? एक नाम लो। जैसे कहो कि बौद्ध है, जो मानते कि क्षण क्षणमे आत्मा नष्ट होता रहता है, एक क्षणको बना और नष्ट हो गया तो वह तो प्रतिक्षण नष्ट होता ही रहता है। वे तो आत्मबध कहनेको जीभ भी नही हिला सकते। दूसरी बात यह है कि बध की बात कहनेमे चार बातें समझनी पड़ेंगी—(१) एक तो सत्त्व प्राणी बध, (२) सत्त्व संज्ञा, (३) बध करने वाला, (४) बधका परिणाम। अब जो लोग पदार्थको एक क्षण ठहरने वाला मानते, आत्मा एक क्षण ही रहता ऐसा मानते, उनके ये चारो ही बातें नही बन सकती। हुआ और गुजरा। कौन मारने वाला कहाँ बधका परिणाम और कोई चीज है ही नही वह बहुत समय रहने वाली। ऐसे लोग अगर आत्मबधकी बात कहे तो इसमे वे जीभ भी नही हिला सकते। और हिलायें तो वे अपने सिद्धान्तके खिलाफ गए। कुछ लोग ऐसे है कि जो आत्मा ही नही मानते, ऐसोकी संख्या बहुत पड़ी भई है। चारुवाक, नास्तिक ये मानते कि आत्मा कोई चीज नही है, और जो मालूम पड़ता कि मैं जीव हूँ सो यह पृथ्वी, जल, अग्नि वायुका सम्बन्ध होनेसे एक करेन्ट बन गया है, जो समझता है, बोलता है, चलता है। आत्मा कुछ नही है, ऐसा भी मानने वाले लोग हैं, तो ऐसे लोग भी आत्मवधकी बात मुखसे बोल ही नही सकते। जब आत्मा ही नही है तो फिर किसके बधकी बात बोले ? अच्छा अब एक दार्शनिक और खड़ा कीजिए। नित्यवादी दार्शनिक कहता कि यह तो इन व्रतियोका आत्म-

वध है, तो वे भी कुछ बोल ही नहीं सकते, स्ववचनविरोध है। नित्यवादियोंका सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थ निष्क्रिय होता है, क्रिया न हो, विकार न हो, अदल बदल तरंग न हो तब फिर वध नामकी चीज क्या रही तुम्हारे सिद्धान्तमे ? न मरना है, न जीना है, न सुख है, न दुःख। ऐसा नित्य मानने वाले सिद्धान्तियोंके भी आत्मवधकी बात मुखसे नहीं बोली जा सकती और बोलेंगे तो उनका सिद्धान्त गलत हो गया, फिर वह निष्क्रिय कहाँ रहा ? तो इन सब बातोसे यह सिद्ध हुआ कि जो कषायभावके बिना आत्माके गुणोकी रक्षाके अभिप्रायसे जो काम और कषायको छोडता है, कृश करता है, सल्लेखना करता है तो वह आत्मवध नहीं करता किन्तु अपने आत्माकी रक्षा करता है।

(१८६) सल्लेखनाके समय आदिका निर्देशन—अच्छा तो सल्लेखना कब करना चाहिए, यह एक जिज्ञासा हुई। उसका उत्तर—जब शरीर बुढापेसे अत्यन्त जीर्ण हो जाय, शरीरबल पूरा खतम हो जाय, क्षीण हो जाय, रोगसे घिर जाय, जिन रोगोसे बचना असाध्य है ऐसे वात आदिक विकारोसे उत्पन्न हुए रोगसे घिर जाय तो ऐसा पुरुष उस समय परिणामोमे सक्लेश न आये, इस अभिप्रायसे कोई प्रासुप साधारण चीजोका सेवन करता है, पश्चात् उसको भी त्याग आदिक विधियोसे काय और कषाय जिनके कृश हो रहे हैं सो आत्मभावनाका निरन्तर ध्यान रखते हुए शास्त्रोक्त विधिसे सल्लेखनाका सेवन करें। धर्मकी बात बताने और सिखानेसे नहीं आती। जिसको आत्माके धर्मस्वभावकी सुध है और आत्मस्वभावकी अनुभूति होनेसे जिसमे एक अलौकिक आनन्द जगा है वह अपने गुणोकी रक्षाके लिए तुला हुआ है। उसे कब क्या करना चाहिए, यह कुछ नहीं सिखाना पड़ता। वह अपने आत्माकी भावनाके बलपर कुछ भी सुगमतया कर लेगा जो कुछ किया जाना चाहिए। फिर भी शास्त्रोक्त विधिसे जो जाननहार है उसको सुगमता रहती है कि हमको इस समय मरण समयमे क्या करना चाहिए ?

(१८७) निर्मोहतामे कर्तव्योका सुगम निर्वाह—इस जीवकी विजय है मोहके दूर करनेमे। मोहको नष्ट करके घरमे रहने वाला गृहस्थ निरन्तर धर्मका आचरण किए हुए है। मोह मिट गया फिर भी घरमे रहना पडता है ऐसी कोई परिस्थिति होती है। हाँ राग किए बिना घरमे नहीं रह सकते, इतना तो है। पर मोह किए बिना कोई घरमे रहे तो वह बड़े उत्तम विधिसे घरमे रहता है। वह जानता है कि मोह करनेसे लाभ क्या ? घरमे तो यो रहना पडता कि शरीर साथ लगा है, भूख प्यास आदिकी अनेक बाधायें लगी है, उनका शान्त करना जरूरी है तो उसका उपाय भी बनाना होता, घरमे रहना पडता तो घरमे रहना राग किए बिना नहीं बनता। कोई घरमे लोगोको गाली बकता रहे कि तुम सब परपदार्थ हो, नारका-

दिक खोटी गतियोमे पहुचाने वाले हो, बस यह ही बात कहना रहे, रागके विरुद्ध बर्ताव बनाये रहे तो बताओ उसका घरमे गुजारा हो सकता क्या ? नही । उसे तो घरमे भोजन पान भी ठीक ठीक न मिलेगा । कोई बडा कमाऊ भी हो वह सबको गाली देता फिरे तो भले ही घर के बरदाश्त कर लें मगर उनके चित्तमें उसके प्रति आदर न रहेगा । घरका रहना राग बिना नही बनता, पर मोह बिना तो बहुत अच्छा बनता है । जितनी अच्छी तरहसे मोही जीव घर मे नही रह सकते उससे भी अच्छी तरहसे निर्मोहगृहस्थ घरमे रहता है । घरमे रहने वालोकी दृष्टिमे निर्मोहीका बडा आदर रहेगा । उसके प्रति भीतरसे सबकी विनय होगी, डर भी रहेगा । एक भी बात वह मुखसे निकाले तो परिवारके लोग सिरपर धारण करेंगे । घरमे निर्मोह बन-कर रहे तो बडा सम्मानपूर्वक रहना बनता है और मोही जीव घरमे रहता है तो उसके लडके लोग स्वच्छद हो जाते है । बापका क्या डर ? बच्चे लोग जानते कि बाप तो हमपर मर रहा है, हमारे मोहमे आसक्त है, वह तो मेरे लिए सुख सुविधावोका प्रयत्न कर ही रहा है, यदि उससे उल्टा चले तो भी क्या डर है । देखिये मोह मोहमे हो रहकर गृहस्थीमे रहना भला रहना नही बनता और निर्मोह बनकर गृहस्थीमे रह तो उसके प्रति सबका सद्व्यवहार रहेगा ।

(१८८) **निर्मोह होकर जीवनका यापनासे जीवनमे व अन्त समयमे शान्ति सुयोग का लाभ**—मोही रहकर जीवन गुजारना अपना जीवन खोना है । मोह न रखनेका मतलब क्या कि सर्वजीवोको स्वतत्र सत्ता वाला समझिये । घरमे जितने प्राणी आये है इन सबका जीव स्वरूप निराला, इनके कम इनके साथ, इनका सब कुछ भवितव्य इनके कर्मोदयके अनु-सार । इनपर मेरा कुछ अधिकार नही, इनपर मेरा कोई स्वामित्व नही, क्योकि वस्तुस्वरूप ही यह है । जो जीव है वह अपने स्वामित्वमे है, अपने द्रव्य, क्षेत्र काल, भावसे परिणमता है, उसपर मेरा अधिकार नही है । सब स्वतत्र स्वतत्र पदार्थ है, मेरे नही है, भिन्न है । एक यह निर्णय हो जाय कि जब इनकी सत्ता स्वतत्र है, मेरे साथ इनका कोई सम्बन्ध नही है तो ये मेरे कैसे है ? मेरा जगतमे परमाणुमात्र भी नही है, ऐसा जिसका पक्का निर्णय है उसे कहते है निर्मोह । सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष । तो जो निर्मोह है उसको संसारमे आकुलता नहो है । मरणसमयमे केवल एक ही दृष्टि रहती है कि मेरे आत्माकी रक्षा हो, मेरे आत्म गुण विकृत न हो, मै आत्मस्वभावको लखता हुआ ही परभवको जाऊगा । मरणसमयमे जैसी दृष्टि रखकर जा रहा हू रास्तेमे भी वही दृष्टि रहेगी, जन्म समयमे भी उसीका लगार रहेगा । सस्कार रहनेसे फिर अगले जीवनमे भी उसे धर्म और ज्ञानकी बात रहेगी । इसलिए सल्लेखना करना कितना उपकारी व्रत है और इसके विरुद्ध मानो कोई जीव हाय-हाय करके मर रहा और मरते समय वह कहे कि मेरी बेटीको बुला दो, बेटेको बुला दो या पोतेको

बुला दो, उसे देख लें तो मेरी छाती ठढी हो जायगी या लोग भी कह देते कि देखो इसके प्राण तो अमुकमे अटके हैं, उसे दिखा दो बस इनकी छाती ठढी हो जायगी तब प्राण निकलेंगे। मानो ऐसा ही कोई मर रहा हो तो बताओ वह जो कुछ ही मिनटोका समय जो खोटे परिणामोमे खो दिया तो उसका फल क्या होगा ? यही कि उसका अगला भव तो सारा ही खराब हो जायगा। अथवा जिसकी आयु खोटी बध गई है उसके मरणसमयमे सन्यासमरणका भाव हो ही नही सकता। जैसी गति होनी है वैसी गति हो जायगी। मरणसमयका एक आध मिनटका तो फैसला और उसी समय प्राप्त समागमोमें हो जाय ममता तो ऐसे भावोका जो मरण है वह अगले भवमे एक दुखका ही उत्पन्न करने वाला है।

(१८९) **सल्लेखनासेवनके सूत्रको अलगसे कहनेका प्रयोजन**—यहाँ एक शकाकार कहता है कि इससे पूर्वके २२ वें सूत्रके साथ इस सूत्रको जोड दिया जाता तो बहुत अच्छा होता। इसे अलगसे कहनेकी आवश्यकता नही है। इसके उत्तरमे कहते है कि इस सूत्रको अलग कहनेके तीन प्रयोजन हैं—(१) सात शील धारण करने वाले गृहस्थके किसीके किसी समय सल्लेखनाकी अभिमुखता होती है, सबके नही होती। जैसे कि दिग्व्रत, देशव्रत आदिक ७ शील प्रतिसमय रहते हैं और वे समस्त श्रावकोके लिए अनिवार्य है उसकी तरह सल्लेखना व्रत सब के लिए अनिवार्य नही है। किसीके हो पाता है, किसीमे सल्लेखनाके कारण नहीं हो पाता। (२) श्रावक कभी कभी घर छोडकर भी किसी स्थलपर या सत्सगमे रहे तो उसको जो सल्लेखना होगी वह श्रावकरूपसे ही होगी, इस विशेष अर्थकी सूचना देनेके लिए यह पृथक् सूत्र बनाया गया है। (३) सल्लेखनाका विधान सप्तशीलधारी गृहस्थको ही नही है याने केवल गृहस्थ ही सल्लेखना धारण करे, ऐसा नही है किन्तु महाव्रती साधुके भी सल्लेखना होती है, इस नियमकी सूचनाके लिए भी पृथक् सूत्र बनाया गया है। अब जो आचार्यदेवने कहा कि नि शल्य व्रती होता है तो उस शल्यमे माया, निदान और मिथ्यात्व—इन तीन प्रकारके शल्यों का वर्णन किया। उनसे रहित व्रतीको बताया जिसमे साबित किया कि व्रती सम्यग्दृष्टि ही हो सकता है। यह तो जाना। अब उस सम्यग्दर्शनके बारेमे यह जिज्ञासा होती है कि उसमे भी कोई अपवाद होता है या न होते तो किसीके किसी मोहनीय अवस्थाके कारण अतीचार भी हुआ करते या नही सो उन अपवादोको बतानेके लिए सूत्र कहते है।

**शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥७-२३॥**

(१९०) **सम्यक्त्वके पांच अतिचार**—सम्यग्दर्शनके ये ५ अतिचार हैं। जैसे पहले यह सकेत किया था कि व्रतोकी भावनायें होती हैं उसी प्रकार व्रतोके अतिचारका भी सकेत किया जायगा। तो चूंकि व्रत सम्यग्दर्शनपूर्वक होते हैं और सम्यग्दर्शनके भी अतिचार सम्भव है।

तो सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनके अतिचारोका वर्णन किया गया है। ये सम्यक्त्वके अतिचार स्थूल रूपसे हो तो सम्यक्त्व भंग हो जायगा पर कदाचित् किसी सूक्ष्म रूपमे होता है तो उसके कारण सम्यक्त्व प्रकृति नामक मोहनीयकर्मका उदय विशेष है अथवा व्यवहार सम्यक्त्वके विषयमे ऐसा प्रवृत्तिरूप अतिचार सम्भव है। वे अतिचार ५ ये है—( ) शका (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा (४) अन्यदृष्टि प्रशसा (५) अन्यदृष्टिसस्तव। नि शकित अगमे नि.शकि-तनाका वर्णन किया गया था, तो उनसे उल्टा जो भाव है वह शका कहलाती है। जैसे किसी प्रकारका जीवनमे कुछ भय मानना या कुछ शास्त्र स्थलमे किसी प्रकारका संदेह होना यह सब शका है और सम्यग्दर्शनके अतिचार है। नि.कांक्षित अंगमे नि कांक्षितपनेका वर्णन किया गया था, उससे उल्टा भाव है कांक्षा, किसी प्रकारकी सासारिक बातोकी, साधनोकी इच्छा होना कांक्षा है अथवा धर्मसेवन करते हुए भी जीवनका प्रयोजन होनेमे कभी किसी प्रकारकी कांक्षा हो जाना कांक्षा है। यह सम्यग्दर्शनका अतिचार है। निर्विचिकित्सा अगमे ग्लानिरहितपनेका वर्णन था, उससे उल्टा विचिकित्सा है। कर्मोदयभावमे खेद मानना निर्विचिकित्सा है, अथवा धर्मात्माजनोकी सेवा करनेमे कोई ग्लानि करना विचिकित्सा है। यह सम्यग्दर्शनका अतिचार है– मनसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टिजनोके ज्ञान और चारित्र गुणोकी प्रशसा करना, गुणोका व्याख्यान करना अन्यदृष्टि प्रशसा है और गुण हो अथवा न हो उन गुणोको वचनो द्वारा प्रकट करना यह अन्यदृष्टिसस्तव है। चूकि मोक्षमार्गके विपरीत मार्गमे वे अन्यदृष्टि गमन कर रहे है तो उनकी कोई बात सुहाना, उनकी स्तुति करना यह सम्यग्दर्शनमे अतिचार है।

**(१९१) अविरतसम्यग्दृष्टि, देशव्रती व महाव्रती सभीके सम्यक्त्वके अतिचार बताने के लिये 'सम्यग्दृष्टेः शब्दका ग्रहण**—यहाँ एक शङ्काकार कहता है कि यह प्रकरण श्रावकोके व्रत और शीलोके वर्णन करनेका है। तो इसमे यह शिक्षा दी हुई है कि उस गृहस्थ सम्यग्दृष्टिके ही शका आदिक अतिचार हो सकते है, मुनियोके नही होते है। क्या ऐसा ही है? इस शकाके उत्तरमे कहते है कि ये अतिचार केवल गृहस्थ सम्यग्दृष्टिके ही लगते हो यह बात नही है, किन्तु ऐसी वृत्ति भावमुनिके हो तो उनके भी सम्यक्त्वके अतिचार लगते हैं और इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए सूत्रमे सम्यग्दृष्टि सम्यग्दृष्टेः शब्द दिया है याने ये सम्यग्दर्शनके अतिचार है। चाहे वह सम्यग्दृष्टि श्रावक हो या मुनि हो, जिसके ये परि-णाम पाये जायें उसके ये दोष होते है। यद्यपि गृहस्थ व्रतीका प्रकरण आगे रहेगा तो भी यह बीचमे आया हो यह सूत्र सम्यग्दृष्टि सामान्यके लिए कहा गया है। चाहे वह गृहस्थ हो अथवा मुनि हो, ऐसा परिणाम सम्यग्दर्शनके दोषरूप है। अतिचारका अर्थ है दर्शनमोहके उदयसे तत्त्वार्थ श्रद्धानसे अतिचरण हो जाना, अतिक्रम हो जाना, उसका उल्लघन होना

अतिचार कहलाता है। ये शका आदिक ५ सम्यग्दृष्टिके अतिचार है। यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि सम्यग्दर्शनके ८ अग कहे गए हैं, सो ८ अगोके विपरीत परिणाम ८ ही होते हैं तो अतिचार भी ८ ही कहे जाने चाहिएँ थे फिर यहा ५ क्यो कहे गए ? इस शकाके उत्तरमे कहते है कि बात तो युक्त है लेकिन उन सबका इस ५ मे ही अन्तर्भाव किया गया है। चूँकि अभी व्रत और शीलोमे ५-५ अतिचार आचार्यदेव कहेंगे। सो उस सामजस्यमें सम्यग्दृष्टिके भी अतिचार ५ कहे गए हैं। सो इन पाँचोमे वे प्रतिपक्षी गर्भित हो जाते हैं। यहाँ अमूढ दृष्टि अगके विपरीत प्रतिपक्षी भावोको प्रशंसा और सस्तव-इन दो रूपोमे अलग अलग कहा गया है। शेष जिन किन्ही भी दोषोंका जो सम्यक्त्वमे सम्भव है उनका इन ५ मे ही गर्भित होना परखना चाहिए। अब यह जिज्ञासा होती है कि सम्यग्दर्शनके यहाँ ५ अतिचार कहे गए है और वे अगारी और अनगार अर्थात् गृहस्थ और मुनिके दोनो के साधारणरूपतया सम्भव है। तो चूँकि सभीके आदिमे सम्यग्दर्शन होना ही चाहिए। सम्यग्दर्शन पूर्वक हुआ व्रत ही व्रत कहलाता है। सो सम्यग्दृष्टिके अतिचार बताया वे युक्त हैं। तो अब व्रत और शीलोके अतिचारकी गणना करना चाहिए। सो उस ही का निर्देश करनेके लिए सूत्र कहते हैं।

## व्रतशीलेषु पंच-पञ्च यथाक्रमम् ॥७-२४॥

(१९२) व्रत और शीलोके पाच पांच अतिचार कहे जानेका निर्देश—व्रत और शीलोके क्रमसे ५—५ अतिचार होते हैं, जो कि क्रमसे कहे जायेंगे। व्रत बताये ही गए थे—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। शील भी ७ बताये गए हैं—(१) दिग्व्रत, (२) देशव्रत (३) अनर्थदण्डव्रत (४) सामायिक, (५) प्रोषधोपवास, (६) भोगोपभोगपरिमाण और (७) अतिथिसम्विभाग। इन व्रत और शीलोमे ५-५ अतिचार बताये जायेंगे। यहाँ एक शकाकार कहता है कि ५ व्रत और ७ शील ये सब १२ व्रत ही तो है इसलिए यहाँ वृत्तेषु इतना ही शब्द दिया जाता। शील शब्द कहनेकी क्या आवश्यकता है ? सूत्र भी लघु हो जाता। दिग्व्रत आदिकमे भी तो सकल्पपूर्वक नियम लिया गया है इसलिए वह भी व्रत कहलाता है। और फिर ७ शीलोके वर्णनमे जो सूत्र आया है उस सूत्रमे ७ के नाम लेकर व्रतसम्पन्न यह शब्द दिया गया है। सो वे सब व्रत ही हैं। तब सूत्रमे व्रतेषु इतना ना चाहिए था। इस शंकाके उत्तरमे कहते हैं कि यहाँ शील विशेषको एकदम स्पष्ट , शब्द लिख रहे हैं। यद्यपि अनिसधिपूर्वक नियम करना व्रत कहलाता है, आदिक भी व्रत ही हैं, किन्तु प्रधान जो ५ व्रत कहे गए है अहिंसा आदिक करने वाला शील होता है। ऐसा विशेष प्रकट करनेके लिए शील शब्दका

ग्रहण किया गया है। और इसी कारण दिग्व्रत आदिक शील शब्दसे ग्रहण किए गए। तब सूत्रका अर्थ हुआ ५ व्रतमे और ७ शीलोमे ५-५ अतिचार कहे जायेंगे। इस प्रकरणमे यह सब गृहस्थोके व्रतका ज्ञान करा रहे हैं। व्रतोका प्रकरण होनेपर भी मुनियोके लिए ये अतिचार नही कहे जा रहे, वे तो इन गृहस्थव्रतोसे भी ऊपर उठे हुए हैं, सिर्फ गृहस्थके लिए ये अतिचार कहे जा रहे है क्योकि आगे जो अतिचारोके नाम आयेंगे, जैसे पशुवोका पीटना बाँधना, उनपर बोझा लादना यह बात मुनियोके कभी सम्भव ही नही है। गृहस्थजनोके सम्भव हो सकती इस कारण ये सब गृहस्थके ही अतिचार हैं, मुनिव्रतमे अतिचार नही हैं।

(१९३) **सूत्रोक्त विशिष्ट शब्दोकी सार्थकता**—इस सूत्रमे पंच पच शब्द दो बार कहे गए। इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्रतोमे ५-५ अतिचार होते हैं। यद्यपि एक पच शब्द कह कर ही उसमे सस प्रत्यय लगाकर पचस इतना ही कह दिया जाता, दो पच शब्द न कहने पडते, ऐसा भी सम्भव हो सकता था, मगर उससे सही स्पष्टीकरण नही हो पाता और पच पच इस तरह शब्द बोलनेसे एकदम स्पष्ट अर्थ निकलता है कि प्रत्यक व्रतोमे ५-५ अतिचार होते है। इस सूत्रमे यथाक्रमम् शब्द देनेका भाव यह है कि आगे जो भी अतिचार कहे जायेग उनमे व्रतोके नाम न दिये जायेंगे सो उन व्रतोके नाम अपने आप क्रमसे लगा लेना चाहिए। इस प्रकार आगे कहे जाने वाले बारह व्रतोके अतिचारोका एक प्रकरणरूप सूत्र कहा गया है। अब प्रथम अहिंसाणुव्रतके अतिचार बतला रहे है। जिन अतिचारोसे भी अगर गृहस्थ हट जाय तो उसका अहिंसाणुव्रत निरपवाद हो जाता है, वह अतिचार यह है।

## बन्धबधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥७—२५॥

(१९४) **अहिंसाणुव्रतके पांच अतिचार**—अहिंसाणुव्रतके अतिचार इस प्रकार हैं। (१) किसी पशुको जो कि किसी अपने इष्ट देशको गमन करनेका उत्सुक है उसके प्रतिबंधका हेतुभूत खूटे आदिकमे रस्सी आदिकसे विशिष्ट दृढ बाँध देना बधन है। यह बधन सामान्यतया गृहस्थोको करना पडता है, क्योकि गृहस्थके घर गाय, बैल, भैंस आदिक पशु भी होते हैं और वे पशु ही तो है। वे उद्दण्डता न करें, यत्र तत्र न भागें, इस प्रयोजनसे बांध दिए जाते हैं। एक दूसरेको न मारें इसलिए भी बाँध दिए जाते हैं, उनको इतना मजबूत बाँधना कि कोई उपद्रव आनेपर वे वहाँसे जा न सकें और अपने प्राण गमा दें, ऐसा बन्धन बडा दोष करने वाला है। तो पशु आदिकको बांधना यह प्रथम अतिचार है। (२) डडा, बेंत, रस्सी आदिकसे उनको पीटना, यह उनका बध कहलाता है। बधके मायने मात्र पीटना है। जैसे कि अक्सर कभी कोई डडा मारना पडता है वह अतिचार है, उनके प्राण खतम कर देना

यह तो अनाचार है, क्रूरता है। उसका तो प्रकरण ही नही है, अवकाश ही नही है। केवल थोडा ताड देना यह बध कहलाता है। यह अहिंसा व्रतका अतिचार है। (३) पशु आदिकके कान, नाक आदिक अवयवोको छेद देना छेद कहलाता है। यह अहिंसाणुव्रतका तृतीय अतिचार है। (४) पशुओपर उनके सामर्थ्यसे बाहर भार लादना। जितना भार लादना चाहिए या सरकारी आज्ञा है या हृदय बतलाता है उससे भी कम करना उचित है। मगर उससे भी अधिक भार लादना यह अहिंसाणुव्रतका अतिचार है, क्योकि विशेष लोभके कारण बैल आदिक पर अधिक बोझ लादा जाता है—यह दोष है। (५) भूख प्यासकी बाधावोको उत्पन्न करना, उनके अन्न पानका निरोध करना यह अणुव्रतका ५वां अतिचार है। क्रोधवश प्रमादवश उनको समयपर अन्न पान न देना यह अहिंसाणुव्रतका अतिचार है। ये ५ अहिंसाणुव्रतके अतिचार कहे गए हैं। अब सत्याणुव्रतके अतिचार कहते हैं।

## मिथ्योपदेशरहोऽभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥७-२६॥

(१६५) **सत्याणुव्रतके पांच अतिचार**—सत्यव्रतके अतिचार इस प्रकार है—(१) मोक्ष और स्वर्गके प्रयोजनभूत क्रिया विशेषोमे अन्य प्रवर्तन करना—इस प्रकारका विचार उपदेश करना मिथ्योपदेश नामका अतिचार है। (२) स्त्री पुरुषके द्वारा एकातमे किए जाने वाली क्रिया विशेषका प्रकाशन करना, प्रकट करना रहोभ्याख्यान नामका अतिचार है। (३) किसी अन्यने तो कहा नही पर दूसरेके प्रयोगके वश, जबरदस्तीके वश उसने ऐसा कहा, उसने ऐसा किया, एक छल करनेके लिए लेख लिखना कूटलेख क्रिया नामका अतिचार है। (४) कोई पुरुष स्वर्ण चांदी रुपया पैसा आदिक धरोहर किसीके पास रख जाय और वह वापिस आकर कुछ कम मांगने लगे, उसको स्मरण न रहा कि मैं कितनी रख गया था सो वह कम मांगे तो उसे बडे भले वचन कहकर कि हां ले जाइये, उतना दे देना, बाकी अधिक जो बचा है उसे हडप लेना इस क्रियामे जो वचन बोले गए हैं वह न्यासापहार नामका अतिचार है। (५) प्रकरण और चेष्टा आदिकसे दूसरेके अभिप्रायको समझकर ईर्ष्यावश उस अभिप्रायको प्रकट कर देना साकार मंत्रभेद है। यह सत्याणुव्रतका ५ वां अतिचार है। सत्याणुव्रत ग्रहण करने वालेको ऐसे ५ प्रकारके व्यवहार न करने चाहिएँ। और यदि कुछ सत्यव्रतका सम्बध लगाव रखकर भी कर रहा है तो यह सत्याणुव्रतका अतिचार कहलाता है। अब अचौर्याणुव्रतके अतिचार कहते है।

## स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमनोन्मानप्रतिरूपकव्यवहारः ॥७-२७॥

(१९६) अचौर्याणुव्रतके पांच अतिचार—अचौर्याणुव्रतके ५ अतिचार ये है--[ ] स्तेनप्रयोग. चोरीका प्रयोग करना, यहां चोरी करानेके तीन प्रयोजन होते हैं—एक तो चोरी करने वालेको स्वयमेव प्रेरणा करना, दूसरे चोरी करने वालोको दूसरेके द्वारा प्रेरणा कराना, तीसरे चोरीमे लगे हुएको अनुमोदित करना ये सब स्तेनप्रयोग कहलाते हैं। यह अचौर्याणुव्रतका प्रथम अतिचार है। इसमे स्वय तो चोरी नही की किन्तु चोरीके उपायोमे इसने मदद की इस कारण ये अतिचार हैं। [२] चोरोके द्वारा लाये हुए धनको ग्रहण करना सो तदाहृतादान है। इसमे दोष यह है कि दूसरोको पीडा पहुचाने का यह कारण बना क्योकि चोर तो चोरी करके लाया और इसने उस धनको खरीदा तो उनको आगेका मार्ग मिल गया, सो परकी पीडा हुई, राजाका भय भी यहां है। कोई राजा समझ ले कि यह चोरीका माल लेना है तो उसका तो सारा धन छीन लिया जा सकता। तो यह तदाहृतादान अचौर्यव्रतका अतिचार है। [३] विरुद्धराज्यातिक्रम— जो कानूनके खिलाफ हो उस राज्यनीतिका उल्लंघन करना यह विरुद्धराज्यातिक्रम है। इसमे यह भी बात गर्भित है कि उचित न्यायसे भिन्न अन्य प्रकारसे दानग्रहण करना, लेना सो अतिक्रम है। जैसे अल्प मूल्यमे प्राप्त होने योग्य महान कीमती द्रव्यको लेना। जैसे कोई हीरा खरीद लाया है, वह जानता है कि इसका बहुत मूल्य है फिर भी थोडे मूल्यमे ले लेना यह अतिक्रम है। [४] हीनाधिकमानोन्मान—मान और उन्मान दो तरहके रूप होते हैं। मान तो धान आदिक मायनेके बर्तन प्रस्थ आदिक होते हैं और उन्मान किलो आधा किलोग्राम आदिक होते है। तो यहां न्यूनमानसे तो दूसरेको देना और बडे मान मान बाटसे दूसरेका ग्रहण करना आदिक जो छलका प्रयोग है वह हीनाधिक मानोन्मान है। [५] प्रतिरूपक व्यवहार असलमे कोई दूसरी चीज मिलाकर लेने देनका व्यवहार करना अर्थात् कुछ मिलावट करके देना लेना यह ५ वां अतिचार है। इसमे यद्यपि सीधा ही केवल देते हुएका ग्रहण नही किया, फिर भी ऐसा कार्य करना दोष कहलाता है। अब ब्रह्मचर्याणुव्रतके ५ अतिचार कहते हैं।

## परविवाहकरणेत्वरिकाऽपरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥७-२८॥

(१९७) ब्रह्मचर्याणुव्रतके पांच अतिचार—-ब्रह्मचर्याणुव्रतके ५ अतिचार इस प्रकार है— (१) परविवाहकरण। विवाह कहते हैं सातावेदनीय और चारित्र मोहनीयके उदयसे

कन्यावरण करना विवाह कहलाता है। यो दूसरेके विवाहका करना परविवाहकरण कहलाता है। जैसे किसीको शौक या धुन होती है कि एक लडकेका किसी लडकीसे सगाई सम्बध बने तो उसमे जो उत्सुकता और प्रयोग होना है वह ब्रह्मचर्याणुव्रत वालेके लिए दोष है। (२) अपरिग्रहीताइत्वरिकागमन। इत्वरिका कहते है खोटी चलन वाली स्त्रीको। जिस स्त्रीने ज्ञानावरण का क्षयोपशम पाकर कुछ कला सीखी है, गुणोको जानता है तथा चारित्र मोहनीय और स्त्रीवेदके उदयसे अगोपाग नामकर्मके उदयसे योग्यता पायी है सो वह यदि परपुरुषोसे गमन करे, ऐसा स्वभाव बनाये तो उसको इत्वरिका कहते हैं। यदि वह विवाहित है अथवा वेश्या आदिक है तो वह अपरिग्रहीता कहलाती है। ऐसी कुशील स्त्रीके साथ सबध रखना यह ब्रह्मचर्याणुव्रतका दूसरा अतिचार है। (३) परिग्रहीता इत्वरिकागमन—जो स्त्री कुशील स्वभावकी है और विवाहित है तो ऐसी स्त्रीके साथ गमन करना, सम्बन्ध रखना ब्रह्मचर्याणुव्रतका तीसरा अतिचार है। (४) अनन्यक्रीडा—कामसेवनके अगोसे भिन्न अगोके प्रयोगमे कामसस्कार जगना या विषयसेवन करना यह ब्रह्मचर्याणुव्रतका चौथा अतिचार है। (५) कामतीव्राभिनिवेश—कामके बढे हुए परिणामको कामतीव्राभिनिवेश कहते हैं। ये ५ स्वदारसतोष व्रतके अतिचार है। इस चौथे व्रतका नाम स्वदारसतोष भी है, जिसका अर्थ है अपनी स्त्रीमे सतोष करना। उस व्रतके ये सब अतिचार है। यहाँ एक शंकाकार कहता है कि इसमे तो अनेक अतिचार छूट गए। जैसे कि कोई दीक्षिता है, सन्यासिनी है या अति बाला है, तिर्यञ्चयोनि वाली है, गाय घोडी आदिक इनका कोई यहा सग्रह नही हुआ, कोई पुरुष यदि इसके साथ गमन करे तो क्या वह अतिचार नही है? इस शकाके उत्तरमे कहते है कि इस व्रतमे जो ५ वाँ अतिचार कहा गया है—कामतीव्रानभिनिवेश याने कामविषयक तीव्र वासना होना इसमे ये सब गर्भित हो जाते हैं। जो परिहारके योग्य है ऐसे दीक्षिता सन्यासी—आदिकमे अगर कोई गमन वृत्ति करे तो वह कामकी तीव्र वासनाके कारण ही होता है। अतएव वह सब पचम अतिचारमे गर्भित है। इन सब अतिचारोमे राजभय लोकके अपवाद आदिक अनेक दोष है और मुख्य दोष तो अपने परिणामोकी मलिनता है। ये सब चतुर्थ व्रतके अतिचार कहे गए है। अब पचम परिग्रह विरति नामक व्रतके अतिचार कहते हैं।

**क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥७-२९॥**

१९८—परिग्रहविरतिनामक पंचम् अणुव्रतके अतिचार—परिग्रह विरति नामक व्रतके ५ अतिचार इस प्रकार हैं—[१] क्षेत्रवस्तुप्रमाणातिक्रम—खेत और मकानके परिमाण का उल्लंघन कर देना। इस व्रतीने व्रत धारण करते समय खेत मकान आदिक सबका परिमाण रखा था सो उसको सीधी सख्यामे परिमाणका उल्लघन करनेमे व्रत भग है, किन्तु किसी युक्तिसे उन कल्पित परमाणुका उल्लघन करना यहाँ अतिक्रम कहा गया है। जैसे

किसीने चार खेतोका परिमाण रखा था, अब ५ वाँ खेत उसके पासका बिक रहा है उसे खरीद लिया तो उसके साथ ही यह खेतकी मेड तोड देना जिससे कि चार ही कहलायें तो यह अतिक्रम है। ऐसे ही मकानके सम्बन्धमें जानना। किसी ने एक ही मकान रखा था और पासका ही मकान बिक रहा उसे खरीद लिया और तुरन्त ही अपनी दीवालमे से एक द्वार निकाल लिया, जिससे दूसरे मकानमे अपने घरमे से आना जाना बन गया और उसे एक ही मकान समझ लिया तो यह अतिक्रम है। इसमे व्रतके समय किए गए इरादेका घात है। [२] हिरण्यस्वर्णप्रमाणातिक्रम—सोने चाँदीके परिमाणका उल्लघन करना, सीधे परिमाणका उल्लघन करना तो वह अनाचार है, पर इसमे हो युक्तिसे कुछ बढा लेना, जैसे स्वर्ण बढा लिया, चाँदी घटा ली या अन्य कुछ उसमे छल बनाया, तो वह अतिक्रम कहलाता है। [३] धनधान्यप्रमाणातिक्रम—रुपया पैसा आदिक धन कहलाते है अनाज धान्य कहलाते है अथवा गौ आदिक भी धन कहलाते हैं। इन सबके परिमाणका उल्लघन करना यह परिग्रहविरति का तीसरा अतिचार है। [४] दासीदास प्रमाणातिक्रम—जो सेवक और सेविकाओका परिमाण किया गया था उसका सीधा तो उल्लघन किया नही सख्यामे किन्तु दासी कम करली दास बढा लिया आदिक ढगसे परिमाणका उल्लघन करना यह परिग्रहविरतिका चौथा अतिचार है। [५] कुप्यभाण्डप्रमाणातिक्रम—कुप्य कहते है वस्त्रोको और भाण्ड कहते है बर्तनोको। किसी देशमे बर्तनोको भाँडा भी कहा जाता है। इनका परिमाण उल्लघन करना यह ५ वा अतिचार है। इसमे भी सीधी सख्याका तो उल्लघन नही किया, किन्तु जैसे वस्त्रो का परिमाण ५० गज रखा तो रखना तो ५० गज है मगर और बडा पना कर लेना अथवा दोहरा सिलवाकर ५० गजमे ही मान लेना इस प्रकारके उल्लघनको ५ वा अतिचार कहते है। लिये हुए परिमाणका उल्लंघन तीव्र लोभके अभिप्रायसे होता है, अत ये ५ परिग्रह विरतिव्रतके अतिचार दोषरूप है। इस प्रकार व्रतोके अतिचार तो कहे गए, अब शीलोके अतिचार कहे जायेंगे इन शीलोमे प्रथम नाम है दिग्व्रत सो दिग्व्रतके अतिचार कहते है।

## ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥ ७-३० ॥

(१९९) दिग्वरति व्रत नामक शीलके अतिचार—दिग्व्रतके ५ अतिचार इस प्रकार है—(१) ऊर्ध्वव्यतिक्रम, व्यतिक्रम सीमाके उल्लघन करनेको कहते है। दिशाओमे जानेका जितना परिमाण रखा था उस परिमाणकी अवधिका उल्लघन करना अतिक्रम है। ऐसा अतिक्रम तीन प्रकारसे हो सकता है। ऊपरकी दिशाओमे अधिक जाना, नीचे अधिक जाना और दिशाओमे अधिक जाना, उनमेसे सर्व प्रथम है ऊर्ध्वातिक्रम, पर्वतपर, वृक्षपर, ऊँचे टीलेपर चढते जायें और कुछ सीमासे अधिक हो गया हो (२) अध व्यतिक्रम उतना आदिक विधिमे नीचे अधिक

गमन करना यह अधोव्यतिक्रम है। (३) दिशाओ विदिशाओमे जैसे कही बिलोमे प्रवेश किया, पर्वतो की दरारोंमे प्रवेश किया आदिक रूपसे दिशा विदिशाओमे गमनागमन बढाना तिर्यक व्यतिक्रम है। (४) पहले योजन कोश आदिक परिमाणसे दिशावो का परिमाण किया गया था। (५) लोभवश उससे अधिककी इच्छा करना यह क्षेत्रवृद्धि कहलाती है। यह दिग्व्रतका ५वां अतिचार है। यहां कोई शका करता है कि क्षेत्रवृद्धि कर लेना यह तो कुछ परिमाणमे अर्थात् पचम अणुव्रतमे गर्भित हो जाता है। इस कारण इसका ग्रहण न करना चाहिए। ग्रहण करते हैं तो पुनरुक्त दोष हो जाता है। इस शकाके उत्तरमे कहते है कि यह शका ठीक नही है। पहले जो इच्छा परिमाण किया है वह तो खेत मकान आदिक सम्बधी है और यह जो इच्छा बढा रहा है वह दिशावों सम्बधी है। इन दिशाओमे लाभ होनेपर जीवन है, अलाभ होनेपर मरण है। इस प्रकारकी स्थितिमे भी अन्य जगह लाभ हो रहा हो तो भी गमन न करना अर्थात् तृष्णामे न बढना, मर्यादासे आगे गमन न करना दिग्व्रत है। दिशावोका, खेत मकान आदिककी तरह परिग्रहबुद्धि रखकर अपना कब्जा करके परिमाण नही किया जाता, किन्तु इन दिशावोकी मर्यादाका उल्लघन प्रमादसे, मोहसे, चित्तके व्यासगसे हो जाता है। इस प्रकार ये दिग्व्रतके ५ अतिचार कहे गए है। अब देशव्रतके अतिचार कहते हैं।

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥७-३१॥

(२००) देशविरति व्रतनामक शीलके अतिचार— देशव्रतके ५ अतिचार इस प्रकार हैं—[१] आनयन—देशव्रतमे जितने समयके लिए जितने क्षेत्रमे मर्यादा की है उस क्षेत्रसे बाहर कोई व्यक्ति खडा है तो उसको कुछ पदार्थ लेनेकी आज्ञा देना यह आनयन अतिचार है। उस क्षेत्रसे बाहर यह व्रती स्वय नही गया, इस कारण अनाचार तो नही है पर दूसरे व्यक्तिको भेजा इस कारण यह अतिचार है। [२] प्रेष्यप्रयोग—प्रेष्य कहते है सेवकको, जिसको भेजा जाता है सो स्वीकृत मर्यादासे बाहर स्वय भी नही गया, दूसरेको नही बुलाया किन्तु अपने सेवक द्वारा प्रयोग कराना यह प्रेष्य प्रयोग है। [३] शब्दानुपात— जितने समयके लिए क्षेत्रमर्यादा की है उससे बाहर कोई नौकर आदिक खडा है तो उसे खांसकर या अन्य प्रकार शब्द करके उस कार्यको करवाना यह शब्दानुपात है। ये सब अतिचार क्यो कहलाते है कि इन व्रतोका प्रयोजन था कि लोभ और आरम्भमे हटकर इस ही क्षेत्रमे अपना आरम्भ करना ताकि विशेष पाप न हो। लेकिन इस उद्देश्यका विघात है, इन कार्योमे इस कारण यह अतिचार है। [४] मर्यादासे बाहर कोई खडा हो तो उसको अपना शरीर ऐसा दिखाना जिससे यह समझता है कि मुझे देख देखकर काम जल्दी हो जायगा। इस अभिप्रायसे शरीर दिखानेको रूपानुपात कहते हैं। [५] पुद्गलक्षेप—मर्यादासे बाहर खडे हुए नौकर चाकरोको सकेत करने

के लिए कङ्कड पत्थर आदिक फेंकना पुद्गलक्षेप कहलाता है। इन अतिचारोमे खुदने मर्यादा तो नही लाँघा, पर अन्यसे काम करवाता है इसलिए यह अतिचार कहलाता है। अब अनर्थदण्ड व्रतके अतिचार कहते है।

## कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥७-३२॥

(२०१) अनर्थदण्डविरति व्रत नामक शीलके कदर्प कौत्कुच्य व मौखर्य अतिचार— अनर्थदण्डव्रतके ५ अतिचार इस प्रकार है—(१) कदर्प—चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए रागके वेगसे मजाक सयुक्त जो अविशिष्ट वचनोका प्रयोग होता है उसे कदर्प कहते है। यह कदर्प-अनर्थ-दण्ड है अथवा उसने साक्षात् कोई वध आदिक नही किया फिर भी बिना प्रयोजन ही इस प्रकारके वचनका प्रयोग करना उचित नही है। उसे अनर्थदण्ड विरतिका अतिचार कहा गया है। (२) कौत्कुच्य–रागके वेगसे तो हास्यमयी वचन बोले जाते है, सो वह हास्य भरा तो है ही, पर साथ ही वे अशिष्ट अभद्र वचन है ये दोनो ही बातें जब दूसरेके प्रति खोटे कायकी प्रवृत्तिके साथ की जाती हैं तो उसे कौत्कुच्य कहते है अर्थात् खोटी हँसीके वचन बोलना, बुरे वचन बोलना और उसके साथ ही साथ शरीरकी बुरी चेष्टा दिखाना यह कौत्कुच्य कहलाता है। (३) मौखर्य—अभद्रतासे जो कुछ भी अनर्थ बहुत वचन बोलना, अधिक बकवास करना मौखर्य कहलाता है। जो मनुष्य अधिक बोलता है उससे कितने ही अनर्थ हो जाया करते है इस कारण बकवास करना अनर्थदण्डविरतिका अतिचार है।

[२०२] अनर्थदण्डविरति व्रतका असमीक्ष्याधिकरण नामक अतिचार—[४] असमीक्ष्यअधिकरण अर्थात् बिना बिचारे ही कुछ अधिक प्रवृत्ति कर डालना। प्रयोजन तो इसमे कुछ भी नही विचारा गया कि मैं किसलिए ऐसी प्रवृत्ति करूँ और यो ही किसी विषयमे भोगप्रवृत्ति कर लेना यह अनर्थदण्डविरतिका चौथा अतिचार है। यह अधिकरण तीन प्रकार से होता है—शरीर द्वारा अधिक प्रवृत्ति, वचन द्वारा अधिक प्रवृत्ति, कायअधिकरण तो यह है कि प्रयोजनके बिना जाना हुआ, ठहरा हुआ, खडा होता हुआ, बैठता हुआ सचित्त अचित्त पत्र फूल फलोका छेदन करना भेदन करना, कूटना, फेंक देना यह कायिक अधिकरण है तथा अग्नि विष आदिक वस्तुवोका प्रदान प्रारम्भ करना यह सब बिना विचारे कायिक अधिकरण है। बिना बिचारे वाचनिक अधिकरण क्या है कि बिना प्रयोजन कथा कहानियो का वर्णन करना तथा दूसरोको पीडा पहुचे, इस प्रकारका कुछ भी वचन बोला जाना यह वाचनिक अधिकरण है। मानसिक अधिकरण क्या है? दूसरेका अनर्थ करने वाली बात विचारना अथवा रागभरे काव्य आदिकका चिन्तन करना यह सब मानसिक बिना विचारे

अधिकरण है ।

(२०३) अनर्थदण्डविरति व्रतका उपभोगपरिभोगानर्थक्य नामक पचम अतिचार—[५] जितने पदार्थोंसे उपभोग परिभोग हो सकते है उनके लिए उतने ही पदार्थ रखने बताये गए है । उससे अतिरिक्त रखना यह भोगोपभोगानार्थक्य नामका अतिचार कहलाता है । यहाँ एक शका होती है कि भोगोपभोगकी चीजें अधिक रखना यह तो भोगोपभोग परिमाण व्रतमे बताया ही जा चुका है । इसका उस ही व्रतमे अन्तर्भाव हो जायगा । फिर इसे कहना पुनरुक्त कहलाता है, अत इसका ग्रहण न करना चाहिए । इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि यह शंका यो युक्त नही है कि भोगोपभोग परिमाण व्रतका अर्थ और यह कहा गया पचम अतिचारका अर्थ शकाकारने ठीक तरहसे नही समझा । भोगोपभोग परिणाम व्रतमे तो अपनी इच्छानुसार भोग और उपभोगकी वस्तुवोका परिमाण किया गया था और इस तरह अन्य वस्तुविषयक पापवृत्तिका पूरा त्याग हो चुका था । इस सूत्रमे जो पचम अतिचार कहा है उसका प्रयोजन यह है कि पहले भोगोपभोग परिमाणव्रतमे जितना भी वस्तुका परिमाण किया गया है उस परिमाण किए गए के अन्दर ही जो बात अनावश्यक है उसे रखना यह पचम अतिचार कहलाता है । फिर भी एक शका हो सकती है कि भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचार कहे गए थे, उस ही मे इसका अन्तर्भाव हो जायगा, सो भी शंका ठीक नही है । उनके भोगोपभोग परिमाण व्रतके जो अतिचार कहे गए हैं वे सचित्त आदिकके सम्बन्धरूपसे मर्यादाका उल्लघन करनेकी सूचनाके लिए थे । यहाँ वह प्रयोजन नही रखा गया है । ये सब अनर्थदण्ड व्रतके अतिचार बताये गए हैं । अब सामायिक नामक शिक्षाव्रतके अतिचार कहते हैं ।

## योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥७-३३॥

( २०४ ) सामायिक शिक्षाव्रत नामक शीलके अतिचार—सामायिक शिक्षाव्रतके ५ अतिचार इस प्रकार हैं—( १ ) काययोगदुःप्रणिधान । दुःप्रणिधान कहते हैं खोटे प्रयोगको अथवा उल्टे प्रयोगको । शरीरका खोटा प्रवर्तन करना, सामायिकमे होने वाली चेष्टावोसे विप-विपरीत प्रवृत्ति करना काययोगदुःप्रणिधान है । (२) वचनयोगदुःप्रणिधान—वचनोका सही प्रयोग न होना, उल्टा प्रयोग होना जिसमे वर्णोका सस्कार नही रहता, अर्थका भी परिचय नही हो पाता या वचनोमे चंचलता रहती है वह सब वचनयोगदुःप्रणिधान है । (३) मनोयो-गदुःप्रणिधान—अपने मनको शुद्ध तत्त्वके चितन मननके लिए समर्पित न करना, अन्य बातोका चितन मनन करना यह सामायिक शिक्षाव्रतका तीसरा अतिचार है । (४) जैसा कि सामायिक व्रतमे करना चाहिए उसके प्रति सावधानी नही है, और किसी भी प्रकारकी प्रवृत्ति हो, अनु-

त्साह हो उसमें आदरभाव ही न हो तो वह अनादर नामका चौथा अतिचार है। किसी तत्त्व मे एकाग्रचित्त होकर चिंतनमे नही चल रहा, मन समाधानरूप नही है, अतएव सामायिक मे की जाने वाली क्रियावो का या पाठ आदिकका भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान नामका ५ वाँ अतिचार है।

(२०५) **सामायिक शिक्षाव्रतके तृतीय व पञ्चम अतिचारमे अन्तर प्रदर्शन**—यहाँ एक शंका होती है कि इस ५वें अतिचारका तो मनोयोग दु.प्रणिधान नामके अतिचारमे ही अन्तर्भाव हो जाता है। योग्य क्रियावोको भूल जाना यह ही तो मनका विषम प्रवर्तना है। इस कारण स्मृत्युनुपस्थानका ग्रहण करना अनर्थक है। इस शंकाके उत्तरमे कहते हैं कि मन के दु प्रणिधानमे तो अन्यका चिन्तन चलने लगता था। मन किसी भी विषयमे दौड़ता था। वहाँ तो जो कुछ भी विचारते हुए या न विचारते हुए विषयोमे क्रोधादिकका भाव आ जाना या उदासीनतासे मनको गिरा लेना आदिक बातें होती थी, किन्तु इस पचम अतिचारमे विचार तो अन्य जगह नही चलाया जा रहा है, सामायिकके योग्य प्रवृत्तियोमे मनको चलाना चाह रहा है, पर परिस्पंदन होनेसे, मनकी अस्थिरता होनेसे उन सामायिक योग्य बातोमे एकाग्रतासे नही लग पा रहा, इस प्रकार तीसरा अतिचार और पचम अतिचारमे परस्पर भिन्नता है अथवा रात और दिनकी नित्य क्रियावोका प्रमादकी अधिकताके कारणसे भूल जाना यह स्मृत्यनुपस्थान कहलाता है। ये ५ सामायिक शिक्षाव्रतके अतिचार हैं। अब प्रोषधोपवास आदिक व्रतके अतिचार कहते है।

**अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।७-३४।**

( २९६ ) **प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत नामक शीलके अतिचार**—प्रोषधोपवास व्रतके ५ अतिचार इस प्रकार हैं—(१) अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितोत्सर्ग–चक्षुसे न देखे गएको अप्रत्यवेक्षित कहते हैं और कोमल उपकरणसे शुद्ध न किए गए को अप्रमार्जित कहते है। सो बिना देखी, बिना शोधी वस्तुको रख देना यह प्रोषधोपवास व्रतका पहला अतिचार है। प्रोषधोपवास व्रत मे कुछ निर्बलता होनेसे ऐसा प्रमाद करने लगना कि चीजोको अगर कही धरनेकी आवश्यकता है तो जमीन शोधे बिना, ठीक तरह देखे बिना उस चीजको यो ही रख देना यह प्रोषधोपवास व्रतका पहला अतिचार है। बिना देखे शोधे जमीनमे मलमूत्र क्षेपण करना यह प्रथम अतिचार है। (२) बिना देखे, बिना शोधे उपकरणोका ग्रहण कर लेना यह प्रोषधोपवास व्रतका दूसरा अतिचार है। जैसे अरहतदेवकी, आचार्यकी पूजा करते हुए उन पूजाके उपकरणोका या अपने वस्त्रादिक वस्तुवोका बिना देखे, बिना शोधे ग्रहण कर लेना यह प्रोषधोपवास व्रतका दूसरा अतिचार है। इसमे प्रमाद बसा है और अहिंसाकी उपेक्षा की गई है, इस कारण यह दोषरूप

है। (३) बिना देखे, बिना शोधे बिस्तर, चटाई आदिका बिछा देना यह प्रोषधोपवास व्रतका तीसरा अतिचार है। इसमें प्रमादका और अहिंसाके प्रति उपेक्षाका दोष बनता है। (४) प्रोषधोपवास व्रतमें जो कुछ प्रवृत्तियाँ आवश्यक हैं उनमें आदर न होना, निरुत्साह होकर व्रत करना, सो अनादर नामका चौथा अतिचार है। प्रोषधोपवासमें क्षुधा आदिककी तो वेदना होती है उस वेदनासे मलिन होकर प्रमाद करना, योगक्रियामें अनादर करना सो यह दोष है। (५) स्मृत्यनुपस्थान—प्रोषधोपवासमें की जाने वाली योग्य क्रियाओंका भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान कहलाता है। ये ५ प्रोषधोपवास व्रतके अतिचार हैं। अब भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार कहते है।

## सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥७-३५॥

(२०७) भोगोपभोगपरिमाणशिक्षाव्रत नामक शीलके अतिचार—भोगोपभोग परिमाण व्रतके ५ अतिचार इस प्रकार है—[१] सचित्त वस्तुका प्रयोग करना सचित्त नामका प्रथम अतिचार है। [२] सचित्त सम्बंध सचित्त पदार्थसे ससर्ग की हुई वस्तुका उपयोग करना भोगोपभोग परिमाण व्रतका दूसरा अतिचार है। [३] सचित्तसम्मिश्र—सचित्त पदार्थ का अचित्तमे मेल कर देना यह तृतीय अतिचार है। द्वितीय अतिचारमे तो सचित्तका केवल ससर्ग ही था, किन्तु इस तृतीय अतिचारमे सचित्त सूक्ष्म जतुओसे भी आभार मिश्रित हो गया कि जिसका विभाग ही नही किया जा सकता है। प्रमादके कारण या मोहके कारण क्षुधा आदिसे पीडित व्यक्ति जल्दी मचाता है भोजन-पान करनेमे, सो वहाँ सचित्त आदिकका सबंध मिश्रण या रख देना आदिक प्रवृत्तियाँ हो जाती हैं। [४] अभिषव—जो उत्तेजक पदार्थ हैं उनका भोजन करना अभिषव नामका अतिचार है। [५] दुष्पक्वाहार—जो भोजन अच्छी तरह नही पकाया गया वह दुष्पक्वाहार कहलाता है। दुष्पक्वाहार करनेसे इन्द्रियाँ मत्त हो जाती है और ऐसे सचित्त आदिकके प्रयोगसे इन सभीके प्रयोगसे जो अतिचारमे बताया गया है, शारीरिक बाधा भी होती है, वायु आदिक दोषका प्रकोप हो जाता, फिर उसका प्रतिकार करना पडता, उसके आरम्भमे पाप होते, इस कारण सचित्त सम्बन्ध वाले आदि जितने भी हेय आहार बताये गए है उनका करना ये भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचार कहलाते हैं। अब अतिथिसम्विभाग व्रतके अतिचार कहते है।

## सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥७-३६॥

(२०८) अतिथिसविभागशिक्षाव्रत नामक शीलके अतिचार—अतिथिसम्विभागव्रतके ५ अतिचार इस प्रकार है—[१] सचित्तनिक्षेप—सचित्त कमलके पत्र आदिकपर भोजनका

रख देना सचित्त निक्षेप है। सचित्त पदार्थ है याने हरे पत्ता आदिकपर प्रासुप भोजनका रख देना यह अतिथिसम्विभाग व्रतका क्यो अतिचार है ? उसका कारण यह है कि किसी गृहस्थ के मनमे यह भाव आ सकता है कि यह अनिष्ट चीज यदि सचित्त पत्तेपर रख दी जाय तो वह फिर पात्रको देने लायक न रहेगा और घरमे उसका उपयोग हो जायगा। तो भावोमे मलिनता इस ढगकी आये तो वह अतिथिसम्विभाग व्रतका अतिचार है अथवा अजानकारी हो या उलायत हो और सचित्तपत्रपर रख दिया जाय तो वह अतिथिसम्विभाग व्रतमे दो जानेपर दोप कहलाता है। [२] सचित्ताविधान—सचित्त कहते है हरे पत्ते आदिकको और अविधान कहते है ढकनेको। भोजन तो शुद्ध प्रासुप है, पर उसे हरे पत्ते आदिकसे ढांक दें तो वह अतिथिके देने लायक नही रहता। तो इसमे भी सचित्तनिक्षेपकी तरह दोप आता है। [३] परव्यपदेश—दूसरेके नामके बहाने देना, इसका दाता दूसरी जगह है, यह देय पदार्थ अमुक व्यक्तिका है, यह तो लेना ही है, इस तरह दूसरेका बहाना करके देना परव्यपदेश कहलाता है। ऐसा करनेमे थोडा मनमे पात्रको भले प्रकार खिलानेके लिए कुछ छलका अश आता है, इस कारण दोप है। [४] मात्सर्य—दान दिया जा रहा है तो भी आदरके बिना अथवा किसीको मात्सर्य करके दान देना यह चतुर्थ अतिचार है। इसमे दाताको यह मात्सर्य हुआ। अपना नाम कीर्ति बढानेके लिए कि मैंने दूसरेसे कम बार आहार नही दिया अथवा दूसरेसे ज्यादा बार आहार दिया—इस प्रकार मात्सर्यवश आहार दान देना यह मात्सर्य नाम का अतिचार है। [५] कालातिक्रम—भोजनयोग्य समयको टालकर अकालमे भोजन देना यह कालातिक्रम है अथवा श्रावकोके ऐसा नियम रहा करता है कि मैं प्रत्येक अमुक तिथिको आहारदान करूँगा और कदाचित् सुन रखा कि इस तिथिके एक दिन बाद पात्र सत्सग मिलेगा अथवा उससे पहले पात्रके विहार करनेका समाचार मिला तो नियत दान देनेकी तिथि से पहले या बादमे दान करे, उस नियत तिथिके एवजमे यह कालातिक्रम रहता है। इस प्रकार ५ अतिथिसम्विभाग व्रतके अतिचार कहे गए है। यहाँ तक ७ शीलोके अतिचार भी कहे जा चुके। इस तरह ५ व्रत एक सम्यग्दर्शन और ७ शील यो १३ प्रकारके नियमोके अतिचार कहे गए हैं। अब सल्लेखना व्रतके अतिचार कहते है।

## जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥७-३७॥

(२०६) सल्लेखनाके अतिचार—सल्लेखनाके अतिचार इस प्रकार है—[१] जीविताशंसा—अर्थात् जीनेकी इच्छा करना, आशसा अभिलाषा करनेको कहते है। सल्लेखना व्रत तो धारण किया, पर मनमे जीनेकी याद लग रही है— मैं और जीता रहू। वैसे जीना कौन नही चाहता ? संसारके सभी जीवोको जिन्दगी प्यारी है, किन्तु यहाँ जब काय और कषायसे

एकदम विरक्ति कर ली गई जिसे सल्लेखना कहते हैं तो ऐसी उच्च स्थिति पानेपर जीनेकी इच्छा होना यह दोष है। यह शरीर अवश्य नष्ट होगा, यह जलके बुदबुदेके समान अनित्य है, यह कैसे ठहर जाय ऐसा जीवनके प्रति आदरभाव होना जीविताशंसा कहलाती है। [२] मरणाशंसा–रोगोके उपद्रव होनेसे चित्त आकुलित हो गया है और जीवनमे सक्लेश बन गया है और धार्मिक वातावरण रहनेसे समाधिमरणका भी भाव कर लिया है, अब वहाँ मरणके प्रति उपयोग जाना कि न जाने कब मरण होगा, यह तो बडी वेदना है, इस प्रकारकी अभिलाषाको मरणाशंसा कहते है। [३] मित्रानुराग–पहले जिसके साथ मित्रता थी, धूलमे खेले, बडी अवस्थामे भी प्रेम रहा, सलाह रही तो उनके इन सम्बन्धोका स्मरण करना यह मित्रानुराग कहलाता है। इसने मेरेपर विपत्ति आनेके समय बहुत रक्षा की, ऐसी ऐसी विपत्तियोमे इसने मेरा बहुत साथ दिया आदिकका भी स्मरण करना मित्रानुराग कहलाता है। अब सल्लेखना बात तो धारण किया, कुछ ही समय बाद इस शरीरको छोडकर जाना है तो ध्यान किया जाना चाहिए सहजपरमात्मतत्त्वका, पर आत्मा और परमात्मापर ध्यान तो खचित होता। और लौकिक मित्र जनोका चित्तमे चित्रण कर रहा है तो यह मित्रानुराग समाधिमरणका दोष है। [४] सुखानुबन्ध– जो जो सुख भोगे थे बचपनमे, बडेमे, उन सब सुखोका स्मरण करना– मैंने ऐसा खाया, मैं ऐसा आराम करता था, इस तरह खेलता था आदिक प्रीतिविशेषके प्रति स्मृति करना सुखानुबध कहलाता है। अब मरण समय तो आ रहा है शरीर छोडकर जाना है तो परमार्थतत्त्वका चिन्तन चलता था, पर वह चिन्तन न चलकर जो भोगे गए सुखोका चिन्तन चल रहा है वह यहाँ दोषरूप है। [५] निदान–विषयसुखोकी उत्कर्षिता चाहना भोगाकाक्षा कहलाती है। भोगोकी इच्छासे नियत चित्त दिया जा रहा है भोगोमे तो वह निदान कहलाता है। निदान शब्दमे नि तो उपसर्ग है और दा धातु है, जिससे अर्थ बनता है कि भोगोकी अभिलाषाके द्वारा नियत चित्त जिसमे दिया जाय वह निदान कहलाता है। ये ५ सल्लेखनाके अतिचार हैं। अब जिज्ञासा होती है कि तीर्थंकरप्रकृतिके बन्धके कारणोमे शक्तितः त्याग, शक्तित तप– ये दो बातें कही गई थी और फिर शील व्रतके विधानमे अतिथिसम्विभाग व्रत बताया है। अतिथियोके लिए दान करना अतिथिसम्विभाग व्रत है। तो दानका सही लक्षण ज्ञात न हुआ सो वह कहा जाना चाहिए, ऐसी जिज्ञासा होनेपर सूत्र कहते हैं।

### अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥७-३८॥

(२१०) दानका स्वरूप – अपने और पराये उपकारके लिए धनका त्याग करना दान कहलाता है। अनुग्रहका अर्थ अपना और परका उपकार करना कहलाता है। तो जो पात्रदान

किया जाता है उसमे पुण्यका सचय होना तो सोपकार है और अतिथिके सम्यग्ज्ञान सयम-पालन आदिकमे भी वृद्धि होती है तो वह परोपकार है। आहार देनेसे, ज्ञानसाधन देनेसे उनके ज्ञानसंयम आदिककी वृद्धि होती है याने वह इस श्रेष्ठ मन वाले मनुष्यभवमे आयु पाकर तत्त्वचिंतनसे आत्मशुद्धि करता है। यो स्व और परके उपकारके लिए स्वका अतिसर्ग करना अर्थात् त्याग करना दान कहलाता है। इस सूत्रके स्व शब्दका अर्थ है धन। यद्यपि स्व शब्द के अनेक अर्थ है चाँदी धन आदिक फिर भी यहाँ स्व शब्दसे धन वाच्य लिया गया है। याने अपने और परके अनुग्रहके लिए धनका लगाना, त्याग करना दान कहलाता है। इस सूत्रमे दानका स्वरूप कहा गया है पर उस दानेमे क्या सदा एक जैसी पुण्यभाव प्रवृत्ति रहती है या कुछ विशेषता है। यह बात कहनेके लिए सूत्र कहते है।

## विधिद्रव्यदात् पात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥७—३९॥

(२११) दानकी विशेषतावोके कारणोंका वर्णन—विधि द्रव्य, दाता और पात्रकी विशेषतासे दानमे विशेषता होती है। विधिका अर्थ है पडगाहना आदिक। उसमे पहले पडगा-हना यह प्रतिग्रह है, फिर उच्च आसनपर बैठालना यह दूसरा कार्य है। पश्चात् पादप्रक्षालन करना, पैर धोना यह तीसरा कार्य है। पीछे पूजा करना, गुणानुवाद करना अर्थात् हर्ष व्यक्त करना, पश्चात् प्रणाम करना, ऐसे ही आगे दान क्रिया, विनयभाव रखना यह सब क्रियाविशेषका जो क्रम है उसका नाम है विधि। उस विधिमे गुणकृत विशेषता आना विधिविशेष कहलाता है। यहाँ विशेष शब्दका सम्बन्ध चारोके साथ लगाया गया है। विधि विशेषके वर्णनके बाद अब द्रव्यविशेपकी बात कहते है, दिए जाने वाले अन्न आदिकको जो ग्रहण करते हैं उन पात्रोका तप स्वाध्याय बढे, परिणामोमे वृद्धि आवे उस प्रकारसे द्रव्य विशेष आहारदान आदिक देना यह द्रव्यकी विशेषता कहलाती है। दात्रि विशेप देने वाला पुरुष सरलपरिणामी हो, दूसरेसे स्पर्धा रखकर दान न देता हो किन्तु अपनी ही विनय प्रकृतिसे दान दे रहा है तो उसको ईर्ष्या नही और त्याग करनेमे विषाद नही। खुद देनेकी इच्छा करता है और देते हुए जिसको दिया जा रहा उसमे प्रसन्नताका भाव आ रहा है, पुण्यभाव जग रहे है और जो उस दानका फल है भोगभूमिमे उत्पन्न होना, तत्काल यश-कीर्ति होना, उन फलोकी अपेक्षा न रखना, दूसरा दान देता हो तो इसमे बाधा न डालना और निदान न करना यह सब दाताकी विशेषता कहलाती है। ऐसा उच्च गुणवान दाता दातृविशेष कहलाता है। पात्रविशेष–मोक्षके कारण है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। उन गुणोके साथ जिसका योग है वह पात्र विशेष पात्र कहलाता है। यदि पात्रविशेष हो तो उनके लिए किया गया दान एक विशिष्ट पुण्यका कारण होता है। इन चार विशेषताओ

के कारण दानमे विशेषता आती है। अर्थात् उससे फलविशेषकी प्राप्ति होती है। जैसे योग्य जमीन आदिककी विशेषता होनेसे उसपर सौंपा गया बीज अपने कालमे कई सौ गुना फल देता है, ऐसे ही समझो कि विधिद्रव्य, दाता और पात्र इनकी विशेषता होनेसे दानमे विशेषता आ जाती है।

(२१२): **स्याद्वादसम्मत नित्यानित्यात्मक जीवमे ही विधि आदि विशेषताओंकी उपपत्ति**—अब इस प्रसगमे दार्शनिकताकी दृष्टिसे देखनेपर यह निर्णय होता है कि स्याद्वादियो यहाँ तो विधि आदिककी उपपत्ति बनती है अर्थात् ये सब ठीक हो जाते है, किन्तु जो आत्मा नही मानते उनके दर्शनकी विधि आदिकका कोई स्वरूप नही बनता। यदि विधि आदिकका स्वरूप बनायेंगे तो सभी पदार्थ निरात्मक है, ऐसी जो उनकी मान्यता है उसे मिटाना पडेगा, इसी प्रकार जो क्षणिकवादी लोग है, जो मानते कि क्षणभरको विज्ञान उत्पन्न होता, उनके मतके अनुसार तो जो यह चर्चा है कि साधु सतजन व्रत, तप, स्वाध्याय आदि मे लीन रहते है, वे परअनुग्रह रखेंगे, इनके लिए दिया गया दान हमारी व्रत, शील आदि की भावनाको बढायेगा। यह सब अभिप्राय बन ही नही सकता क्योकि उन क्षणिकवादियो ने आत्माका कुछ अस्तित्व माना ही नही। वे तो मानते कि आत्मा क्षण क्षणमे नया नया उत्पन्न होता। तो उनकी इस मान्यताके अनुसार वे सब अभिप्राय नही बन सकते। इसी प्रकार जो दार्शनिक आत्माको नित्य अज्ञ और निष्क्रिय मानते है उनके यहाँ भी विधिविशेष आदिक नही बन सकता, क्योकि जब आत्मा नित्य है तो उसमे कुछ परिणमन ही नही बन सकता, भाव भी नही बन सकता तो फिर ये विधि विशेष आदिक कैसे बनें? जिनका आत्मा अचेतन है अर्थात् ज्ञानगुणसे रहित है, केवल ज्ञान गुणका समरण होने पर ही आत्मा जान पाता है, ऐसा जिनका सिद्धान्त है तो उनका वह अज्ञ अचेतन आत्मा कैसे विधि आदिकका प्रसग बना सकेगा और फिर मानो आत्मा जुदा है, ज्ञान जुदा है और ज्ञानके सम्बन्धसे आत्मा ज्ञानी बने तो आत्मा ज्ञानस्वभाव वाला तो नही बन सकता। जैसे डडाके ग्रहण करनेसे कोई डडे वाला बना तो कही वह पुरुष डडेके स्वभाव वाला तो नही बन सकता। जो लोग आत्माको सर्वव्यापी मानते है उनका आत्मा निष्क्रिय भी हो गया। अब उसकी विधि आदिक कैसे बनेगी? कोई दार्शनिक २४ प्रकारका क्षेत्र अचेतन प्रकृतिका कहते है और उस क्षेत्रको जानने वाले पुरुष चेतन माने जाते, तो वहाँ पर भी तो वह सब परिणमन वाला क्षेत्र अचेतनका है, सो उसके विधि आदिकका अभिप्राय बन नही सकता है। जो अचेतन है वह बुद्धिकी क्रिया कैसे कर सकेगा? और यदि प्रकृतिमे विधि आदिकके अभिप्राय हैं तो क्षेत्र अचेतन न रहा। यदि क्षेत्र निष्क्रिय आत्माका माना जाय तो वहाँ विधि आदिक

नही बनते। ये सब बातें तो स्याद्वादमे ही बन सकती है। क्योकि वहाँ अनेकान्तका आश्रय है। आत्मा कथचित नित्य है कथचित अनित्य है, स्वरूपदृष्टिसे नित्य है पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। तो उनका सम्बन्ध बनाकर यह जीव विधिविशेष आदिक विशेषताओको कर सकता है। इस प्रकार दानका प्रकरण समाप्त होते ही यह सप्तम अध्याय समाप्त होता है।

(२१३) **अष्टम अध्यायमें द्रव्दबन्धके विस्तारसे वर्णनकी सूचना**—मोक्षशास्त्रके प्रथम अध्यायमे मोक्षशास्त्रके वक्तव्यमे रत्नत्रय जीवाधितत्त्वका प्रतिपादन करके उन सब तत्त्वोके जाननेके उपाय प्रथम अध्यायमे बताये गए है। दूसरे तीसरे और चौथे अध्यायमे जीवतत्त्वका वर्णन किया है। पचम अध्यायमे अजीव तत्त्वका वर्णन किया है। छठे अध्याय मे सामान्यतया आस्रव पदार्थका वर्णन किया है। ७वे अध्यायमे आस्रवके विशेषरूप पुण्यास्रव का वर्णन है किया है। यो ७ वें अध्याय तक आस्रव पदार्थ, पदार्थ बताये गए। अब बध तत्त्वका वर्णन किया जाना चाहिए। आस्रवके पश्चात् सूत्रोक्त क्रममे बधतत्त्वका क्रम वर्णन करनेके लिए बैठता है। वह बध चेतनबध, अचेतनबंध अर्थात् चेतनद्रव्यका परिणामरूप बध, अचेतनद्रव्यका परिणमन रूप बध दो प्रकारका बध है। चेतन द्रव्यका परिणामरूप बध तो भावबधकी अवस्था है और अचेतन द्रव्यका परिणाम रूप बध द्रव्यबधकी अवस्था है। इन बधोका वर्णन (१) नामबंध (२) स्थापनाबध (३) द्रव्यबध और (४) भावबध—इन चार रूपोसे भी की जाती है। पर चार रूप तो एक पद्धतिमे है। इससे कहा जाता है द्रव्यबध और भावबध। उन दोनोमे से द्रव्यबध तो अनेक प्रकारके होते है। लाखको पेडमे बध जाना, काठका काठसे बध जाना, रस्सीका रस्सीसे बधना, साँकलका साँकलसे बंधना, ये बहुत प्रकारके द्रव्यबध है, पर यहाँ द्रव्यबध विवक्षित है। कार्माणवर्गणावोमे कर्मरूपता आना सो उसका वर्णन आगे किया जायगा।

(२१४) **प्रथम सूत्रमे द्रव्यबंधके अथवा द्रव्यास्रवके हेतुवोके वर्णनकी सूचना**—यहाँ अभी द्रव्यबधके अथवा द्रव्यास्रवके हेतुका वर्णन करेंगे। माता पिता पुत्रसे स्नेहका सम्बन्ध बनना यह नोकर्म बध है। इसमे भी भावबंधकी झलक आयी है और द्रव्यबंध कहलाता है कार्माणवर्गणावोका बध। वह परम्परासे तो चला आया और व्यक्तिगत रूपसे जिस समय जिस प्रकृतिका बध है उस समय वह है यो आदिमान है, सो ऐसे द्रव्यबधका हेतुभूत जो भाव है याने बधके जो कारण हैं उनका वर्णन किया जायगा जिन भावोके द्वारा यह द्रव्यबध चलता है। यदि कर्मका बंध सहेतुक न हो अर्थात् आत्माके विभावपरिणामका निमित्त पाकर बनता है द्रव्यबध सो उसमे निमित्त न हो तब द्रव्यबध अनन्त हो जायगा। उसमे कभी नाश न हो पायगा। यदि कारण न माना जाय और चूंकि द्रव्यबध उस द्रव्यकी योग्यता

से होता है। इसका एकान्त किया जाय तब वह द्रव्यबध सदा रहेगा और कभी मोक्ष न हो सकेगा क्योकि जो अहेतुक चीज है वह कैसे बोली जा सकती है ? कर्मबध यदि अहेतुक हो तो कर्मबन्ध कभी टल ही न सकेगा। सो बंध तो हुआ कार्य और आत्माके विभावपरिणाम हुए उस बधके कारण, सो कार्यसे पहिले कारणोका निर्देश किया जा रहा है, जिसके बाद फिर कर्मरूप द्रव्यका विस्ताररूपसे वर्णन चलेगा। तो छठवें ७ वें अध्यायमे जिनका विशेषरूपसे वर्णन किया गया वे ही बधनके हेतु है। सो उनको सक्षेपसे सूत्र द्वारा कह रहे हैं।

## मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥८—१॥

(२१५) **कर्मबन्धके कारणोका निर्देश**—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बधके कारणभूत है। इन सब भावोका वर्णन यद्यपि पहले कहा जा चुका, पर उन विस्तारोका सक्षेप करके गुणस्थान परिपाटीके अनुसार सक्षिप्तरूपमे इस सूत्रमे कहा गया है। ये सब परिणाम पहले किस प्रसगमे कहे गए थे सो सुनो–मिथ्यादर्शन तो २५ क्रियावो मे जो मिथ्यादर्शन आया है मिथ्यात्व क्रिया, इसी प्रकार और भी अन्य क्रियायें हैं उनमे मिथ्यादर्शनका अन्तर्भाव होता है, अविरति है विरतिका प्रतिपक्षी। विरति न हो तो अविरति है। सो विरतिका वर्णन किया गया और विरतिका प्रतिपक्षी भाव अविरतिका भी वर्णन किया। साम्परायिक आस्रवका इन्द्रियकषाया आदिक सूत्रमे वर्णन किया गया है। प्रमादका वर्णन कहाँ हुआ ? तो उन २५ क्रियावोमे आज्ञाव्यापादन क्रिया, अनाकाक्ष क्रिया इसमे प्रमादका अन्तर्भाव हो जाता है। प्रमादका अर्थ यह है कि मोक्षमार्गमे आदर न होना और मनका समाधानरूप न होना ऐसा यह प्रमाद उन अनेक क्रियावोमे शामिल है जिन क्रियावोमे आस्रव बताया गया है। कषाय तो क्रोधादिक हैं ही, जिनका वर्णन अनेक जगह हुआ है। ये क्रोधादिक कही अनन्तानुबधी पाये जाते है, कही अप्रत्याख्यानावरण है, कही प्रत्याख्यानावरण है, कही सज्वलनरूप है। इन कषायोका भी वर्णन इन्द्रिय कषायादिक सूत्र मे कहा गया है। योगका वर्णन छठे अध्यायके प्रथम सूत्रमे किया गया है। काय, वचन, मन की क्रियाको योग कहते हैं। तो इन सबका वर्णन पहले विस्तारसे आया है। उन्हीको ही सक्षिप्त प्रकारोमे जो कि गुणस्थानके अनुसार घटित किया जा सकता, यहाँ वर्णन किया गया है।

(२१६) **नैसर्गिक व परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शनका विवरण**—मिथ्यादर्शन दो प्रकारका होता है—[१] नैसर्गिक, [२] परोपदेशनिमित्तक। जहाँ दूसरेके उपदेशके बिना मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो यथार्थ तत्त्वोका श्रद्धान न होना ऐसा मिथ्याअभिप्राय बनता है वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। यह प्राय: सभी ससारी जीवोमे पाया जाता है। जो सज्ञी

पंचेन्द्रिय जीव है और उनमे भी जो कोई धर्मकी धुन वाले है, पर स्याद्वादका शासन न मिलनेसे उनका प्रयोग और प्रकार हुआ है। सो वह परोपदेश निमित्तक है। नैसर्गिक, मिथ्यादृष्टि एक इन्द्रियसे लेकर चौइन्द्रिय तक तो वह ही है, पर पचेन्द्रियमे भी अनेक नैसर्गिक मिथ्यादृष्टि हैं। दूसरेके उपदेशका निमित्त पाकर जो मिथ्यात्व जगता है वह चार प्रकारका समझिये। कोई क्रियावादी—जो क्रियाकाण्डमे ही मोक्षका मार्ग मानते है, कोई अक्रियावादी, कोई आज्ञानिक और कोई वैनयिक है। ये सब परोपदेश निमित्तक मिथ्यात्व कहलाते है। इनमे क्रियावादी तो ८४ है। ८४ तरहके नेतावोने यह सिद्धान्त निकाला है। इन क्रियावादियोमे मुख्य नायक प्रसिद्ध प्रणेतावोके नाम ये है—कौकल, काण्ठेविद्धि, कौशिक हरि, श्मश्रुमान, कपिल, रोमश, हारित, अश्वमुण्ड है। अक्रियावादियोके १८० प्रकार हैं, जिनका सिद्धान्त है कि कुछ भी न करना, मौजसे रहना, कोई क्रियाकाण्ड न रहना, यही मार्ग व मुक्ति कहलायगी, ऐसे अक्रियावादियोके प्रणेता मुख्यसन्यासियोके कुछ नाम इस प्रकार है– मरीचिकुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वक्ति, माठर आदि अज्ञानवादी ६७ प्रकारके होते है, जिनका मुख्य सिद्धान्त है कि ज्ञान करना, ज्ञानका बढना, यह ससार मे फंसनेका ही कारण होता है। इस कारण ज्ञानके लिए प्रयत्न कुछ नही करना, ऐसे ही रहना, यह ही मोक्षका कारण बनेगा। इसके प्रणेता मुख्य हैं—पैप्पलाद, वादरायण, वसु जैमिनीय आदि। वैनयिकवादी ३२ प्रकारके है, जिनका सिद्धान्त है कि प्रत्येक देवताओका विनय करनेसे मोक्ष होता है। इसके मुख्य प्रणेता वशिष्ट पाराशर जतुकर्ण आदि है। ये सब परोपदेशके निमित्तसे बने हुए मिथ्यादृष्टि ३६३ प्रकारके है।

(२१७) **प्राणिवधको धर्महेतु बताने वाले वचनोकी अप्रमाणता**—यहाँ एक शका होती है कि जैसे वेदमे प्रसिद्ध वादरायण बसु जैमिनी आदिक ऋषि जो कि वेदमे बतायी हुई क्रियावोके अनुसार ही अपना अनुष्ठान करते है वे कैसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि कहे जा सकते? उत्तर—चूंकि उनका प्राणियोके बध करनेमे धर्म माननेका अभिप्राय है और प्राणियोका बध नियमसे पापका ही कारण है, उसे धर्मका साधन बताते हैं तो वे कैसे अज्ञानवादियोमे गर्भित न होगे? शंकाकार कहता है कि यह तो आगममे लिखा है कि यज्ञ आदिकमे प्राणियोका बध करना पुण्यका कारण है, धर्मरूप है, मोक्षका मार्ग है। वेद आगम तो अपौरुषेय है। उसका कोई कर्ता हो तो आगममे दोष होता। यहाँ कर्तापनका दोष नही। किसी शास्त्रको कोई बनाये तो उसमे यह सम्भव है कि वह कर्ता रागद्वेषवश गलत भी लिख सकता है पर वेद तो किसी पुरुषने बनाया नही है, उसमे प्रमाणताका सदेह ही नही हो सकता और उस वेदागममे प्राणियोके बधको धर्म माना है। इसलिए उनके रचयिता प्रणेता सन्यासी अज्ञानवादीमे कैसे

गर्भित होगे ? उत्तर—वह प्राणिवध बताने वाला आगम आगम ही नही है। आगम तो वह होता है जो सर्वप्राणियोका हित करे। जो प्राणियोके हितमे प्रवृत्त नही है, हिंसाका विधान करने वाला है वह वचन आगम कैसे हो सकता है ? दूसरी बात यह है कि अपौरुषेय माने गये आगममे कही कुछ, कही कुछ, ऐसी परस्पर विरोधकी बातें भी आती हैं। जैसे कभी कहते है कि पुष्य प्रथम है, कही कहते कि पुनर्वसु प्रथम है, कही कहेगे कि तीन वर्षके रखे हुए धान्यके बीजसे यज्ञ करना चाहिए। तो उन वचनोमे स्थिरता नही आयी, फिर प्राणिवध को कैसे धर्मका हेतु कहा जा सकता है ? प्राणिवधका निषेध स्याद्वाद शासनमे भली-भांति किया गया है। सभी जगह हिंसासे विरक्त रहना ही श्रेयस्कर है।

**( २१८ ) स्याद्वाद शासनकी प्रामाणिकता व स्याद्वादशासनमे हेय उपादेय सभी सिद्धान्तोका प्रतिपादन**—यहाँ कोई शका करता है कि अरहत देवका जो शासन है, प्रवचन है वह प्रमाणभूत नही हो सकता, क्योकि वह पुरुषका किया हुआ है ? तो यह शंका करना ठीक नही है। कारण कि ये अरहतदेव अतिशय ज्ञानके धारी है। ज्ञानावरणका विनाश होनेपर जो आत्मा स्वच्छ सर्वज्ञ होता है उसके वचन प्रमाणभूत होते हैं। तो यह जीवादिक पदार्थोंके स्वरूपका निरूपण चल रहा है। नय प्रमाण आदिककी जानकारीके उपायोसे खूब कसकर निर्णीत किया गया है वह अतिशय ज्ञानधारीका कहा हुआ ही तो है, जिसमे कही भी किसी प्राणीका अहित नही बताया गया और वस्तुका जैसा स्वरूप है उसी प्रकार स्वरूपका वर्णन किया गया है। एक विशेष बात यह जाननी चाहिए कि जगतमे जितने भी सिद्धान्त फैले हैं वे सब अरहतदेवके द्वारा बताये गए है। जैसे पापका स्वरूप भी भगवानने बताया, पुण्यका स्वरूप भी भगवानने बताया, ऐसे ही वस्तुका स्वरूप किन दृष्टियोसे ठीक है, वह भी बताया और उनका एकान्त होनेपर एक सिद्धान्त बनता है यह भी बताया है। तो जितने भी सिद्धात आज प्रसिद्ध हैं वे सब अरहत भगवानके प्रवचनसे निकले हुए हैं। कोई यहाँ यह शका न रखे कि यह श्रद्धावश ही कहा जा रहा है। युक्तिसे विचारें तो सही न बैठेगा। यह शका यो न करना कि जब यह इसमे ज्ञानावरणादिक कर्मोंसे ग्रस्त है और यह कुछ ज्ञान नही कर पा रहा है तो जब वह आवरण सर्व दूर हो जाता है तो ज्ञानस्वभाव रखने वाले आत्माका ज्ञान निर्दोष पूर्ण प्रकट हो जाता है। ऐसे ज्ञानीकी दिव्यध्वनिसे निकले हुए सर्व वचन प्रमाणरूप हैं। कही यह न समझना कि और जगह भी रत्न पाये जाते है तो रत्नाकर भूमिको ही क्यो कहा जाता ? इसी प्रकार जब और जगह भी सिद्धान्त पाये जाते है तो सर्व सिद्धान्तोकी खान अरहतके प्रवचनको ही क्यो कहा जा रहा है ? यह शका यो न करना कि भले ही वे रत्न सर्वत्र भरे हुए हैं, मगर कही खानसे निकले ही तो हैं, ऐसे ही ये सिद्धान्त आज बहुत फैले हुए

हैं पर इनका निर्देश स्याद्वाद शासनमे किया गया है। तो कोई यह भी कह सकता है कि जब सभी दृष्टियोका कथन स्याद्वाद शासनसे निकला है, ये सब सिद्धान्त प्रमाणभूत हो जायेंगे तो यह बात यो युक्त नही है कि जैसे भूमिसे रत्न निकलते हैं और भूमिसे ही कांच आदिक निकलते है मगर कोई निःसार है, कोई सारभूत है तो ऐसे ही पाप पुण्य सबके व्याख्यान होते है मगर कोई सारभूत है, कोई साररहित है। जो अहिंसासे मेल खाते है वे सारभूत है और जो हिंसासे मेल कराते है वे साररहित है। तो परोपदेश निमित्तक मिथ्यादर्शन याने अनेक सिद्धांत जो प्रचलित है वे बधके हेतुभूत है। इस तरह मिथ्यादर्शनको दो रूपोमे जानना, कोई स्वय होता है कोई दूसरेके उपदेशके कारणसे होता है।

(२१६) **प्राणिबधकी सर्वत्र हेयता**—यहाँ शकाकार कहता है कि यज्ञ कर्मके अलावा अन्य अवसरोमे प्राणियोका बध करना पापके लिए होता है। यज्ञके लिए प्राणिबध पापके लिए नही होता। इसके उत्तरमे कहते है कि देखिये—चाहे यज्ञका भाव रखकर प्राणिबध हो, चाहे अन्य समय हो, प्राणीको कष्ट होता ही है और जहाँ कष्ट है वहाँ हिंसा है और जब दुःख हो रहा है उस प्राणीको और यह मारने वाला उसके कष्टको देखते हुए भी खुश हो रहा है तो यह पाप करता है और फल भी हिंसाका ही पाता है। चाहे किसी पशुका बध यज्ञकी वेदीपर हो या उस वेदीसे दूरपर हो, दोनोमें ही दुःख है और दुःखका हेतु होनेसे कोई यज्ञ-विधि भी दुःख फल देने वाली है और बाहर की हुई हिंसा भी दुःख देने वाली है। शकाकार कहता है कि मनुस्मृतिमे तो यह बतलाया है कि यज्ञके लिए ही पशु रचे गए है, इस कारण जब पशुकी रचना यज्ञके लिए है तो पशुबध करने वालोको पाप न लगे। इसका उत्तर कहते हैं कि यह बात कहना बिल्कुल ही अयुक्त है। इसके उत्तरमे कहते है कि यदि ऐसी हठ हो कि पशु यज्ञके लिए ही करते रचे गए है तब फिर पशुवोका दूसरा उपयोग क्यो किया जा रहा है? पशुवोको घरमे रखना, खरीदना, बेचना, उनसे काम लेना आदिक जो अन्य प्रकार का उपयोग किया जाता है फिर उसमे दोष मानना चाहिए। सो विवेकी जन यह विचार करें कि पशुवोको घरमे रखने या व्यवहार करनेमे पाप है या यज्ञके लिए उन्हे प्राणघात करने मे पाप है?

(२२०) **मांसभक्षणकी लोलुपतामे मंत्र यज्ञविधानका जाल**—शंकाकार कहता है कि मत्रकी प्रधानता होनेसे हिंसाका दोष न लगेगा। जैसे मंत्रपूर्वक विषभक्षण करनेसे मरण नही होता, इसी प्रकार मत्रके सस्कारपूर्वक पशुबध किया जानेसे पाप नही होता। इस शंका के उत्तरमे कहते है कि यह अभिप्राय तो बहुत खोटे परिणामको सिद्ध करता है, इसमे तो प्रत्यक्ष विरोध है। जैसे मत्रसे सस्कार किया गया विष गौरवहीन प्रत्यक्षसे ही देखा जाता है अथवा रस्सी सांकल आदिकके बंधन बिना किसी जीव या मनुष्यादिकको स्तम्भन कर दिया

जाता है, वहाँ स्थित कर देना यह प्रत्यक्षसे देखा जाता है, तो केवल मन्त्रबलसे यह सब नजर आता है। इसी प्रकार यदि केवल मन्त्रोसे यज्ञकर्ममे पशुवोको डाला जाने वाला देखें तो मन्त्र बलकी श्रद्धा करना चाहिए अर्थात् जैसे मंत्रबलसे उस वस्तुको छुवे बिना ही स्तम्भन आदिक बन जाते है ऐसे केवल मन्त्रसे ही वे पशु यज्ञमे पहुच जायें तब तो कुछ इसपर विचार करने लगें, पशुको जबरदस्ती ही ढकेल कर जलती हुई अग्निमे लोग पटकते है तो मन्त्रबल कहाँ रहा? मन्त्रबल तो तब कहलाता कि यहाँ मन्त्र पढ रहे और वहाँ पशु अपने आप अग्निमे गिर रहा हो। नही तो केवल तुम्हारा कपट है। माम खानेके लोलुपी व्यवहारमे भी अच्छे माने जायें और मांस भी खानेको मिले, केवल इस लालसा और कपटसे यह पशुबलिका ढोंग रचा गया है। जैसे शस्त्रादिकसे प्राणियोको मारने वाले खोटे भाव होनेसे पापसे बधे जाते हैं, ऐसे ही मन्त्रोके द्वारा भी पशुओको मारने वाले लोग खोटे कर्मोंका बंध करते, हिंसाका दोष टाल नही सकते। पुण्य और पापके बधके जो कारण हो वे पुण्य पाप कर्मका बध करते ही हैं। शुभभाव होनेसे पुण्य कर्मका बध होता है और अशुभ भाव होनेसे पापकर्मका बध होता है। सो इस बातको कोई मना नही कर सकता। यदि पुण्य पाप बधके नियत कारणोमे फेर कोई करदे तब तो बध और मोक्षकी प्रक्रिया ही खतम हो जायगी।

(२२१) एकान्तदर्शनमे यज्ञकर्तृत्वकी अनुपपत्ति—अच्छा ये यज्ञमे पशुवध करनेको पुण्य मानने वाले यह बतायें कि अग्नि हवन आदिक क्रियावोका करने वाला कौन है अथवा कोई भौतिक वस्तु है या पुरुष है? यदि भौतिक पिण्ड देह अग्नि हवनका कर्ता है तो ये देहादिक तो अचेतन है घट आदिककी तरह सो इस शरीरमे, इस भौतिक पिण्डमे पुण्य पापरूप क्रियाका अनुभव नही होता इसलिए यह तो कर्ता हो ही नही सकता। अब रहा पुरुष याने जीव, सो वह अनित्य है या क्षणिक है यह बताओ? याने अग्नि हवन आदिक क्रियावोका करने वाला यदि जीव है तो वह नित्य है या अनित्य? यदि कहा जाय कि वह अनित्य है, क्षणिक है तो क्षण भरको आत्मा हुआ, फिर न रहा, मन्त्र कौन बोलेगा? उसके अर्थका कौन स्मरण करेगा? उसका प्रयोग कौन करेगा? वह तो एक क्षणको ही हुआ और नष्ट हो गया, तो ये सारे कार्य हो ही नही सकते। मनन बन सकेगी, न क्रिया हो सकेगी। इस यज्ञकर्ता जीवको क्षणिक माननेपर कर्तापन नही बनता। यदि कहा जाय कि उस यज्ञ हवन आदिकका कर्ता पुरुष नित्य है तो नित्यके तो मायने यह हैं कि हमेशा एकसा ही रहे। उसमे कुछ भी बदल न हो। तो पहले और बादमे समयमे जब वह एक समान ही रहा तो उसमे कोई क्रिया हो ही नही सकती। तो कर्तृत्व तो दूरसे ही हट गया। तो जब कर्तापन बन नही सकता तो क्रियाका फल कैसे प्राप्त होगा? और फिर जो यह कहा है पुरुषके बारे

मे कि दुनियामे जो कुछ दिख रहा है या सत् है, हुआ था, होगा, वह सब यह पुरुष ही है। तो जब एक पुरुषका एकान्त मान लिया गया तो फिर वहाँ यह बध्य है, यह मारने वाला है, यह कोई विवेक ही न बन सकेगा कि कौन क्या कर रहा है? कुछ भी नही, क्रिया भी न बन सकेगी।

(२२२) **निज निज स्वरूपास्तित्वमय जीवोंका अपनी अपनी योग्यतासे विविध विपरिणमन**—पुरुषको अपरिणामी चेतनाशक्ति मात्र मानती है तो फिर दिखने वाला यह नानारूप जो जगत है यह फिर न ठहरेगा, इस कारण पुरुषको सर्वथा एक मानना, नित्य मानना यह वस्तुस्वरूपके विरुद्ध है। अथवा जब एक ही रहा और चेतना शक्तिमात्र रहा तो न कुछ प्रमाण कहलायगा और न कुछ प्रमाणाभास कहलायगा, क्योकि प्रमाण व प्रमाणाभासका भेद बाह्यपदार्थकी प्राप्ति अप्राप्तिपर निर्भर है सो मानते नही। तो ऐसे निर्विकल्प जीव तत्त्वकी, पुरुषतत्त्वकी कल्पना करने पर जब वह निर्विकल्प है ऐसा विकल्प होता तो निर्विकल्पक.त्त कहाँ रहा? यदि निर्विकल्पका विकल्प नही तो निर्विकल्प कहाँ रहा, ऐसे ही सकरदोष होना, वचनविरोध होना ये अनेक दोष वहाँ आते हैं। इस कारण जो विषयतृष्णासे व्याकुल पुरुष है उनके द्वारा माने गए हिंसादिपोषक वचन प्रमाणभूत नही हैं। इस तरह परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शनके भेद अनेको, हजारो, लाखो प्रकारके समझना चाहिए। आत्माकी दृष्टिसे तो मिथ्यादर्शनके विकल्प अनगिनते है। अनुभागकी दृष्टिसे याने फलशक्ति की दृष्टिसे वे अनन्त है। तो जो दूसरा नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है सो भी अनेक प्रकारका है। स्वामीके भेदसे एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय, सज्ञी तिर्यंच म्लेच्छ पुरुष आदिकके भेदसे उनके अभिप्रायोके फर्कसे अनेक प्रकारके है।

(२२३) **मिथ्यात्वकी पञ्चविधता**—यह प्रकरण बंधके हेतुका चल रहा है। कर्मबन्ध के कारण क्या-क्या भाव हैं उनमे सूत्रोक्त प्रथम मिथ्यादर्शनका विवरण चल रहा है। यह मिथ्यादर्शन ५ प्रकारसे भी देखा जाता है—(१) एकान्त, (२) विपरीत, (३) सशय, (४) वैनयिक और (५) अज्ञान। एकान्त मिथ्यात्व किसे कहते है? किसी भी धर्म या धर्मीका एकान्त विकल्प करना, यह ऐसा ही है और उसके प्रतिपक्षभूत अन्य धर्मोंको मना करना यह एकान्तमिथ्यात्व है। जैसे यह सारा जगत एक पुरुष ही है ऐसा एकान्त करना और सर्व सतोका लोप करना यह एकान्तमिथ्यात्व है अथवा जीवको सर्वथा नित्य ही मानना या सर्वथा अनित्य ही मानना आदिक अनेक एकान्त मिथ्यादर्शन होते है। विपरीत मिथ्यात्व क्या है? जैसे कोई साधु परिग्रह रखता हो और उसे निर्ग्रन्थ बताना, प्रभु केवलज्ञानी अरहंत को कवलाहार करने वाला बताना, स्त्रीकी मुक्ति बताना आदिक जो विपरीत कथन हैं, अभि-

प्राय है वह विपरीत मिथ्यादर्शन है। सशयमिथ्यात्व—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र मोक्षमार्ग है या नही, ऐसी बुद्धिकी द्विविधा करना, ऐसा ही अन्य तत्त्वके बारेमे यह ऐसा है या नही, इस प्रकारकी द्विविधा बुद्धिमे रखना सशयमिथ्यात्व है। वैनयिकमिथ्यात्व—सभी देवताओका, सभी धर्मोंका एक समान विनय करना, उन सबको सही समझना यह वैनयिक मिथ्यात्व है। अज्ञानमिथ्यात्व—यह हितरूप है, यह अहितरूप है इस प्रकारकी परीक्षा करने की क्षमता ही न हो, अज्ञान बसा हो वह अज्ञानमिथ्यात्व कहलाता है। इस प्रकार बधके कारणोमे मिथ्यादर्शनके सम्बधमे कुछ वर्णन किया।

( २२४ ) बन्धहेतुभूत अविरति कषाय योग व प्रमादोका निर्देश—अब अविरति आदिकके सम्बन्धमे कुछ वर्णन करते है। अविरति १२ प्रकारकी होती है—६ विषय अविरति और ६ काय अविरति। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण तथा मन—इन ६ के विषयभूत पदार्थोंमे आसक्त रहना, इनसे विरक्त न हो सकना सो अविरति कहलाता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस काय, इनकी हिंसासे विरक्त न होना यह हिंसा अविरति कहलाती है। इस प्रकार अविरति भावना १२ प्रकारकी होती है। यह कर्मबधके हेतुभूत है। कषाय २५ होती हैं, उनमे १६ तो कषाय हैं और ९ ईसत कषाय हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें होती है और ये प्रत्येक मिथ्यात्वका पोषण करने वाली, सयमासयमको न होने देने वाली, सयमका घात करने वाली और आत्माके यथार्थस्वरूपको प्रकट न होने देने वाली ऐसी चार-चार प्रकारकी कषायें होती है। यो कषायके १६ भेद हैं—नोकषाय—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपु सकवेद, ये ९ भाव होते है, योग १५ होते हैं–४ मनोयोग–(१) सत्यमनोयोग, (२) असत्यमनोयोग, (३) उभयमनोयोग, (४) अनुभय मनोयोग, ऐसे ४ प्रकारके मनका आलम्बन कर जो परिस्पद होता है, आत्मचचलता होती है वह मनोयोग है। चार वचनयोग—(१) सत्यवचनयोग, (२) असत्यवचनयोग, (३) उभयवचनयोग, (४) अनुभयवचनयोग और ७ काययोग—(१) औदारिक काययोग, (२) औदारिक मिश्र काययोग, ये मनुष्य और तिर्यंचोके शरीर परिस्पदविषयक योग हैं, (३) वैक्रियक काययोग, (४) वैक्रियक मिश्रकाययोग, ये देव और नारकियोके शरीरविषयक योग है। (५) एक कार्माण काययोग है। विग्रहगतिके जीवके कर्मनिमित्तक योग होता है, (६) एक होता है आहारक काययोग, (७) एक होता है आहारक मिश्र काययोग, जो प्रमत्तविरत मुनिके सम्भव है। ये सब योग कर्मबधके कारणभूत होते हैं। प्रमाद अनेक प्रकारका होता है। जैसे आठ प्रकारकी शुद्धियोमे उत्साह न होना, अनादर होना प्रमाद है—भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि अर्थात् देख-भालकर चलना भैक्ष्यशुद्धि, शयनासनशुद्धि,

प्रतिष्ठापनशुद्धि शुद्धि, याने किसी भी वस्तुको हिंसारहित जगहपर देखभाल कर धरना और वाक्यशुद्धि, इन आठ प्रकारकी शुद्धियोमे प्रमाद करना और क्षमा, मार्दव आर्जव, शौच, सत्य सयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य—इन दसलक्षण धर्मोमे उत्साह न होना, अनादर होना, यह प्रमाद कहलाता है। प्रमादके अनेक भेद होते है, फिर भी इनका सक्षेपरूप किया जाय तो प्रमाद १५ प्रकारके होते है। ५ इन्द्रियके विषयोकी रुचि होना, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोके वश रहना, स्त्रीकथा, राजकथा, देशकथा और भोजनकथा इन चार प्रकारकी विकथाओमे उलझे रहना, निद्रा एव स्नेह ऐसे प्रमादके १५ भेद होते है। इन १५ भेदोमे एकके साथ एक रखकर बदलकर इनके ८० भेद हो जाते है। तो ये प्रमादके प्रकार कर्मबन्धके हेतुभूत है।

(२२५) **गुणस्थानोके अनुसार बन्धहेतुवोका घटन**—जहाँ प्रमाद नही है और कषाय है वह कषाय इस सूत्रमे विवक्षित है। कषाय तो मिथ्यादर्शन आदिक सबके साथ है पर ऐसी भी कषाय होती है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद ये तीनो नही है और कषाय चल रही है, तो अभी जो यह कहा गया है इसको गुणस्थानके अनुसार लगाया जाता है, इस विधिमे सूत्रोक्त क्रम उचित विदित होता है। मिथ्यादृष्टिके ये पाँचो ही बधहेतु पाये जाते हैं। दूसरे गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान तक मिथ्यात्वके बिना शेष चार बधहेतु है, ५ वें गुणस्थानमे अविरति, प्रमाद कषाय और योग पाये जाते है, छठे गुणस्थानमे प्रमाद, कषाय और योग है, ७ वें गुणस्थानसे लेकर १० वें तक कषाय और योग है, और ११ वें, १२ वें, १३ वें गुणस्थानमे केवल योग ही है। १४ वें गुणस्थानमे बध होता नही है।

(२२६) **प्रमाद और अविरतिमे भेद होनेसे सूत्रमे दोनोके ग्रहणकी सार्थकता**—यहाँ एक शकाकार पूछता है कि अविरत और प्रमादमे तो कोई भेद है ही नही, फिर अलग-अलग क्यो कहे गए हैं ? उत्तर—प्रमाद और अविरति इनमे भेद है। अविरति भाव तो किसी भी व्रतके न होनेका है और प्रमाद अविरति अवस्थामे भी हो सकता है और व्रत अवस्थामे भी हो सकता है। जो विरत हैं, महाव्रती हैं उनके भी १५ प्रमाद सम्भव होते हैं। इस कारण अविरतिमे और प्रमादमे अन्तर है। अविरतभाव तो प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक होता है। पचम गुणस्थानमे कुछ विरत भाव है, कुछ अविरत भाव है, जिसे सयमासयम कहते हैं। और विरत याने महाव्रत सकलव्रत छठे गुणस्थानसे लेकर १२ वें गुणस्थान तक है और प्रमाद अवस्था पहले गुणस्थानसे लेकर छठे गुणस्थान तक होती है। तो छठे गुणस्थानमे सकलव्रती मुनि हो गया है फिर भी उसके प्रमाद सम्भव है। प्रमाद १५ बताये गए हैं, ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रियविषय, १ निद्रा और १ स्नेह। इस प्रकार प्रमाद और

अविरतिमे भेद होनेसे दोनोका इस सूत्रमे ग्रहण किया गया है ।

**(२२७) कषाय और अविरतिमें भेद होनेसे सूत्रमें दोनोके ग्रहणकी सार्थकता**—अब शकाकार कहता है कि कषाय और अविरतिमे तो कोई भेद नजर नही आता, क्योकि कषाय मे भी हिंसा आदिक परिणाम रहते हैं और अविरतिमे भी हिंसा आदिक परिणाम रहते है। तो जब इन दोनोमे कुछ अन्तर नही है तब फिर दोनोका ग्रहण क्यो किया ? एकका ग्रहण करते ? उत्तर—कषाय और अविरतिमे भी किन्ही दृष्टियोसे भेद है। प्रथम तो कार्यकारण भेद यहा हुआ है। कषायें कारणभूत है और हिंसा आदिक अविरति कार्यभूत हैं। जैसे कि विदित होता है कि कषायोके करनेके कारण अविरति भाव बनता है तो कषाय कारणरूप है और हिंसा आदिक अविरति ५ पाप कार्यरूप है, इस कारण इनमे अन्तर है। फिर दूसरी बात यह है कि कषाय तो पहले गुणस्थानसे लेकर १० वें गुणस्थान तक होती है। कही अधिक, कही कम, कही और कम, किन्तु अविरतिभाव प्रथम गुणस्थानसे लेकर चौथे गुण-स्थान तक होता है। अविरतिभावमे विशेष अशुद्धता है ? कषायभावमे विशेष अशुद्धता भी है, कम अशुद्धता भी है। इसके कितने ही दर्जे होते हैं। इस कारण कषाय और अविरतिमे अन्तर है और इसी वजहसे सूत्रमे दोनोका ग्रहण किया गया है।

**(२२८) अनादिकर्मबन्धनबद्ध जीवके कर्मबन्धकी उपपत्ति**—अब यहाँ जिज्ञासा होती है कि बधके हेतुवोको बहुत विस्तारपूर्वक कहा गया है, पर यहाँ एक सदेह यह होता है कि आत्मा तो अमूर्त है, उसके हाथ पैर आदिक होते ही नही है। तो वे कर्मको ग्रहण करनेकी शक्ति कैसे रखते हैं ? जैसे कोई पुरुष हाथ पैर वाला है तो कर्मोको ग्रहण करनेकी शक्ति रखता है, ग्रहण भी करता है पदार्थोंको, परतु आत्माके तो अग ही नही है फिर किसी वस्तुका ग्रहण करना ही नही बन सकता। फिर बध कैसे हो जाता ? समाधान—देखिये कर्म व आत्मामे यह पहले था, यह बादमे आया—यह अवधारण नही किया जा सकता, फिर इसमे ग्रहणका मतलब हाथ पैरसे ग्रहण करनेका सोचना ही नही है। ऐसा कोई नही कह सकता कि पहले आत्मा ही आत्मा था पीछे कर्म आया या पहले कर्म ही कर्म था पीछे आत्मा आया। तो जब आत्मा और कर्मके बधके विषयमे पहली बात कुछ नही है, अनादिसे ही बधसतति है। तो इससे यह सिद्ध होता है कि आत्माको ससार अवस्थामे एकान्ततया अमूर्त कहना गलत है। आत्मा सर्वथा अमूर्त नही है, तो ससारी आत्मा कर्मबद्ध पिण्डमे अवस्थित होनेसे कथंचित् मूर्त बन गया तो कर्मशरीरसे सम्बन्ध रखने वाला यह जीव अब कर्मपुद्गलको ग्रहण कर लेता है। जैसे कि तपा हुआ लोहेका गोला चारो ओरसे जलको ग्रहण कर लेता है, यही बात सूत्रमे कहते है।

## सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥८-२॥

(२२९) **सूत्रमें कथित कषाय शब्दसे बन्धविशेष व विपाकविशेषकी सूचना**—सकषायपना होनेसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोको ग्रहण करता है। यही बध कहलाता है। यहाँ शकाकार कहता है कि कषायका तो प्रकरण ही चल रहा है। प्रथमसूत्रमे भी कषाय शब्द आया था, फिर यहाँ कषायका ग्रहण करना पुनरुक्त हो गया अर्थात् कषाय शब्द बोलनेकी आवश्यकता इस सूत्रमे नही है। यह शका ठीक नही है क्योंकि यहाँ कषाय शब्द देनेसे कुछ विशेष विपाकका आशय सिद्ध होता है जठराग्निकी तरह। जैसे जठराग्निकी योग्यता के अनुरूप आहारका पचना होता है। जिसमे जैसी जठराग्नि है, याने किसीकी पाचन शक्ति उदरकी उतनी तीव्र है कि उसमे अनेक कठोर आहार भी पक जाते है, किसीकी मद है तो वैसा पाक होता है, ऐसे ही तीव्र, मद और मध्यम कषायके अनुसार कर्मकी स्थिति और अनुभाग पडता है यह एक तथ्य बतानेके लिए, यद्यपि बधके कारणोमे कषायोका निर्देश किया जा चुका था तो भी कषायका यहाँ पुनः ग्रहण किया गया है, जिससे यह सिद्ध होता कि जिसके जैसी कषाय है उसके वैसी ही पुद्गल कर्मकी स्थिति और अनुभाग पडता है।

( २३० ) **प्राणधारी जीवके बन्धकी उपपत्ति**—इस सूत्रमे प्रथम पद है जीवः। इस जीव शब्दसे यह अर्थ ध्वनित होता है कि जो आयु सहित हो सो जीव है अर्थात् आयु सहित जीव ही कर्मबध करता है। आयुसे रहित सिद्ध भगवान है, उनके कर्मबंध नही होता। यद्यपि १४ वें गुणस्थानमे भी आयु है पर उस प्रभुको सिद्धकी तरह ही समझना चाहिए। तो जो संसारी जीव है, दस प्राणकर जीता है, आयु करके सहित है वह जीव कर्मबंध करता है, यह अर्थ होता है जीव शब्द कहने से। जीव शब्दका अर्थ भी धातुकी दृष्टिसे प्राणधारी है। जीव प्राणधारणे ऐसा धातु पाठमे बताया है। अर्थात् जो प्राणोको धारण करे सो जीव है। प्राणोमे आयु भी प्राण है, अन्य भी प्राण है। जिसके आयु है उसके साथमे सम्भव सब प्राण होते ही है। केवल एक १४ वाँ गुणस्थान ऐसा है कि जिसमे केवल आयु है, अन्य प्राण नही है, पर वह आगमसिद्ध बात है। इसलिए समझ लेना चाहिए कि १४ वें गुणस्थानमे बध नही। पर अन्य सभी संसारी जीवोके बध चलता है।

# मोक्षशास्त्र प्रवचन २१ वां भाग

( २३१ ) **सूत्रमे कर्मणः योग्यान् पदोका समास न कर अलग कहनेका सैद्धान्तिक रहस्य**—इस सूत्रमे तीसरा और चौथा पद है कर्मणः योग्यान् अर्थात् कर्मके योग्य। जो कार्माणवर्गणाये कर्मरूप हो सकती हैं उनको बांधता है यह जीव—यह अर्थ इसमे विवक्षित है। यहाँ कर्मणः योग्यान् ऐसे दो पद अलग-अलग रखे गए हैं, उनका समास नही किया गया। इनका समास भी हो सकता था—कर्मयोग्यान् और अर्थ भी वही निकलता है। कर्म के योग्य और समास करनेसे सूत्रमे लाघव भी होता फिर भी समास नही किया गया और पृथक् विभक्तिका उच्चारण किया गया। इसका कारण यह है कि कर्मणः शब्दसे अन्य वाक्य का भी ज्ञान होता है। कैसे ? कर्मणः शब्दसे पहलेके पदोका सम्बन्ध जोडा जाय तो एक वाक्य निकलता है, और कर्मके उत्तरमे कहे गए शब्दोसे सम्बन्ध जोडा जाय तो दूसरा वाक्य निकलता है। प्रथम वाक्य क्या है कि कर्मके कारण जीव सकषाय होता है। यहाँ कर्मणः शब्द पंचमी विभक्तिमे माना जायगा जिससे हेतु अर्थ साबित होता है। कर्मके कारणसे जीव सकषाय होता है। कर्मरहित जीवके कषायका लेप नही होता, इस कारण जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध है आदिक कई बातें प्रथम वाक्यसे सिद्ध होती हैं। द्वितीय वाक्यसे बनता है कि कर्मके योग्य पुद्गलको ग्रहण करता है। यहाँ कर्मणः शब्द षष्ठी विभक्तिमे प्रयुक्त होता है। दोनो वाक्योको सम्मिलित कर इस सूत्रका विस्तारमे यह अर्थ होगा कि कर्मके कारण सकषायपना होनेसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोको ग्रहण करता है। वह बध कहलाता है।

(२३२) **सूत्रोक्त पुद्गल शब्दसे कर्मोंकी पौद्गलिकताकी सिद्धि**—इस सूत्रमे ५ वाँ पद है पुद्गलान्। कर्म पुद्गलात्मक होता है, यह विशेषता बतानेके लिए पुद्गल शब्दका ग्रहण किया गया है। कार्माण वर्गणायें और जो कर्मरूप परिणाम गई वे सब पौद्गलिक है। शका—कर्म पौद्गलिक है यह बात असिद्ध मालूम पडती है क्योकि कर्म तो आत्माका गुण है और आत्मा अमूर्त है तो कर्म भी अमूर्त जीव जैसे ही होना चाहिए। वे पौद्गलिक कैसे कहलायेंगे ? उत्तर—कर्म पौद्गलिक हैं, इसका कारण यह है कि कर्म यदि अमूर्त होता तो उसके द्वारा आत्माका अनुग्रह और घात सम्भव न था। दो पदार्थ अमूर्त ही अमूर्त हो तो एकके द्वारा दूसरेमे बाधा आजाय या दूसरेका विघात हो जाय—यह बात नही बनती। जैसे कि आकाश अमूर्त है और दिशा आदिक भी अमूर्त हैं। तो अमूर्त आकाश दिशा आदिकका न अनुग्रह करता है, न विघात करता है। तो इसी प्रकार कर्म ये अमूर्त होते तो अमूर्त आत्माका न अनुग्रहका कारण बन सकता था, न विघातका कारण बन सकता था। इस अनुमान प्रमाणसे यह सिद्ध है कि कर्मको अमूर्त आत्माके विरुद्ध होना चाहिये अर्थात् मूर्त

होना चाहिए और जो मूर्त है सो पौद्गलिक है ।

**(२३३) सूत्रमे 'आदत्ते' पदके ग्रहणसे एकक्षेत्रावगाहमें बन्धानुभवनकी प्रसिद्धि**—इस सूत्रमे छठवां पद है आदत्ते अर्थात् ग्रहण करता है । जिस बंधका इस अध्यायमे वर्णन चलेगा उस बधको यह जीव अनुभवता है, क्योकि कषाय सहित है । जो कषायसहित जीव है वह बधको अनुभवता है, ग्रहण करता है । आदत्तका ग्रहण करना तो स्पष्ट अर्थ है ही मगर नवीन कर्मबध भी करता है, और वर्तमानमे बधनका अनुभव भी करता है । ग्रहण करता है, बधका अनुभव करता है इसका तात्पर्य यह है कि मिथ्यादर्शन आदिकके अभिप्रायसे स्निग्ध हुए, गीले हुए, कषायिक हुए आत्मामे चारो ओरसे मन, वचन, कायके कर्मका सूक्ष्म अनन्त प्रदेशी एक क्षेत्रमे रहने वाले कर्मयोग्य पुद्गलका बध होता है । जिन कार्माणवर्गणावोका बध होता है वे कार्माणवर्गणायें इस आत्माके एक क्षेत्रमे पडी हुई है, सो जैसे किसी बर्तनमे अनेक प्रकारके रस वाले बीज फल फूल आदिक रख दिए जायें तो उनका मदिरारूपसे परिणमन हो जाता है इसी प्रकार आत्मामे ही स्थित पुद्गलका योग और कषायसे कर्मरूप परिणमन हो जाता है । उस बनी हुई मदिराको कही बाहरसे नही आना पडा किन्तु उस ही बर्तनमे रहने वाले पदार्थ ही मदिरारूप परिणम गए । ऐसे ही कर्म बननेके लिए उन कर्म पुद्गलोको बाहरसे नही आना पडा किन्तु विस्रसोपचयके रूपमे इस जीवके प्रदेशोमे ही एक क्षेत्रावगाही जो कार्माणवर्गणास्कध रह रहा था वह ही योग कषायके कारण कर्मरूप परिणम गया है ।

**(२३४) सूत्रोक्त सः पदसे बन्धस्वरूपका अवधारण**—कार्माणवर्गणावोका कर्मरूप परिणम जाना इसही का नाम बध है । बध अन्य कुछ नही है । इसकी सूचना देने वाले इस सूत्रमे स शब्द कहा गया है मायने वही बंध । कुछ लोग गुणगुणीके बधको बंध कहते है अर्थात् अदृष्ट नामका गुण है । उसका आत्मा नामके गुणीमे समवाय सम्बन्ध हो जाता है । इस प्रकारसे उसे बधन माना । आत्माके अदृष्टका आत्मामे समवाय हो जाना बध है, इस प्रकारकी प्ररूपणा करने वाले दार्शनिकोके यहाँ गुणगुणी बध माने जानेपर मुक्तिका अभाव हो जायगा । कैसे कि अदृष्टको तो मान लिया गुण और आत्मा है अदृष्टवान गुणी, तो गुण और गुणी कभी अलग नही होते । गुणी अपने गुण स्वभावको कभी छोडता नहीं है । यदि गुणी अपने स्वभावको छोड बैठे तो जब स्वभाव ही कुछ न रहा तो गुण ही क्या रहा, पदार्थ ही क्या रहा ? तो जब आत्मा अदृष्टको छोड ही न सकेगा तो मुक्ति कहांसे होगी ? जब तक अदृष्टकी प्रेरणा है तब तक जीव संसारी है, इस कारण गुणगुणीके बधको बध नही समझना किन्तु योग और कषायके कारण जो आत्माके एकक्षेत्रावगाहमे रहने वाली कार्माण वर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती है वह है बंध ।

(२३५) बंध शब्दका करणसाधन, कर्मसाधन, कर्तृसाधन व भावसाधनमे अर्थ—यह बंध शब्द करणादिसाधनरूप है। जब करण साधनकी विवक्षा है तो निरुक्ति होगी बध्यते अनेन आत्मा इति बन्धः अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा बँध जाय उसे बंध कहते है। इस विवक्षामे मिथ्यादर्शन आदिकको बंध कहा जायगा। मिथ्यादर्शन आदिक जो सूत्रमे कहे गए है वे बंधके कारण बताये है, फिर भी जो मिथ्यादर्शन अविरति आदिक भाव बन रहा है यह पूर्वमे बाँधे हुए कर्मके उदयके निमित्तसे बन रहा है और जिस समय मिथ्यात्वादिक भाव बन रहा है उस समय आत्मा परतंत्र है। सो स्वयं बंधनरूप है अथवा कार्यरूपसे आत्माको परतंत्र करनेके कारण यह बंध कहा जाता है। मिथ्यादर्शनभाव होनेसे वर्तमानमें बन्धन और नवीन कर्मका बंधन होनेसे आगे भी बंधन रहेगा। जब बंध शब्दको कर्मसाधन की विवक्षासे कहा जायगा तब निरुक्ति होगी—बध्यते इति बन्धः अर्थात् मिथ्यादर्शन आदिक भावोंसे तो इस समय बँध ही रहा है और नवीन द्रव्यकर्म भी बंध रहा है, इस प्रकार मिथ्यादर्शन आदिक बंधके कारण भी है और बंधरूप भी हैं। बंध शब्दका जब कर्तृसाधनकी अपेक्षासे अर्थ किया जाय तो निरुक्ति होगी—बध्नाति इति बंध, जो बाँधे, आत्मशक्तिका प्रतिबंध करे वह बंध कहलाता है। आत्मशक्ति क्या है ? ज्ञान, दर्शन, अव्याबाध, अनाम, अगोत्र, अन्तराय, चारित्र, आनन्द इन सब आत्मशक्तियोका जो प्रतिबंध करता है, रोकता है, प्रकट नही होने देता वह बंध कहलाता है। वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे कर्म यद्यपि आत्माके किसी भी परिणमनको नही करता, चाहे वह शक्तिके रोकने रूप हो तथापि उन शक्तियोके रुकनेमे प्रकट न होनेमे निमित्त तो कर्मविपाक है, सो निमित्त दृष्टिकी प्रधानतासे यहाँ कर्तृसाधन बन जाता है और तब जैसे कि उपचार भाषामे कहते हैं यह कहा जायगा कि ज्ञानदर्शन आदिक आत्मशक्तियोका जो प्रतिबंध करे सो बंध कहलाता है। तो मिथ्यादर्शन आदिक भाव इन सब शक्तियोका प्रतिबंध करता ही है इसलिए वह बंध है और नवीन बंधका कारणरूप भी है। जिस समय बंध शब्दका अर्थ भावसाधनमे किया जाय उस समय निरुक्ति होगी बंधनं बंध, बंधनको बंध कहते हैं, बंधन अर्थात् परतंत्रता। भावबंधनमे जैसे ज्ञान ही आत्मा है, जो जानना है सो आत्मा है, यहाँ अभेद विवक्षासे एक समान वृत्ति बन जाती है, इसी प्रकार भावसाधनकी विवक्षामे बंधनको बंध कहते हैं।

(२३६) संसारी जीवोमे कर्मका उपचय और अपचय—इन संसारी जीवोके हो क्या रहा है कि पहले बंधे हुए कर्म तो उदयमे आकर खिरते जाते है और नवीन कर्म बँधते जाते हैं। जैसे कि भंडारसे पुराने धान निकाल लिए जाते है और नये धान भर दिए जाते है, ऐसे ही अनादि कार्माण शरीररूप भंडारमे कर्मोंका आना जाना होता रहता है। वास्तवमे

कर्म कर्मशरीरके साथ बनता है, उन्हीके साथ रहता है इसलिए भडार कार्माण शरीर ही कहा गया है। तो इस कार्माण शरीरमे जो पहले आये हुए कर्म है वे तो फल देकर झड जाते है और नवीन कर्म आ जाते है, इस प्रकार इस कार्माण शरीरमे कर्मका हटना और आना अर्थात् उपचय और अपचय ये बराबर चलते रहते है ? यहाँ जिज्ञासा होती है कि क्या ये बध एक रूप है अथवा इनके अनेक प्रकार है ? इस जिज्ञासाके समाधानके लिए सूत्र कहते है।

## प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥८-३॥

(२३७) चार प्रकारके बन्धका निर्देश—प्रकृतिबध, स्थितिबध, अनुभवबध और प्रदेशबन्ध ये चार प्रकारके बध होते है। कर्मोंमे प्रकृतिका पडना कि यह कर्मवर्गणा समूह ज्ञानका आवरण करेगा, यह दर्शनका आवरण करेगा आदिक रूपसे बधे हुए कर्मोंमे प्रकृतिका नियत हो जाना प्रकृतिबध कहलाता है, अर्थात् उन कार्माणवर्गणाओमे प्रकृतिपनेका परिणमन होना प्रकृतिबध है। स्थितिबध—बद्ध कार्माणवर्गणावोमे स्थितिका पडना कि यह कर्मसमूह इतने काल तक आत्माके साथ रहेगा इस प्रकारकी स्थितिके बन्धनेका नाम है स्थितिबन्ध। अनुभवबन्ध अर्थात् अनुभागबन्ध— बद्ध कर्मोंमे अनुभागका पडना कि यह कर्मसमूह इतनी श्रेणीका फल देगा, ऐसा अनुभागका बँधना अनुभागबन्ध कहलाता है। प्रदेशबन्ध— प्रदेशके मायने परमाणु है। कर्मपरमाणुका बन्धना प्रदेशबन्ध कहलाता है। ये चारो बन्ध एक साथ ही होते है। जिस समय योग और कषायका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणमती है उस ही समय वह इन चार रूपोमे परिणमता है। प्रकृति शब्दमे प्र उपसर्ग है और कृ जिसका मूल रूप है डुकृञ् करणे कृ धातु है और उसमे इक्तिन् प्रत्यय लगा है, जिसका व्युत्पत्ति अर्थ हुआ ज्ञानावरणादि रूपसे अर्थात् अर्थका बोध न हो सके इस रूपसे कर्मका परिणमना प्रकृतिबन्ध है। इसकी निरुक्ति है—प्रक्रियते इति प्रकृतिः। ज्ञानावरणादिक रूपसे, अर्थात् पदार्थका ज्ञान न होना इस रूपसे जो कार्माणवर्गणा कर्मरूप की जाती है वह प्रकृति है। स्थिति शब्द ष्ठा स्वगतिनिवृत्तौ धातुसे बना है। स्थितिका अर्थ है स्थान। अथ स्थान अर्थात् ठहरे रहना। जितने काल तक कर्म आत्मामे ठहरता है उतने काल उसकी स्थिति कहलाती है। अनुभव शब्दमे अनु उपसर्ग है। उस उपसर्गपूर्वक भू धातुसे अनुभव शब्द बना है। जिसका अर्थ है फलदान शक्ति। स्थिति और अनुभव—ये दो शब्द भावसाधनमे प्रयुक्त किए गए है। प्रदेशबन्ध, प्रदिश्यते असौ इति प्रदेशः यह कर्मसाधनका रूप है, जो कहा जाय, बताया जाय वह प्रदेश है अर्थात् कर्मपरमाणु। कर्म परमाणुओका कर्मरूप परिणमना प्रदेशबन्ध है।

(२३८) प्रकृतिबन्धका स्वरूप—प्रकृति और स्वभाव ये दोनो पर्यायवाची शब्द है। जैसे प्रश्न किया जाय कि नीमकी क्या प्रकृति है? तो उत्तर होता है कि कड़वापन स्वभाव है। गुड़की क्या प्रकृति है? तो उत्तर है कि मधुरता स्वभाव है। प्रकृति और स्वभाव ये भिन्न चीजें नही है, उसी प्रकार कोई पूछे कि ज्ञानावरणकी क्या प्रकृति है? तो उत्तर है कि पदार्थका ज्ञान न होना। जो कार्माणवर्गणायें ज्ञानरूप परिणामी हैं उनके विपाकमे जीव पदार्थोंका अवगम नही कर पाता। दर्शनावरणकी क्या प्रकृति है? सुख दु:खका संवेदन होना। दर्शनमोहकी प्रकृति है प्रयोजनभूत अर्थोंका श्रद्धान न होना। जो मोक्षमार्गके कामके है ऐसे तत्त्वोका श्रद्धान न होना यह दर्शनमोहनीयका स्वभाव है। चारित्रमोहनीयकी क्या प्रकृति है? असयम परिणाम होना। विषयोंसे विरक्ति न होना तथा हिंसा आदिक परिणामोसे विरक्ति न होना। आयुकर्मकी क्या प्रकृति है? अवधारण। भवमे जीवको रखे रहना। जो शरीर पाया है उस शरीरमे जीवको अवस्थित रखना आयुकर्मकी प्रकृति है। नाम कर्मका क्या प्रकृति है? नारकादिक नामका करना। नाम तो किसी वस्तुका किया जाता है। जो घटना घटे, जो देहपिण्ड बने उसमे नाम किया जाता है। यह नामकर्मकी प्रकृति है। गोत्रकर्मकी प्रकृति क्या है? उच्च और नीच स्थानोका बोधित होना। तो कोई उच्च कुली है, कोई नीच कुली है। इस प्रकारका व्यवहार गोत्रकर्मकी प्रकृति है। अंतराय कर्मकी प्रकृति दान आदिकमे विघ्न करना है। सो इस प्रकारके लक्षण वाला कार्य जिसकी प्रकृति बने उस कार्यके होनेका जो स्रोत बने, निमित्त बने उसे प्रकृति कहते हैं।

(२३९) स्थितिबंध, अनुभवबन्ध व प्रदेशबन्धका स्वरूप—स्थिति नाम है उस स्वभावकी च्युति न होनेका, अर्थात् जिस कर्म प्रकृतिमे जो स्वभाव पड़ा है वह स्वभाव बना रहना। जितने काल तक उस स्वभावरूपसे कर्म बना रहे उतनेको स्थिति कहते है। जैसे कहा जाय कि गौ दूधकी क्या स्थिति है अर्थात् गायके दूधमे जो मीठापन है वह चलित न हो, उसमे बना रहे यह उसकी स्थिति है? सो जब तक रस न बदले तब तक उसकी स्थिति कहलाती है। और इन दूधोकी स्थितिमे अन्तर है। जैसे ऊँटनीका दूध अधिक समय नही ठहरता, उसके रस, गध सब एकदम बदल जाते है। तो उसकी स्थिति थोड़ी कहलायी। बकरीका दूध कुछ अधिक देर तक बना रहता है। गाय भैंसका दूध अपनी सही अवस्थामें कुछ और अधिक देर तक बना रहता है। तो जिसमे जो माधुर्य स्वभाव बना है वह नष्ट न होना उसे स्थितिबन्ध कहते है। अनुभवबन्ध—जैसे बकरी गाय, भैंस आदिकके दूधमे तीव्र मद आदिक भावोसे रस विशेष पाया जाता है उसी प्रकार कर्म पुद्गलके अपने आपमे प्राप्त सामर्थ्य विशेषको अनुभव कहते है अर्थात् फल देनेकी डिग्रियां यह अनुभागबन्ध है। प्रदेश-

बन्ध परमाणुकी इयत्ताका निश्चय होना अर्थात् इस प्रकृतिमे इतने कर्मपरमाणु बन्धे है आदिक रूपसे इयत्ताका अनुभव होना प्रदेशबन्ध है। इस सूत्रमे विधि शब्द प्रकारका कहने वाला है। उस बधके कितने प्रकार हैं ? तो प्रकृति आदिक चार प्रकारके है। यहाँ जो चार बध कहे गए है उनमे से प्रकृतिबध और प्रदेशबन्ध ये दो तो योगनिमित्तक होते हैं, किन्तु स्थितिबध और अनुभागबन्ध ये कषायहेतुक होते है। जैसे जैसे तीव्र कषाय होती जाय वैसे ही वैसे विशेष तीव्र बन्ध होता जाता है। कार्य कारणके अनुरूप होता है। तो जैसे जैसे कषायें हो वैसे ही वैसे ये बन्ध भी होते रहते है। यहाँ तक बन्ध चार प्रकारके कहे गए। पहला बन्ध है प्रकृतिबन्ध। सो प्रकृतिबन्धमे मूल प्रकृतियाँ भी है, उत्तर प्रकृतियाँ भी है। तो उनमे मूल प्रकृतियोका वर्णन कर रहे है।

## आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥८-४॥

(२४०) **द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयकी विवक्षामे प्रकृतिबन्धकी सामान्यरूपता व ज्ञानावरणादिकी विशेषरूपता होनेसे क्रमशः एक व बहुवचनमे प्रयोग**—अब प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ऐसी प्रकृतिके मूल भेद ८ है। यहाँ एक शङ्का होती है कि इस सूत्रमे पद दो दिए गए है। पहला पद है आद्यः, दूसरे पदमे कर्मके नाम दिए गए। यहाँ प्रथम पदमें है एकवचनमे और द्वितीय पदमे है बहुवचन। तो जब यहा समानाधिकरण्यकी बात चल रही है अर्थात् बन्ध ये ये कहलाते है तो इन दोनो पदोमे वचन एक समान होने चाहिएँ थे। दूसरे पदमे बहुवचन है तो पहला पद भी बहुवचनमे हो जाना चाहिए ? उत्तर—यहाँ दो नयोकी विवक्षामे दो पद दिये गए है इस कारण उनमे विरोध नही आता। द्रव्यार्थिकनयका विषय है सामान्य, सो जब सामान्यकी विवक्षासे कहा तो प्रकृतिबन्ध एक ही है। सामान्यमे तो एक स्रोतरूप चीज ली जाती है। इस प्रकार द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे आद्य शब्दमे एकवचनका प्रयोग किया गया है। अब उसका विशेष है ज्ञानावरणादिक ८ जो पर्यायार्थिकनयकी प्रधानतासे कहे जाते है सो जब पर्यायार्थिकनयकी प्रधानतासे कहा गया तो उन ८ पदोके समाससे बहुवचनका प्रयोग किया गया है। लोकमे भी समानाधिकरण होनेपर भी वचनभेद देखा गया है। जैसे श्रोता लोग प्रमाण है, गायें धन है तो बहुवचनके साथ एकवचनका प्रयोग होना अनेक जगह सम्मत माना गया है।

(२४१) **ज्ञानावरण आदिका व्युत्पत्त्यर्थ**—ज्ञानावरणादिक ८ नाम लिए गए है, उनकी व्युत्पत्ति यथासम्भव कर्तृसाधन, कर्मसाधन और उभयसाधनमे की गई है। जैसे आवरणका अर्थ है—आवृणोति आव्रियते अनेन इति आवरणं, जो आवरण करे, ढाके अथवा

जिसके द्वारा वस्तु ढका जाय उसे आवरण कहते है। आवरण शब्द यहा दोनोंमे लगाया जाता है—ज्ञानावरण और दर्शनावरण। वेदनीय शब्दका अर्थ है वेद्यते इति वेदनीय, जो वेदा जाय, अनुभवा जाय उसे वेदनीय कहते हैं। मोह शब्दकी निरुक्ति है—मोहयति मुह्यते, जो मोहित करे, बेहोश करे उसे मोह कहते है। तो मोहनीयकर्मकी प्रकृति है बेहोश करना। अब वह बेहोशी दो तरहकी है—(१) एक तो पूरी बेहोशी जिसे मिथ्यात्व कहते है और (२) दूसरी कुछ प्रकाश रहते हुए भी बेहोशी, जिसे रागद्वेप कहते हैं। ये मोहनीयकी प्रकृतिया है। आयु शब्दका अर्थ है जो नरकादि भवोमे ले जाय उसे आयु कहते हैं। जैसे कोई अभी तिर्यंचभवमे है और मर कर उसे नरक जाना है तो यहाकी आयु समाप्त होनेके बाद जो नरकायु लगेगी उस आयुकी प्रकृति है नरकमे ले जाना। इसकी व्युत्पत्ति है एति अनेन नारकादिभवे इति आयु। नामकर्मका अर्थ है—नमयति आत्मान इति नाम, जो आत्माको निम्न कर दे सो नामकर्म है। नारकादि भवोमे जो शरीर मिलता है उस शरीर सम्बधित सभी बातें नामकर्मकी प्रकृति कहलाती है। गोत्र शब्द गु धातुसे बना है, जिसका अर्थ है कहना, निर्देश करना, तो जो ऊँच और नीच रूपको बतलाये उसे गोत्र कहते है, गूयते शब्द्यते अनेन इति गोत्र। अतरायका अर्थ है अन्तर करना अर्थात् विघ्न करना। कोई दो वस्तुओ का सम्बन्ध बनता हो तो उसके बीच आ पडे तो यही तो उनमे विघ्न कहलाता है। इसका निरुक्ति अर्थ है अन्तर एति इति अन्तराय अथवा अन्तर ईयते अनेनेति अन्तराय। दाता और देयके बीचमे पड जाना, अन्तर करना अन्तराय कहलाता है। इस प्रकार इन ८ कर्मोंकी प्रकृतियाँ उन कर्मोंके नामसे प्रसिद्ध होती है। जैसे खाये हुए भोजनका अनेक प्रकारका विकार बनता है। वह भोजन वात, पित्त, कफ, खल, रस आदिक अनेक रूपसे परिणम जाता है। तो भोजन किया, अब वहाँ अन्तरमे कोई कुछ प्रयोग तो नही करता, पर जठराग्निका मेल होनेसे वह भोजन स्वयं अनेकरूप परिणम जाता है। इसी प्रकार बिना किसी प्रयोगके कर्म आवरण रूपसे अनेक शक्तियोसे युक्त होकर आत्मामे बन्ध जाते है।

(२४२) ज्ञानावरण और मोहमे भेद होनेसे दोनोका पृथक् पृथक् निर्देश—यहाँ शकाकार कहता है कि मोहके होनेपर भी हित अहितका विवेक नही होता और हित अहित का जहाँ विवेक नही है उसीका नाम मोह है, मोहका काम ज्ञानका ढकना है। तो ज्ञानावरण और मोहनीयमे कुछ अन्तर तो न रहा, फिर अलग क्यो कहा ? उत्तर—पदार्थके यथार्थस्वरूपका बोध होने पर भी यह ऐसा ही है इस प्रकार सद्भाव अर्थका श्रद्धान न होना यह तो मोह है और ज्ञान न होना यह ज्ञानावरण है। तो ज्ञानावरणसे वस्तु ग्रहणमे ही नही आता, न सम्यक्रूपसे, न विपरीत रूपसे। जहा ज्ञानावरणका उदय है वहा ज्ञान

पैदा नही होता। यह तो है ज्ञानावरणका काम और ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर वस्तु का ज्ञान तो बनता है पर यथार्थरूपमे यह वस्तु ऐसा ही है इस प्रकारका निर्णय नही बनता, सो यह मोह है। यो ज्ञानावरणमे और मोहमे अन्तर है। अथवा जैसे बीज बोया, अकुर उत्पन्न हो गए तो अकुर तो हुआ कार्य और बीज हुआ कारण तो बतलावो बीजमे और अकुरमे भिन्नता है या नही ? स्पष्ट ध्यान आता कि भिन्नता है, उसी प्रकार अज्ञान मोह ये तो है कार्यभेद और उनका कारण है ज्ञानावरणादि व मोहनीय तो इस प्रकार उनमे भेद होना ही चाहिए। कार्यमे अन्तर भी देखा जाता है, अज्ञानका और मोहका कार्य और भाँति है, ज्ञानावरण आदिकका कार्य और भाँति है इसलिए ज्ञानावरण और मोहनीयमे अन्तर है।

(२४३) **ज्ञानावरण व दर्शनावरणका लक्षणभेद होनेसे पृथक् पृथक् ग्रहण**— ज्ञानावरण व दर्शनावरण भी भिन्न भिन्न है। जब ज्ञान और दर्शनमे भिन्नता है, ज्ञानका काम है विशेष प्रतिभास, दर्शनका काम है सामान्य प्रतिभास अथवा ज्ञानका काम है स्वपर अर्थका परिचय और दर्शनका काम है ज्ञानपरिणत आत्माका प्रतिभास। तो जब ज्ञान और दर्शनमे अन्तर है तो ज्ञानावरण और दर्शनावरणका भी अन्तर समझ लेना। यह ज्ञानावरण एक सामान्यरूपसे आस्रव मात्र हुआ, लेकिन वही मति आवरण, श्रुत आवरण आदिक रूपसे परिणमन कर जाता है। जैसे जल ऊपरसे बरसा तो एक ही रूप है किन्तु ताँबा, लोहा, पीतल आदिक पात्र विशेषमे वह जल पहुचा तो अब उसका भिन्न रूपसे परिणमन बन गया, रस भी भिन्न-भिन्न रूपसे हो गया, ऐसे ही ज्ञानावरणका काम है ज्ञानको रोकना, ज्ञान प्रकट न होने देना। तो इस स्वभावदृष्टिसे तो ज्ञानावरण सब एक ही काम करते है, पर प्रत्येक आस्रवमे सामर्थ्यभेद होनेसे मतिश्रुत आदिकके आवरणरूपसे कहा जाता है। ज्ञानावरणका कार्य एक है—ज्ञान न होने देना, पर किस जगह कौनसी योग्यता वाला ज्ञान हुआ करता है और उसे न होने दे तो इस तरह ज्ञानावरण ५ रूपोसे बन जाता है। यही बात दर्शनावरण आदिकमे भी समझ लेना चाहिए।

(२४४) **पौद्गलिक कर्मस्कन्धोकी अनेकविपाकनिमित्तता**—यहाँ शङ्काकार कहता है कि पुद्गलद्रव्य जब एक है, ज्ञानावरणादिक ८ कर्मपुद्गल ही तो हैं तो एक पुद्गलद्रव्यमे किसीका आवरण करनेका निमित्त होना, सुख दु खादिकमे निमित्त होना, ऐसे भिन्न-भिन्न कार्योंमे निमित्त होने का विरोध मालूम होता है, अतः एक पुद्गलकर्म अनेक कार्योंका निमित्त नही हो सकता। इस शङ्काके उत्तरमे कहते है कि यह शङ्का युक्त नही है, क्योकि उन पुद्गल कर्मोंका ऐसा ही स्वभाव है। एक भी पदार्थ हो तो उसमे अनेक प्रकारका सामर्थ्य

पाया जाता है। जैसे अग्नि एक है फिर भी उसीमे दहन करनेका सामर्थ्य है, पकानेका सामर्थ्य है, प्रकाश करनेका सामर्थ्य है। इन सब सामर्थ्योंका अग्निमे कोई विरोध नही है, इसी प्रकार पुद्गलद्रव्य एक ही है तो भी वह ज्ञानके आवरणका निमित्त होता है, सुख दुःख आदिकका भी निमित्त होता है, कोई विरोध नही है। दूसरी बात यह है कि उस एक पुद्गलद्रव्यमे स्याद्वाद शासनमे एकपना व अनेकपना माना गया है द्रव्यार्थिक दृष्टिसे तो भी पुद्गलद्रव्य एक है और अनेक परमाणुवोके स्निग्ध रूक्ष बन्धके कारण जो अनेक स्कधरूप पर्याय हुई है उन पर्यायोकी दृष्टिसे भी पुद्गलद्रव्य अनेक रूप है, इस कारण एक पुद्गलकर्म अनेक बातोके लिए निमित्तपनेका विरोध नही है।

(२४५) **एकमे अनेक कार्यनिमित्तत्वकी पराभिप्रायसे भी सिद्धि**—अब जरा इस ही बातको अर्थात् एकमे अनेकका विरोध नही है, अन्य दार्शनिकोकी दृष्टिसे भी परखिये। पृथ्वी जल, अग्नि, वायु इनसे रची हुई जो इन्द्रिय है वह भिन्न-भिन्न जातिकी है। तो उन इन्द्रियोका एक ही दूध या घी उपकारक होता है, पुष्ट करने वाला होता है। जैसे नासिका पृथ्वी तत्त्वसे बनी है, रसना जलतत्त्वसे बनी है, स्पर्शन वायुतत्त्वसे बना है और नेत्र अग्नितत्त्वसे बने हैं ऐसा किन्ही दार्शनिकोने माना है। उन्होने भी यह स्वीकार किया है कि दूध घी आदिकके प्रयोगसे सभी इन्द्रियोका पोषण होता है। तो अब यहाँ देखिये कि एक ही दूध घी सभी इन्द्रियोका अनुग्राहक देखा गया है। शायद कोई यह कहे कि वृद्धि तो एक ही चीज है अथवा घी दूध आदिकसे जो बढवारी हुई है वह कार्य तो एक रूप हैं। उस एक वृद्धिका दूध घी ने उपकार किया है, इसलिए हमारी शका ज्योकी त्यो रही। एक पुद्गल द्रव्यकर्म नाना प्रकारके कार्योंका निमित्त कैसे हो जाता? इस शकाके उत्तरमे कहते है कि जितनी इन्द्रियां है उन सबकी वृद्धियां है तो प्रत्येक इन्द्रियकी वृद्धि जुदी-जुदी कहलाती है। जैसे कि इन्द्रियां भिन्न है उसी प्रकार इन्द्रियोकी वृद्धियां भी भिन्न है। जिस प्रकार भिन्न जाति वाले तत्त्वोसे अग्नि जाति वाले नेत्रका अनुग्रह होता है उसी प्रकार आत्मा और कर्म ये चेतन और अचेतन है, इनकी जाति एक नही है। तो असमानजातीय कर्म आत्माका अनुग्रह करने वाला है यह सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार कर्मके मूल भेद ८ सिद्ध हुए हैं।

(२४६) **कर्मकी तथा कर्मबन्धकी अनेक प्रकारताका दिग्दर्शन**—अब जिज्ञासा होती है कि क्या ८ ही सख्या है या अन्य प्रकार कर्मोंकी संख्या हो सकती है? इसका समाधान—कर्मके कितने ही भेद बना लिए जायें— जैसे कर्म एक है, सामान्यरूपसे सब पौद्गलिक कार्माणवर्गणायें है, यहां विशेषकी विवक्षा न रही। जैसे सेना इतना कहनेमे हाथी, घोडा, प्यादे आदिक सब गर्भित हो जाते है, पर सेना शब्दके कहनेमे विशेषोकी विवक्षा नही रहती।

समुदायकी अपेक्षा एक ही सेना है, अथवा जैसे कह दिया—बगीचा तो उसमे आम, नीबू आदिक अनेक प्रकारके वृक्ष है, पर उनकी विवक्षा न होनेसे सामान्य आदेशसे बन एक कहलाता है, ऐसे ही पुद्गलकर्म एक है, कर्म अब दो किस प्रकार है ? पुद्गलकर्म दो प्रकार के है—(१) पुण्यकर्म और (२) पापकर्म। जैसे सेना एक कही गई पर उस सेनामे कुछ अफसर है, कुछ सिपाही है तो जैसे वह सेना दो भागोमे बँट गई—(१) सैनिक अफसर और (२) सैनिक सिपाही, इसी प्रकार वे पुद्गलकर्म दो भागोमे बँट गए—(१) पुण्यकर्म और (२) पापकर्म। अथवा पुद्गलकर्म तीन प्रकारका है—(१) अनादि सान्त, (२) अनादि अनन्त और (३) सादिसान्त। कर्मकी संतति अनादिकालसे चली आयी है मगर किसीके कर्मोंका अन्त हो जाता है तो उसके कर्म अनादि सान्त कहलाये। अभव्य जीवोके कर्म अनादिसे चले आये है और अनन्त काल तक रहे जायेंगे तो उनके कर्म अनादि अनन्त कहलायेंगे। तथा किसी ज्ञानी जीवके कर्म संवृत हो गए, कुछ समयसे नवीन बंध नही हो रहा, फिर परिस्थितिवश, अज्ञानदशाको पाकर कभी नवीन बन्ध होने लगे तो सादि कहलाता है और उन्हीका अन्त प्रज्ञदशामे कभी अन्त हो जायगा, इसलिए सान्त भी कहलाये अथवा प्रत्येक कर्म किसी दिन बन्धना, किसी दिन खिरता, सो सभी सादि सान्त बन्ध है। अथवा वह कर्मबन्ध इस प्रकार भी तीन तरहका है—(१) भुजाकार बन्ध, (२) अल्पतर बन्ध, (३) अवस्थित बन्ध। बन्धका और विस्तार बना लें तो वह भुजाकार बन्ध कहलाता है। कही कर्म अधिक बन्ध रहे थे उससे और कम कम बन्धें तो वह अल्पतर बन्ध कहलाता है तथा कर्मबन्ध जैसे हो रहा था वैसा ही होता रहे तो वह अवस्थित बन्ध कहलाता है। अथवा बन्ध ४ प्रकार का है—(१) प्रकृतिबन्ध, (२) स्थितिबन्ध, (३) अनुभवबन्ध और (४) प्रदेशबन्ध। इनका वर्णन इससे पहलेके सूत्रोमे आ ही गया है। अथवा बन्ध ५ प्रकारका है—द्रव्यबन्ध, (२) क्षेत्रबन्ध, (३) कालबन्ध, (४) भवबन्ध और (५) भावबन्ध। यह बन्ध उनकी निमित्त दृष्टिसे ५ प्रकारका बना है। अथवा बन्ध ६ जीवकायोके विकल्पसे ६ प्रकारका होता है। अथवा बन्ध ७ तरहका है— (१) रागके निमित्तसे होने वाला बन्ध (२) द्वेषके निमित्तसे होने वाला बन्ध (३) मोहके निमित्तसे होने वाला बन्ध (४) क्रोधके निमित्तसे होने वाला बन्ध, ऐसे ही (५) मानके निमित्तसे होने वाला बन्ध, (६) मायाके निमित्तसे होने वाला बन्ध और (७) लोभके निमित्तसे होने वाला बन्ध। अथवा कर्मबन्ध ८ प्रकारका है। ज्ञानावरण आदिक जिनके नाम इस ही सूत्रमे कहे गए है। इनसे बढ़ा बढाकर संख्यात भेद कर्मके बन जाते हैं। और अध्यवसाय साधनके भेदसे असख्यात कर्म हो जाते है और भेद चूकि अनन्तानन्त हैं, उनकी दृष्टिसे अनन्त कर्मबन्ध कहलाता है अथवा इन ज्ञानावरणा-

दिक कर्मोंका अनुभाग अनन्त शक्ति वाला होता है, उस दृष्टिसे अनन्त बन्ध कहलाता है।

(२४७) **आठ कर्मोंके सूत्रनिबद्ध क्रमका प्रयोजन**—इस सूत्रमे ८ कर्मोंका जिस क्रम से नाम लिया गया है उसका प्रयोजन है। इसमे सबसे पहले ज्ञानावरण नाम लिखा है। ज्ञान अर्थात् ज्ञानके द्वारा आत्माका ज्ञान होता है इसलिए सर्वप्रथम ज्ञानावरण नाम रखा गया है, क्योंकि ज्ञान ही आत्माकी जानकारीका साधकतम है अर्थात् ज्ञानसे ही आत्मा जाना जाता है और ज्ञानसे ही सर्व पदार्थोंकी व्यवस्था मानी जाती है। ज्ञानावरणके बाद दर्शनावरण लिखा है। इसका कारण यह है कि दर्शन भी प्रतिभास स्वरूप है लेकिन अनाकार प्रतिभास रूप है, जो कि साकार उपयोगसे कुछ लघु कहलाता है, क्योंकि दर्शनमे स्पष्ट ग्रहण नही होता, ज्ञानमे वस्तुका स्पष्ट ग्रहण होता है, सो ज्ञानकी अपेक्षा तो दर्शन निकृष्ट रहा, लेकिन आगे कहे जाने वाले वेदनीय आदिककी अपेक्षा यह प्रकृष्ट है। इस कारण ज्ञानावरणके पश्चात् और वेदनीय आदिकसे पहले दर्शनावरणका नाम लिया गया है। इसके बाद वेदनीय कर्म कहा गया है। वेदनीयमे वेदना होती है और उस वेदनाका सम्बन्ध ज्ञान दर्शनके साथ लगता है, क्योंकि वेदना ज्ञान दर्शनके साथ ही चलती है। जहाँ ज्ञान दर्शन नही है वहाँ वेदना नही हो सकती। जैसे घट पट आदिक पदार्थ वे अचेतन हैं, वहाँ ज्ञान दर्शन नही है। इस कारण वहाँ वेदना नही चलती। वेदनीयके बाद मोहनीयका नाम लिया है क्योंकि ज्ञानका, दर्शनका सुख दुःखका इन सबका विरोध है मोहसे। जो मोही पुरुष है वह न तो जानता है, न देखता है, न सुख दुःखका वेदन करता है। यहाँ शकाकार कहता है कि मूढ पुरुषोके भी जिनके मोह बसा है उन पुरुषोके भी सुख दुःख ज्ञान और दर्शन पाये जाते है। यदि मोही जीवके साथ सुख दुःख ज्ञान दर्शनका विरोध हो तो मिथ्यादृष्टि और सयमी जीवो के फिर सुख दुःख ज्ञान दर्शन न रहना चाहिए, परन्तु रहता है, फिर यह युक्ति देना कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीयके बाद मोहनीयका नाम इस कारण लिखा है कि इस का उनसे विरोध है, यह बात सगत नही बैठती। इस शङ्काके समाधानमे कहते हैं कि मोह का जो ज्ञान दर्शन आदिकसे विरोध कहा है सो उसका अर्थ है कि कही तो विरोध देखा जाता है। सर्वत्र विरोध न सही, पर जहाँ व्यामोह अधिक है या एकेन्द्रिय आदिक जीव हैं उनके ज्ञान दर्शन अत्यन्त कम पाये जाते है। फिर दूसरी बात यह है कि भले ही मोही जीवो के भी ज्ञान दर्शन मिले, पर मोहसे जो दबा हुआ है उस प्राणीके हित और अहितका विवेक आदिक तो हो ही नही सकता। अब मोहनीयके समीपमे आयुका नाम लिया है, वह यह सिद्ध करता है कि प्राणियोका सुख दुःख आदिक सब आयुके कारणसे होता है। आयुके उदयमे यह जीव शरीरमे रहता है तो उसके सुख दुःख मोह आदिक सभी बनते हैं, यह

सम्बन्ध बतानेके लिए मोहनीयके पास आयु शब्दको रखा है। आयुकर्मके बाद नामकर्मका नाम लिया है। इसका कारण यह है कि नामकर्मका उदय आयुकर्मके उदयकी अपेक्षा रखता है। अर्थात् जैसी आयुका उदय होता है उसके अनुरूप गति जाति आदिक नामकर्मका उदय चलता है। नामके बाद गोत्र शब्द रखा है क्योंकि जिसको शरीरादिक प्राप्त हो गए है, आयु के कारण जीव शरीरमे मिल रहा है ऐसे पुरुषके गोत्रके उदयके कारण ऊँच नीचका व्यवहार चलता है इस कारण नामकर्मके बाद गोत्रकर्मका नाम रखा है। इस प्रकार ७ कर्मोंका क्रम कहा, अब बचा है अन्तरायकर्म, सो उस बचे हुए कर्मको अन्तमे रखा गया है। अब यह जिज्ञासा होती है कि मूल प्रकृति बंध ८ प्रकारका कहा है। सो तो जानो। अब दूसरा उत्तर प्रकृतिबन्ध है, वह कितनी तरहका होता है इसका वर्णन करनेके लिए सूत्र कहते हैं।

## पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदो यथाक्रमम् ॥८-४॥

(२४८) प्रकृतिबन्धके उत्तरप्रकृतिबन्धोंकी संख्याका निर्देश—वे ज्ञानावरणादिक कर्म क्रमसे ५, ९, २, २८, ४, ४२, २ और ५ भेद वाले है। इस सूत्रमे दो पद है। प्रथम पदमे तो सर्व सख्यावोका द्वन्द्व समास किया गया है, फिर भेद पदके साथ बहुव्रीहि समास किया गया है। जिससे अर्थ होता है कि ५, ९ आदिक हो भेद जिसके ऐसा वह प्रकृतिबन्ध है। यहा कोई शंका कर सकता है कि इस सूत्रमे द्वितीय शब्द ग्रहण करना चाहिए था, इस से स्पष्ट सिद्ध हो जाता कि पहले जो भेद बताये गए थे वे तो मूल प्रकृतिबन्धके थे। अब जो भेद बताये जा रहे है सो उत्तर प्रकृतिके बन्ध है। इस शकाके उत्तरमे कहते है कि यह शंका यो ठीक नही कि जब पहले मूल प्रकृतिके भेद बता दिये और अब मूल प्रकृतियोमे ही ये भेद बताये जा रहे है तो अपने आप ही यह सिद्ध हो जाता है कि यह उत्तर प्रकृति बन्धका विवरण है। इस सूत्रमे कहे गए भेद शब्दका प्रत्येक सख्याके साथ सम्बन्ध रखाना, जैसे ज्ञानावरणकर्म ५ भेद वाला है, दर्शनावरण कर्म ९ भेद वाला है, वेदनीय कर्म दो भेद वाला है, मोहनीय कर्म २८ भेद वाला है, आयुकर्म ४ भेद वाला है, नामकर्म ४२ भेद वाला है, गोत्रकर्म दो भेद वाला है और अंतराय कर्म ५ भेद वाला है। इन कर्मोंके साथ इन संख्यावोका क्रमसे सम्बन्ध जोडना चाहिए। यह सूचना देनेके लिए सूत्रमे यथाक्रम शब्द दिया गया है। नामकर्मकी जो ४२ प्रकृतियाँ बतायी है सो उनमे पिण्ड प्रकृतियोको एक-एक माना है। जैसे गतिनामकर्म। उसको एक ही मान लिया। यद्यपि उसके चार भेद है लेकिन यहाँ उन प्रभेदोकी विवक्षा नही की गई और जिसके भेद नही है ऐसी कर्म प्रकृतियां भी इस गिनतीमे है। इस प्रकार पिण्ड और अपिण्ड सर्व प्रकृतियां मिलकर ४२ है। यदि पिण्डके भेद गिने जायें तो नामकर्मकी सब प्रकृतियां ९३ होती है। अब यहां जिज्ञासा

होती है कि यदि प्रथम आवरण अर्थात् ज्ञानावरण ५ का आवरण करता है तो वे ५ कौन से है जिनका आवरण यह प्रथम कर्म करता है।

## मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥८-६॥

(२४९) **ज्ञानावरणकर्मकी उत्तरप्रकृतियोका नामनिर्देश**—मतिज्ञानका, श्रुतज्ञानका अवधिज्ञानका, मनःपर्ययज्ञानका और केवलज्ञानका आवरण है। तो ज्ञानावरण कर्मके ५ भेद इस प्रकार है—(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मनःपर्ययज्ञानावरण और (५) केवल ज्ञानावरण। इन पाँचो ज्ञानोका सक्षेप रूपमे लक्षण प्रथम अध्यायमे बताया गया है। उन ज्ञानोका आवरण जिस कर्मके उदयसे होता है उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं। यहा यह शका होती है कि केवल मत्यादीना, इतना ही शब्द कहते तो इसका वही अर्थ आ जाता जो कि इतना बडा सूत्र बनानेमे किया गया है। इस सूत्रमे ५ के नाम ही तो लिए गए है सो मति आदिकमे भी वे ही ५ नाम आ जाते क्योकि ये ज्ञान पहले कहे गए थे। सो आदि शब्द कहते ही उन सबका ग्रहण हो जाता है और सूत्रमे भी लाघव हो जाता। इस शकाके उत्तरमे कहते है कि इन सबके नाम जो दिए गए हैं उससे सिद्ध यो होता है कि आवरणका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए। याने मतिज्ञानका आवरण श्रुतज्ञानका आवरण आदिक। यदि ये ५ नाम यहा न देते तो यह भी सम्बन्ध बन जाता कि मति आदिकोका एक ही आवरण है, याने एक ज्ञानावरण मति आदिक पाँचो ज्ञानोका आवरण करता है, पर ऐसा नही है। मतिज्ञानावरण मतिज्ञानको ढाकता है, श्रुतज्ञानावरण श्रुतज्ञानको ढाकता है, अवधिज्ञानावरण अवधिज्ञानका आवरण करता है, मनःपर्ययज्ञानावरण मनःपर्यय ज्ञानको ढाकता है, केवल ज्ञानावरण केवलज्ञान नही होने देता।

(२५०) **आवरणका सम्बन्ध बतानेके लिये पांचो ज्ञानोंका नाम देनेका कारण**—यहा शकाकार कहता है कि मत्यादीना ऐसे बहुवचनका प्रयोग करनेसे और चूँकि ज्ञानके ५ प्रकारोकी प्रसिद्धि है सो ५ सख्याकी प्रतीति तो स्वय ही हो जायगी, फिर सूत्रमे सभी ज्ञानोके नाम लिखनेकी क्या आवश्यकता है? इसके उत्तरमे कहते है कि यदि सूत्रमे समान ज्ञानोके नाम न लिखे जाते और केवल बहुवचन देकर ही उनमे आवरण जोडे जाते तो यह भी जोडा जा सकता था कि मति ज्ञानके ५ आवरण है अर्थात् प्रत्येक ज्ञानमे ५-५ आवरण सिद्ध हो जाते हैं जो कि अनिष्ट हैं। मतिज्ञानावरणसे तो मतिज्ञान ही ढकेगा, श्रुतज्ञानावरणसे श्रुतज्ञान ही ढकेगा, लेकिन अब यह अर्थ हो जायगा कि पाचो आवरणोसे प्रत्येक ज्ञान ढका हुआ है। और जब सूत्रमे पाचो ज्ञानोके नाम लिख दिए तो इन पाचोके नाम लिखने की सामर्थ्यसे यह सिद्ध हो जायगा कि मतिज्ञानका आवरण करने वाला श्रुत ज्ञाना-

वरण है, ऐसा प्रत्येक ज्ञानावरण सिद्ध हो जाता है।

(२५१) **कथंचित् सत् कथंचित् असत् मतिज्ञान आदिके आवरणकी संभवता**—यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि यह बताओ कि वह मतिज्ञानादिक जिसका आवरण बतला रहे हो वह सत् है या असत् है ? याने सद्भूत मतिज्ञानका आवरण बतला रहे हो या असद्भूत मतिज्ञानका आवरण बतला रहे हो ? यदि सत् मतिज्ञानका आवरण करते हो तो जब मति-ज्ञान सत् है, उसने आत्मस्वरूप पा लिया है तो उसका आवरण नही बन सकता, और यदि कहा जाय कि मतिज्ञान असत् है जिसका आवरण बतला रहे है तो जब कुछ है ही नही तो आवरण किसका किया जायगा ? इस तरह आवरण सिद्ध नही होते। जैसे गधेका सीग असत् है तो उसके बारेमे कोई कहे कि उसको कपडेसे ढांक दो तो भला बताओ कपडा किसमे ढांका जायगा ? सीग तो है ही नही। तो ऐसे ही मतिज्ञान अगर सत् है तो उसका आवरण नही हो सकता। अगर सत् है तो उसके आवरणका अभाव है। इस शंकाके उत्तरमे कहते है कि यह शका यो न करना चाहिए कि नयदृष्टिसे इसका समाधान मिलता है। याने मतिज्ञान कथचित सत् है, उसका आवरण है मतिज्ञान कथञ्चित असत् है, उसका आवरण है। ऐसी ही सब ज्ञानोमे बात लगाना। वह किस तरह ? द्रव्यार्थिकनयसे देखा जाय तो वे मतिज्ञानादिक सत् है, उनका आवरण है। यह नय तो एक जीवको देखता है और जीवद्रव्यमे ये सारी शक्तियाँ है। तो उस द्रव्यदृष्टिसे तो सत् हुआ और जब पर्यायदृष्टिसे देखते है तो उस समय मतिज्ञान है ही नही इसलिए असत् हुआ। तो इस प्रकार कथञ्चित सत् और कथचित असत् मतिज्ञान का आवरण होता है। ऐसा ही सभी ज्ञानोमे समझना। यदि यह कहा जाय कि एकान्त रूप से सत् ही हो तब आवरण बनता है याने मतिज्ञान है ही, उसका आवरण है ऐसा माननेपर तो फिर मतिज्ञान क्षायोपशमिक भी न कहलायगा, क्योकि वह तो है, और जो है सो पूरा है। यदि कहा जाय कि एकान्ततः मतिज्ञान असत् है, है ही नही, उसका आवरण होता है तो ऐसा माननेपर भी मतिज्ञानका क्षयोपशम न कहलायगा, क्योकि वह असत् है। जो असत् है उसकी तारीफ क्या की जा सकती है ?

(२५२) **कुछ उदाहरणो द्वारा मतिज्ञान आदिके आवरणमें आवरणत्वका समर्थन**—अथवा यही मान लीजिए कि मतिज्ञानादिक सत् हैं और उनका आवरण है तो क्या सत्का आवरण नही देखा जाता ? आकाश सत् है और उसका मेघपटल आदिकके द्वारा आवरण देखा जाता है तो सत्का भी तो आवरण हो सकता है। तो यो यहा समझ लीजिए कि मति-ज्ञानादिक सत् हैं और उनका आवरण है। आवरण होनेसे प्रकट नही हो सकता। सो यह बात पर्यायदृष्टिसे बताया ही है कि वे सब सत् है और उनका आवरण होनेसे वे पर्यायरूपमे

प्रकट नही है। अब दूसरी बात देखिये जैसे प्रत्याख्यान अर्थात् संयम त्याग ये कोई प्रत्यक्षीभूत तो नही है कि लो यह कहलाता है त्याग। तो प्रत्याख्यान नामका कोई पर्याय प्रत्यक्षभूत नही है, जिसके आवरणसे प्रत्याख्यानावरण नाम पडा, किन्तु है क्या कि प्रत्याख्यानावरण होता है प्रकृतिके सानिध्यसे। उसके उदयसे आत्मा प्रत्याख्यानरूप पर्यायसे उत्पन्न नही हो सकता, याने नियमका घात करने वाले कर्मोंके उदयसे आत्मा संयम पर्यायमे नही आ सकता। तो यही तो कहलाया ना प्रत्याख्यानका आवरण। इसी प्रकार ज्ञानमे भी घटा लीजिए। मति आदिक ज्ञान कोई भी यो प्रत्यक्षभूत नही है, जैसे कि चूल्हा, खम्भा आदिक प्रत्यक्षभूत होते हैं सो ये मतिज्ञानादिक प्रत्यक्षभूत तो नही हैं जिसके आवरणसे मतिज्ञानावरणमे आवरणपना हो, किन्तु तथ्य यह है कि मतिज्ञानावरणके सान्निध्यमे अर्थात् इस प्रकृति के उदयमे आत्मा मतिज्ञान पर्यायसे उत्पन्न नही हो सकता, इसलिए मतिज्ञानावरणमे आवरणपना है, सो पर्यायरूपमे प्रकट नही है और परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो वह असत् है। वह अवस्था अभी है ही नही। सो कथचित् सत् और कथचित् असत् मतिज्ञानादिकके आवरण सिद्ध होते है।

( २५३ ) **अभव्य जीवके मनःपर्ययज्ञानावरण व केवलज्ञानावरणकी अनुपपत्तिकी आशंका**—यहाँ शकाकार कहता है कि जो अभव्य जीव है उनके मन पर्ययज्ञान और केवल ज्ञान इनका सामर्थ्य है या नही? यदि कहा जाय कि मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानकी शक्ति भी अभव्यमे है तो फिर वह अभव्य नही कहला सकता। और यदि कहा जाय कि अभव्य मे इन दोनो ज्ञानोका सामर्थ्य नही है तो फिर उनका आवरण मानना ही व्यर्थ है और इस तरह फिर ज्ञानावरण तीन ही कहे जाना चाहिए। मन:पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये कुछ न रहे, क्योकि मन पर्ययज्ञान अभव्यमे है ही नही, सामर्थ्य भी नही, केवलज्ञानकी भी शक्ति नही। तो अभव्य जीवमे तीन आवरण कहे जायेंगे, अतिम दो आवरण नही क्योकि यह बात प्रसिद्ध है कि मन.पर्यय ज्ञान भव्य जीवोके ही हो सकता है, केवलज्ञान भी भव्य जीवके ही होता है। हाँ मति, श्रुत, अवधि ये भव्यके भी हो सकते है और अभव्यके भी हो सकते हैं। अभव्यमे होगे तो ये तीन विपर्ययज्ञान कहलायेंगे—(१) कुमति, (२) कुश्रुत और (३) कुअवधि। भव्यके होगे तो यदि वह सम्यग्दृष्टि है तो ये तीन ज्ञान सम्यक् कहलायेंगे और यदि वह मिथ्यादृष्टि है तो उसके ये तीनो ज्ञान विपर्यय कहलायेंगे, किन्तु मन पर्ययज्ञान केवलज्ञान ये तो भव्यके ही होते है अभव्यके नही। तो जब इसकी सामर्थ्य भी नही अभव्यमे है तो इसके आवरणकी कल्पना करना व्यर्थ है।

(२५४) **अभव्य जीवके मनः पर्ययज्ञानावरण व केवलज्ञानावरणकी उपपत्ति बताते**

हुए उक्त शंकाका समाधान—उक्त शकाके उत्तरमे कहते है कि नय दृष्टिसे समझनेपर यह शका न रहेगी। जब द्रव्यार्थदृष्टिसे देखते है तो मन.पर्ययज्ञान केवलज्ञान सत् है और उनका आवरण है। जब द्रव्यार्थदृष्टि व देखते है तो मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये असत् है। यहाँ यह भी शंका न करना कि यदि द्रव्यार्थदृष्टिसे सब जीवोमे अभव्यके भी मन'पर्ययज्ञान और केवलज्ञान है ऐसा माना जाय तो अभव्य जीव अभव्य न रहा, वह भव्य ही बन गया। यह शका यो न करना कि भव्य और अभव्यपना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी शक्ति होने या न होनेके आधारपर नही है, अर्थात् जिस जीवमे सम्यग्दर्शनकी शक्ति हो वह भव्य है, जिसमे सम्यग्दर्शनकी शक्ति न हो वह अभव्य है। यह सिद्धान्त नही है, किन्तु सिद्धान्त यह है कि सम्यक्त्वादिककी प्रकटताकी योग्यता जिसमे है वह भव्य है और सम्यक्त्वादिक प्रकट करनेकी योग्यता जिसमे नही है वह अभव्य है। जैसे स्वर्णपापाण और अधपाषाण, इनमे ऐसा न लखना चाहिए कि जिसमे स्वर्णत्व शक्ति न हो वह स्वर्ण नही, किन्तु यह सिद्धान्त निरखना चाहिए कि जिस पाषाणमे स्वर्णपना प्रकट होनेकी योग्यता हो वह तो है सही स्वर्ण पाषाण और जिस पाषाणमे स्वर्णपनेकी शक्ति तो है पर स्वर्णत्व शक्तिकी प्रकटताकी योग्यता नही है उसे कहते है अधपाषाण। दूसरा दृष्टान्त लीजिए—जैसे सही मूँग और कुरडू मूग। मूगके दानोमे कुछ दाने ऐसे होते है कि उन्हे कितने ही घटे लगातार पकाया जाय फिर भी वे सीझेंगे नही, ज्योके त्यो पत्थरकी तरह रहेगे। तो वहाँ अगर जातिकी अपेक्षा देखा जाय तो दोनो मूँग एक समान है, पर पकनेको प्रकटताकी योग्यतासे देखा जाय तो सही मूग दालके काम आती है और कुरडू मूग अयोग्य है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदिककी शक्तिकी अपेक्षा देखा जाय तो भव्य अभव्य सब जीव द्रव्यार्थिक दृष्टिसे समान है किन्तु सम्यग्दर्शनकी प्रकटताकी योग्यताके ध्यानसे देखा जाय तो भव्य जीव तो सम्यग्दर्शन प्रकट करने की योग्यता रखते है किन्तु अभव्य जीव नही। तो यो शक्तिकी दृष्टिसे द्रव्यार्थनयसे वहाँ मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति है। वह शक्ति जिस आवरणके उदयसे प्रकट नही होती है उसे मन पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कहते है।

(२५५) **ज्ञानावरणके उदयमे होने वाले क्लेशोका दिग्दर्शन कराते हुए ज्ञानावरण की उत्तर प्रकृतियोंके प्रकरणका उपसंहार**—ज्ञानावरणके उदयसे ज्ञानका सामर्थ्य रुक जाता है, स्मृति लुप्त हो जाती है, धर्म सुननेमे उत्सुकता नही रहती है और ऐसा जीव अज्ञानकृत और अपमानकृत बहुत दु खोको भोगता है। अज्ञानकृत दुःख तो यह है कि जब दूसरे ज्ञानियोको देखता है तो अपनेमे दु ख अनुभव करता कि मुझे कुछ ज्ञान न हुआ, मैं मूढ ही रहा। अपमानका दुःख मानता, इस प्रकार जब ज्ञानियोकी गोष्ठी होती हो, उसमे यह भी बैठ

जायगा तो ज्ञानी तो चर्चा करेगा, उसकी ओर लोग दृष्टि देंगे तो यह अपना अपमान महसूस करता है। इस प्रकार ज्ञानावरणको उत्तर प्रकृतियोके भेद कहा, अब दर्शनावरणकी उत्तर प्रकृतियां कहना चाहिए, सो सूत्रमे कहते है।

## चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यान गृद्धयश्च ॥८-७॥

(२५६) दर्शनावरणकी उत्तर प्रकृतियोमे चार आवरण वाली उत्तरप्रकृतियोका निर्देश—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल इन चार दर्शनोके तो आवरण तथा निद्रा, निद्रा निद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि, ये ५ स्वतन्त्र ऐसी दर्शनावरणकर्मकी ६ उत्तर प्रकृतिया हैं। इस सूत्रमे ४ भेदका पद अलग दिया है और ५ भेदका पद अलग दिया है। सो प्रथम चार भेदके प्रत्येक नाममे दर्शनावरणका सम्बन्ध जुड़ना चाहिए। तब उनके नाम हुए चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण। चक्षुदर्शना-वरणके उदयमे यह जीव चक्षुइन्द्रिय द्वारा प्रतिभास नही कर सकता। जिनके चक्षुदर्शनावरण का उदय है उनको चक्षुइन्द्रिय ही प्राप्त न होगी, फिर चक्षु द्वारा प्रतिभास कहांसे हो ? चक्षु-दर्शन चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञानसे पहले होता है और उस चक्षुदर्शनका कार्य चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञानके लिए शक्ति प्रदान करना है। अचक्षुदर्शन चक्षुइन्द्रियको छोडकर शेष चार इन्द्रिय और मनसे होने वाले सामान्य प्रतिभासको कहते हैं। अथवा स्पर्शन, रसना, घ्राण वर्ण और मनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानसे पहले जो सामान्य प्रतिभास होता है, जो आत्मस्पर्श होता है जिसके द्वारा ज्ञानकी शक्ति प्रकट होती है उसे अचक्षुदर्शन कहते है। इस दर्शनका जो आवरण करे उसे अचक्षुदर्शनावरण कहते हैं। अवधिदर्शन—अवधिज्ञानसे पहले होने वाले आत्मस्पर्शको, सामान्य प्रतिभासको अवधिदर्शन कहते हैं। उस अवधिदर्शनका जो आवरण करे उसे अवधिदर्शनावरण कहते हैं। केवलदर्शनावरण— केवलदर्शनका आवरण करने वाले कर्मको केवलदर्शनावरण कहते है। केवलदर्शन केवलज्ञानके साथ साथ ही होता है। केवल-ज्ञानसे त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोको जाना और समस्त पदार्थोंका जाननहार अर्थात् जहाँ सर्वज्ञेयाकार झलक रहे है ऐसे आत्माका दर्शन करने वाला केवलदर्शन होता है। इस केवलदर्शनका जो आवरण करे सो केवल दर्शनावरण है। जैसे केवलज्ञानावरणके उदयमे केवलज्ञान रच भी नही हो सकता, ऐसे ही केवलदर्शनावरणके उदयमे केवल दर्शन कभी नही हो सकता।

(२५७) निद्रादिक पाच निद्रासम्बन्धित दर्शनावरणोका निर्देश—निद्रा, मद अथवा परिश्रमको हरनेके लिए, दूर करनेके लिए जो शयन होता है उसे निद्रा कहते हैं। निद्रा शब्द

मे नि तो उपसर्ग है, द्रा धातु है जिसका अर्थ है कुत्सक्रिया अर्थात् बेसुध जैसी क्रिया। जिस दर्शनावरणके उदयसे आत्मा निद्रित होता है उसे निद्रा दर्शनावरण कहते है। निद्रानिद्रा— निद्राके ऊपर फिर बार बार निद्रा आना निद्रानिद्रा कहलाता है। जैसे कुछ नीद समाप्त ही हो रही हो या किसीने जगा दिया है उसके बाद भी फिर नीद आ जाना, निद्रापर निद्रा आने को निद्रानिद्रा कहते है। ऐसी स्थिति जिस कर्मके उदयसे हो उसे निद्रानिद्रादर्शनावरण कहते है। प्रचला—जो क्रिया आत्माको प्रचलित करे उसे प्रचला कहते है। प्रचला शोक, परिश्रम, मद आदिकसे उत्पन्न होता है। प्रचलामे बैठे ही बैठे शरीर और नेत्रादिकमे विकार उत्पन्न करने वाली नीद सी होती है जिसमे इन्द्रियका व्यापार तो नही होता फिर भी अग चलते रहते है, ऐसी प्रचला जिस दर्शनावरण कर्मके उदयसे हो उसे प्रचलादर्शनावरण कहते है। प्रचला-प्रचला—वही प्रचला बार बार होती रहे उसे प्रचलाप्रचला कहते है। ऐसी प्रचलाप्रचला जिस दर्शनावरण कर्मके उदयसे हो उसे प्रचलाप्रचलादर्शनावरण कहते है। स्त्यानगृद्धि— स्त्यानमे गृद्धि होना स्त्यानगृद्धि है अर्थात् स्वप्नमे कोई अतिशयकारी बलयुक्त कार्य करना स्त्यानगृद्धि है। जैसे दर्शनावरणके उदयसे स्वप्नमे ही रौद्र कर्म कर लिया जाय या बुरा कर्म कर लिया जाय तो वह स्त्यानगृद्धि है। स्त्यानगृद्धि जिसे होती हो वह पुरुष स्वप्नमे भी बडे काम कर लेता है, पर जगनेपर उसे ख्याल नही रहता कि मैंने क्या किया था।

(२५८) **निद्रानिद्रा व प्रचलाप्रचलामे वीप्सार्थक द्वित्वकी सिद्धि**—यहाँ एक शंका होती है कि निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला इन दो भेदोंमे जो एक शब्दका दो बार प्रयोग किया है सो दुबारा प्रयोग करना वहाँ सम्भव है जहाँ उसका नाना आधार बना हो, पर यह सब तो एक ही आत्मामे हो रहा है। तो जब नाना अधिकरण नही है तो वीप्सा अर्थात् दुबारा कहना युक्त नही बैठता। तब निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला ये दो भेद उचित नही विदित होते। इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि वीप्साका यह नियम नही है कि वह नाना अधिकरणोमे रहे। प्रथम बात तो यह है। अभीक्ष्ण अर्थमे याने निरंतर करनेके अर्थमे द्वित्व प्रसिद्ध होता है और वीप्सा भी बन सकती है। यो एक ही आत्मामे निद्राके दो बार अनेक बार आनेसे वीप्साका अर्थ बन जाता है। दूसरी बात यह है कि काल आदिकके भेदसे अधिकरण भी भिन्न सिद्ध हो जाता है। जैसे कोई एक ही बालक गत वर्ष सेकेण्ड डिवीजनमे पास हुआ था और इस वर्ष फर्स्ट डिवीजन और फर्स्ट पोजीशनमे पास हुआ तो उसे लोग कहते है कि यह बालक गत वर्ष तो चतुर था, पर इस वर्ष अत्यंत चतुर है। तो एक ही बालकमे दो अधिकरण मान लिया और वहाँ दो का प्रयोग किया गया। कभी देशकृत दृष्टिसे भी दो का प्रयोग होता है। जैसे पहले अपने गावमे कोई रहता था तो साधारण था, अब वह पासके शहरमे पहुंच गया,

व्यवसाय चल गया तो वह सम्पन्न हो गया तब उससे लोग कहते है कि जो तुम गांवमे थे सो न रहे, अब तुम दूसरे हो गए, सम्पन्न हो गए। तो यो विवक्षावश एक ही वस्तुमे नाना अधिकरण जैसा प्रयोग होता है। ऐसे ही एक जीवमे भी कालादिकके भेदसे निद्रानिद्राका नानाधिकरणत्व सिद्ध हो सकता है तथा एक ही आधारमे निद्राक्रियाका द्वित्व घटनावश बन जाता है। अत निद्रानिद्रा व प्रचलाप्रचलामे वीप्सार्थक द्वित्व कहनेमे कुछ भी विशेष नही है।

**(२५६) निद्रामे साता असातामे से सातावेदनीयके उदयकी प्रधानता**—दर्शनावरण कर्मके भेदोमे जो निद्रा नामक प्रकृति है उस निद्रा दर्शनावरण कर्म और साता वेदनीयका उदय होनेसे निद्रा परिणाम बनता है। निद्रा आनेमे लोग सुखका अनुभव करते है। जैसे किसीको नीद नही आती तो वह चिकित्सा कराकर उपाय बनाकर नीद लेना चाहता है। तो यद्यपि निद्रा दर्शनावरणके उदयमे आत्माका दर्शन नही होता, वस्तुका दर्शन नही होता तो भी वहाँ श्रम, शोक दूर होता हुआ देखा जाता है। तो स्पष्ट वहा साता वेदनीयका उदय है। हाँ उसके साथ असातावेदनीयका भी आगे पीछे मद उदय चलता रहता है। इसी प्रकार शेष चार निद्रावोका भी यही ढग है। इस सूत्रमे ५ निद्रावोका द्वन्द्व समास किया गया है और उनके साथ दर्शनावरणका सम्बध जोडा गया है।

**(२६०) दर्शनावरणकी उत्तरप्रकृतियोका लक्षण व प्रभाव**—इस सूत्रमे जो दर्शनावरणके भेद कहे गए है उनको दो पदोमे रखो। प्रथम पदमे षष्ठी विभक्ति है जिसमे दर्शनावरणका भेद रूपसे निर्देश होता है। द्वितीय पदमे प्रथमा विभक्ति है, सो समान रूपसे, भेद रूपसे दर्शनावरणका सम्बन्ध होता है, जैसे चक्षुदर्शनका आवरण। इस ढगसे तो चार दर्शनोका आवरण कहा जाता है और निद्रारूप दर्शनावरण आदिमे अभेदरूप दर्शनावरण लिया गया है। जिस समय जीवके चक्षुर्दर्शनावरणका उदय है उस समय चक्षु इन्द्रिय द्वारा वह सामान्य प्रतिभास नही कर पाता अर्थात् चक्षुइन्द्रियसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानसे पहले जो प्रतिभास होता है वह नही हो पाता। इसी प्रकार अचक्षुर्दर्शनावरणके उदयसे शेष ४ इन्द्रिय और मन द्वारा सामान्यप्रतिभास नही हो पाता है। उसपर इन दर्शनावरणोका असर होता है, अर्थात् निमित्तनैमित्तिक भावके रूपसे इस दर्शनावरणके उदयके सान्निध्यमे इसका निमित्त पाकर जीव दर्शनगुण प्रकट नही कर पाता। अवधिदर्शनावरणके उदयसे अवधिदर्शन नही होता और केवलदर्शनावरणके उदयसे केवलदर्शन नही होता। निद्रारूप दशा तो एक अधकार अवस्था जैसी है, क्योकि नीद आनेपर उसके इन्द्रियका व्यापार बद हो जाता। न कुछ छूता है, न चखता है, न सूघता है, न देखता है और न सुनता है, पर निद्रानिद्रा दर्शनावरणके उदयसे महान् अधकार जैसी अवस्था हो जाती है, क्योकि इसमे इतनी गाढ निद्रा है कि बहु त

तेज जगाया जानेपर भी सोये हुए पुरुषको हिलाकर जगानेपर भी मुश्किलसे जगता है। प्रचला दर्शनावरणके उदयसे तो कुछ अगोका प्रचलन होता है। घूरना, नेत्रका व शरीरके अगका चलना। जैसे किसीकी आंखें खुली रहती है और वह नीद लेता रहता है तो उस समय उसे दिखता कुछ नही है, आंखें भर खुली है। कैसी विकट अवस्था है कि आंखें पूरी खुली हैं और उसे दिखता नही है। प्रायः करके नीद आंख बंद की हालतमे रहती है, पर किसी किसी के यह दशा पायी जाती है तो भी वहाँ दर्शन कुछ नही होता। प्रचलाप्रचला दर्शनावरणके उदयसे यह जीव बहुत अधिक ऊँघता है और किसी तीक्ष्ण वस्तुसे कुछ शरीर भी छिद जाय तो भी वह कुछ नही देख पाता। ऐसा तीव्र दर्शनका आवरण है। इस प्रकार दर्शनावरण कर्मकी उत्तरप्रकृतियोको बताकर अब तृतीय नम्बरमे पुरुष वेदनीय कर्मके भेदो को बतलाते है।

## सदसद्वेद्ये ॥८-८॥

(२६१) सातावेदनीयकी उत्तरप्रकृतियोका विवरण—सातावेदनीय और असातावेदनीय ऐसी दो उत्तरप्रकृतियां वेदनीय कर्मकी है, जिनके उदयसे देवादिक गतियोमे जहाँ कि बहुत प्रकारके सासारिक आराम है, शारीरिक मानसिक सुखोकी प्राप्ति हो, उसे सातावेदनीय कहते है। सद्वेद्य शब्दमे सत् और वेद्य ऐसे दो विभाग है। सत् मायने भला, शुभ, प्रशस्त, इष्ट है तथा वेद्यका अर्थ अनुभव करने योग्य है। सातावेदनीयके उदयसे दो कार्य होते है—एक तो इष्ट वस्तुवोकी प्राप्ति होना और दूसरा—इन्द्रिय द्वारा सुख रूपसे अनुभव बनना। जिस कर्मके उदयसे अनेक प्रकारके दु ख हो, नारकादिक गतियोमे जैसे शारीरिक मानसिक नाना दु ख पाये जाते है ऐसे कठिन दु.ख होना, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, शरीरकी व्याधियो का होना, दूसरेके द्वारा वध होना, पीटा जाना, बंधन होना, जन्म, जरा, मरण होना ये दु.ख जिसके फल है वह सब असातावेदनीय है। असद्वेद्यमे दो भाग हैं—(१) असत् और (२) वेद्य। असत्का अर्थ है अशुभ, अप्रशस्त, अनिष्ट और वेद्यका अर्थ है वेदनमे आना। असाता वेदनीयके उदयसे अनिष्ट दु खके हेतुभूत पदार्थ और घटनाओका संयोग होता है। और इन्द्रिय द्वारा असाता रूपसे वेदन होता है। इस प्रकार वेदनीय कर्मकी दो उत्तर प्रकृतियोका वर्णन हुआ, अब क्रम प्राप्त मोहनीयके २८ भेदोका वर्णन करते है।

## दर्शनचारित्रमोहनीयाऽकषायकषाय वेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषाया हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा-स्त्रीपुंनपुंसकवेदाः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनविक-

स्पार्शकशः क्रोधमानमाया लोभाः ॥८-६॥

(२६२) मोहनीयकर्मके मूलभेदरूप दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीयमे से दर्शनमोहनीयके प्रकारोका विवरण—मोहनीय कर्मके मूल भेद दो है—(१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयके उदयसे तो जीवको तत्त्वार्थका सत्य श्रद्धान नही हो पाता और अतत्त्व श्रद्धानमे ही बना रहता है। इस दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं—(१) सम्यक्त्व (२) मिथ्यात्व और (३) सम्यग्मिथ्यात्व। इन तीनोमे मूल आधार प्रकृति है मिथ्यात्व, क्योकि बन्ध केवल मिथ्यात्वका होता है। सम्यक्त्वप्रकृति और मिश्र प्रकृतिका बन्ध नही होता फिर उनकी सत्ता कैसे हो जाती है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जब अनन्तानुबन्धी ४ और मिथ्यात्वप्रकृतिके उपशमसे उपशम सम्यक्त्व होता है तो उपशम सम्यक्त्व होनेके प्रथम क्षणमे ही मिथ्यात्व प्रकृति दलित हो जाती है। इस समय मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय तो नही है क्योकि उपशम सम्यक्त्वका अभ्युदय हुआ है, लेकिन सतामे है। तो उस सत्तामे ही रहने वाली मिथ्यात्वप्रकृतिका दलन होता है जिससे कि अधिक दलित मिथ्यात्व प्रकृतिकी कर्मवर्गणायें सम्यक्त्वप्रकृतिरूप बन जाती है। इस सम्यक्त्व प्रकृतिका जब उदय हो तो सम्यक्त्व तो नाश नहीं हो पाता किन्तु सम्यक्त्वमे दोष लगता रहता है, जिन्हे चल, मलिन और अगाढ कहते है। यह पहला सूक्ष्म दोष है। सम्यक् प्रकृतिका उदय क्षयोपशम सम्यक्त्व की स्थितिमे मिलेगा। जहा अनन्तानुबन्धी ४ प्रकृतियोका और मिथ्यात्व प्रकृतिका तथा मिश्र प्रकृतिका उदयाभावी क्षय हुआ और सूक्ष्म प्रकृतियाँ जो सत्तामे स्थित है, जिनका उदय आगे आयगा उनका उपशम हो, ऐसी स्थितिके साथ सम्यक्प्रकृतिका उदय हो तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। तो इस सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे सम्यक्त्वका घात तो नही है किन्तु सम्यक्त्वमे सूक्ष्म दोष लगते रहते हैं। सम्यक्त्व प्रकृतिका कार्य सम्यग्दर्शन नही किन्तु सम्यक्त्वमे दोष लगाना है। मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे जीवके मिथ्यादर्शन रहता है। शरीरको जीवको एक मानना विकारमे स्वभावमे अन्तर न समझ पाना, अहकार, ममकार, कर्तृत्वबुद्धि तथा भोक्तृत्व बुद्धि होना, ऐसे अटपटभाव मिथ्यादर्शन कहलाते है। मिश्र प्रकृतिके उदयमे इस जीवके मिश्र परिणाम होता है, अर्थात् जिसे न तो केवल सम्यक्त्वरूप कहा जा सकता है और न केवल मिथ्यात्वरूप कहा जा सकता, किन्तु जात्यतर जैसी दशा होती है। कोई दही गुडको मिलाकर खाये या दही शक्कर मिलाकर खाये तो उसमे स्वाद न केवल दही का मिल सकेगा न केवल मीठेका मिल सकेगा, किन्तु कोई तीसरा ही स्वाद हो जाता है। ऐसा मिश्र प्रकृतिका जहाँ उदय है वहा अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व का उदयाभावी क्षय है और उपशम है और ऐसे ही यदि सम्यक्प्रकृति सत्तामे है तो

उसका भी उपशमन रहता है। इस प्रकार दर्शनमोहनीयके तीन भेदोका वर्णन हुआ।

**(२६३) चारित्रमोहनीयके भेद अकषायवेदनीय व कषायवेदनीयमेसे अकषायवेदनीयके प्रकारोंमें हास्य, रति, अरति, शोकका निर्देशन**—अब मोहनीयके मूल भेदोमे जो चारित्र मोहनीय है, जिसके उदयसे आत्माके चारित्रगुणका विकास नही हो पाता उस चारित्र मोहनीयके दो भेद कहे गये है— (१) अकषाय वेदनीय और (२) कषाय वेदनीय। जिसके सीधे नाम है नोकषाय और कषाय। नोकषायके ९ भेद है—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा, (७) स्त्रीवेद, (८) पुरुषवेद, (९) नपुंसकवेद। हास्य प्रकृतिके उदयसे हँसीका आविर्भाव होता है। हँसना, मजाक करना, भीतर रोषके कारण दिल्लगी करके खुश होना यह सब हास्यकी घटना है। रति प्रकृतिके उदयसे इष्ट देश, काल, द्रव्यमे उत्सुकता रहती है। प्रीतिका परिणाम बनता है, उसकी ओर खिचाव रहता है। अरति प्रकृतिके उदयसे देश आदिकमे, पदार्थोंमे अनुत्सुकता अप्रीतिका भाव रहता है जिससे कि उससे हटनेका भीतरमे भाव बना रहता है। शोक प्रकृतिके उदयमे रजका परिणाम होता है। किसी भी घटनाको चित्तमे लेकर उसके लाभ अलाभके सम्बधको सोचकर शोक बना रहता है।

**( २६४ ) भयप्रकृतिनामक कषायवेदनीय मोहनीयकर्मके अनुभागका वर्णन**—भय-प्रकृतिके उदयसे ७ प्रकारका भय उत्पन्न होता है। इस लोकमे इस पर्यायमे मेरा गुजारा कैसे होगा, कभी कोई आपत्ति न आवे आदिक बातोको विचार विचार कर इस लोकका भय बना रहता है। ये भय अनेक प्रकारके है, जिनका परिचय साधारणतया सभी मनुष्योको है। कितने प्रकारके भय इस चित्तमे बसे रहते है ? किसीको थोडा बहुत परलोक सम्बधी बात करनी आती है तो वह परलोकका भय बनाये रहता है। पता नही कैसा मुझे जन्म मिलेगा, कही मेरी खोटी दशा न हो, दरिद्र न बनू आदिक अनेक प्रकारके भय होते है। शरीरकी व्याधिका भय बना रहता है। शरीरमे कभी रोग न हो, अगर रोग होता है तो घबड़ाते कि हाय अब क्या होगा, मरण हो जायगा, कैसे बात बनेगी, आदिक अनेक भय भय प्रकृतिके उदयमे चलते है। एक भय अगुप्तिका होता है। मकान खुला है, किवाडोका अच्छा प्रबंध नही है। कही किवाड लगे नही है, कही लगे भी है, किवाड तो अत्यत जीर्ण शीर्ण हालतमे है। ऐसी हालतमे मैं कैसे सुरक्षित रह सकूगा, ऐसा भय भय प्रकृतिके उदयमे चलता है। एक भय अरक्षाका रहता है। मेरी रक्षा करने वाला कोई नही है, किसीकी मुझपर भली-भांति छाया नही है, मेरे मकान आदिक भी ढगसे नही हैं आदिक अरक्षा सम्बन्धी भय भयप्रकृतिके उदयमे चलते है। एक भय मरणका भी होता है। मरणसे प्रायः सभी जीव डरते हैं। जिसको

अपने आत्माके स्वतन्त्र स्वरूपास्तित्वकी श्रद्धा नही है वह मरणभयसे बडा व्याकुल रहता है। यद्यपि मरण होने पर जीवका कुछ बिगडता नही है। जो जीव अपनी सत्तामे है वह अपनी पूरी सत्ता लिए हुए अपनी सर्वगुणसमृद्धिमे रहता हुआ इस शरीरमे न रहकर अगले शरीर मे रहनेके लिए जाता है और नवीन शरीरमे रहता है। तो मरणसे बात भली होने वाली है। एक जीर्ण शीर्ण शरीरको छोडकर किसी नवीन शरीरमे पहुचने वाली खुशी वाली बात है, किन्तु जिनको अपने अस्तित्वका परिचय नही है उनको मरणका भय बना रहता है। एक भय आकस्मिक होता है—अटपटभय। किसी भी घटनाकी कल्पना करके, कही ऐसा न हो बैठे, ऐसे अनेक भय लगाये रहते है। तो भय प्रकृतिके उदयमे इस जीवके भय होता है।

(२६५) **जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद प्रकृति नामक अकषायवेदनीयमोहनीय कर्मके प्रकारोका निर्देशन**— जुगुप्सा ग्लानिको कहते है। मन खराब हो जाना, अधीर हो जाना, ये सब जुगुप्साकी प्रकृतियां है। जुगुप्सा प्रकृतिके उदयसे जुगुप्साके भाव होते हैं। जुगुप्साका पर्यायवाची शब्द कुत्सा हो सकता है, मगर यह जुगुप्साके भावको पूरा नही बता पाता। अपने दोषोका सम्वरण करना, दोषोको ढांकना ऐसी मूलमे बात तो जुगुप्साकी होती है, किन्तु कुत्सामे दूसरेके कुल शील आदिकके दोषोको बतानेका भाव और उनमे दोष हो तो उससे एक क्षुब्ध होनेका भाव होता है। स्त्रीवेद नामकर्मके उदयसे स्त्रियोके जैसे भाव उत्पन्न होते है। पुरुषकी कामना करना, नेत्र विभ्रम करना, कामके आवेशमे रहना, इन भावोको प्राप्त होता है और यह ही भाव स्त्रीवेद कहलाता है। जब स्त्रीवेदका उदय होता है तब पुरुषवेद नपुसकवेद सत्तामे रहते है। स्त्रीका जो शरीर है उसकी रचना तो नामकर्मके उदयसे होती है। पर स्त्रीवेदके उदयसे स्त्रीके सम्भवभाव हुआ करते हैं। और इसी कारण कोई शरीरसे पुरुष हो उसके भी स्त्रीवेदका उदय सम्भव है, इसी प्रकार शरीरसे कोई स्त्री हो तो उसके भी पुरुषवेदका उदय सम्भव है। पुरुषका शरीर भी नामकर्मके उदयसे बना हुआ है, और उसमे वेद विषयक भाव इस चारित्रमोहनीयके उदयसे होता है। पुरुषवेदके उदयसे जीव पुरुष सम्बधी भावोको प्राप्त होता है और नपुसक वेदके उदयसे नपुसकोके भावको प्राप्त होता है। इस प्रकार नोकषायकी प्रकृतियोका वर्णन हुआ।

(२६६) **कषायवेदनीय मोहनीयके सोलह प्रकारोमे से क्रोधसम्बन्धित चार प्रकारोका निर्देश**— अब चारित्रमोहनीयका दूसरा भेद है कषायवेदनीय। इसके १६ भेद होते है— अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। क्रोध रोषका नाम है। अपने या दूसरेके उपघात या अनुपकार आदिक करनेके क्रूर परिणाम क्रोध कहलाते हैं।

क्रोधमे यह जीव अपना भी घात कर लेता है, दूसरेका भी घात करता, अपना भी बिगाड करता, दूसरेका भी बिगाड करता है। यह क्रोध चार प्रकारका है--अनन्तानुबंधी क्रोध जो पत्थरपर छेदी गई रेखाके समान चिरकाल तक रहता है। इस क्रोधसे मिथ्यात्वका सम्बंध बना करता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध--जैसे जोते गए खेतमे हलकी लकीर पड जाती है और कुछ ही महीनोमे मिट जाती है ऐसे ही अप्रत्याख्यानावरण क्रोध ६ महीनेसे अधिक नही रह पाता। क्रोध तो कोई सा भी लगातार १० मिनट भी नही रह सकता। उसके बीचमे अन्य अन्य कषायें आती रहती है, पर इस क्रोधका संस्कार ६ महीनेसे अधिक नही चलता। हां अनन्तानुबन्धी क्रोधका सस्कार ६ माहसे अधिककी तो बात क्या, वह तो अनेक भवो तक चलता रहता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोधके उदयसे अणुव्रतके भाव नही हो पाते। प्रत्याख्यानावरण क्रोध–यह धूलीकी रेखाके समान है। इसका कुछ ही दिन रहना कठिन होता है। इस क्रोधमे महाव्रतका भाव नही हो पाता। सज्वलन क्रोध–यह क्रोध जलमे लाठीसे लकीर खीचने पर जैसे जलकी लकीर तुरत ही विलीन हो जाती है ऐसे ही यह सज्वलन क्रोध अंतर्मुहूर्त ही रहता है। इससे अधिक इसका सस्कार भी नही रहता। इस क्रोधमे यथाख्यात-चारित्र नही होता।

**(२६७) कषायवेदनीयमोहनीयके १६ भेदोमे से मानकषाय सम्बन्धित चार प्रकारोका निर्देशन**—मानकषाय– जाति, कुल आदिकके घमडसे दूसरेके प्रति नमन करनेका परिणाम न होना मान कषाय है। यह मान कषाय भी चार प्रकारका है। अनन्तानुबधी मान—जैसे पत्थरका खम्भा अत्यन्त कठोर होता है, उसमे नमन रच भी नही है, इस तरहका कठोर होना, नम्रता रंच न होना अनतानुबधी मान है। यह मान मिथ्यात्वको पुष्ट करने वाला है। अप्रत्याख्यानावरणमान—जैसे कि हड्डी पत्थरकी तरह कठोर नही है, उसमे कुछ नमने की योग्यता है, इसी प्रकार जो अत्यन्त कठोर नही, किन्तु उसके बादका कठोर हो वह अप्रत्याख्यानावरण मान है। इस कषायके उदयसे जीव अणुव्रत धारण नही कर सकता। प्रत्याख्यानावरणमान—जैसे लकडी हड्डीसे अधिक नम्र रहती है फिर भी कठोरता है इसी प्रकार जिसमे कुछ नम्रता आयी हो वह प्रत्याख्यानावरण मान कषाय है। इस कषायके उदयसे महाव्रत धारण नही किया सकता है। सज्वलनमान–जैसे लता अत्यन्त नम्र होती है फिर भी उसमे साधारण कठोरता है। उसकी तरह जहाँ अतीव कम कठोरता हो उसे सज्वलन मान कषाय कहते है। सज्वलन मान कषायके उदयसे यह जीव अपने सहज शुद्ध स्वरूपको विकसित नही कर सकता। यथाख्यात चारित्र नहीहो सकता।

**( २६८ ) कषायवेदनीयमोहनीयकी मायासम्बन्धित चार प्रकारोका निर्देश**—माया

कषाय–छल कपट करना माया है। यह माया भी ४ प्रकारकी है—(१) अनतानुबधी माया–मायाका स्वरूप टेढेपनसे चलता है। मनमे ओर, वचनमे ओर, करे कुछ ओर, जहाँ ऐसी बक्रता है वही तो माया कषाय है। तो जो माया बाँसकी जडकी तरह है, गठीली रहे, बहुत बक्र रहे, वह अनन्तानुबधी माया है। इसके उदयसे सम्यक्त्व प्रकट नही होता। अप्रत्याख्यानावरणमाया—जो माया अनन्तानुबधीसे कम टेढी हो, मेढेके सीगकी तरह जहाँ टेढापन पाया जाय उसे अप्रत्याख्यानावरण माया कहते है। इस कषायके उदयमे यह जीव अणु व्रत धारण नही कर सकता। (३) प्रत्याख्यानावरण माया—जो अप्रत्याख्यानावरणसे तो कम कुटिल है, फिर भी कुटिलता पायी जाती है। जैसे बैल मूतता हुआ जा रहा है तो उसके मूत्र की जैसी कुटिल रेखायें है इस प्रकारका जो कुटिल भाव है वह प्रत्याख्यानावरण माया है। इसके उदयसे यह जीव महाव्रत नही धारण कर सकता। (४) सज्वलनमाया—जिसमे अत्यत कम कुटिलता है, लेखनी कलमके समान साधारण ही कुटिलता है वह सज्वलन माया है। इसके उदयमे यह जीव यथाख्यात चारित्र नही पाल सकता।

(२६९) **कषायवेदनीयमोहनीयके सोलह भेदमे से अन्तिम लोभसम्बधित चार प्रकारो का कथन**—लोभकषाय—लोभ, तृष्णा, आशा आदिक परिणामको कहते है। लोभकषायका इतना गहरा रग है जीवपर कि यह प्रसिद्धि हो गई कि लोभ पापका बाप बखाना। सर्व पापोमे प्रधान पाप लोभ है। जिसका सस्कार बडी कठिनाईसे छूटता है। यह लोभ भी चार प्रकारका है–(१) अनन्तानुबंधी लोभ—धन आदिककी तीव्र आकाक्षा, अत्यत गृद्धि, विषयोकी बडी आसक्ति होना, जिसका सस्कार जन्म जन्म तक रहता है वह अनन्तानुबन्धी लोभ है। जैसे किरमिची रग कपडा फट जाय तो भी नही छूटता, ऐसे ही यह लोभकषाय भव भवमे इस जीवको परेशान करतो है। इस अनन्तानुबधी लोभके उदयमे जीवका मिथ्यात्वभाव पुष्ट होता रहता है। अनन्त नाम मिथ्यात्वका है। जो मिथ्यात्वका सम्बन्ध बनाये, पोषण करे सो अनतानुबधी है। (२) अप्रत्याख्यानावरणलोभ–जैसे काजलका दाग किरमिचीके रगसे तो हल्का है, फिर भी यह बडे प्रयत्नसे छूटता है, ऐसे ही अनन्तानुबधी लोभसे तो गृद्धि कम है, फिर भी उतनी गृद्धि है कि जिसके कारण यह जीव अणुव्रत भी धारण नही कर सकता। (३) प्रत्याख्यानावरण लोभ—जैसे कीचडका रग कुछ जल्दी धुल सकता है ऐसे ही जो लोभकषाय १५ दिन तकका भी सस्कार बना सके उसे प्रत्याख्यानावरण लोभ कहते है। इसके उदयमे महाव्रतके परिणाम नही हो सकते हैं। (४) सज्वलन लोभ–यद्यपि सयमका विरोधी तो नही है। इतना कम लोभ है, फिर भी यथाख्यात चारित्र नही हो सकता। इसका दृष्टान्त है हल्दी का रग। यह जल्दीसे छूट जाता है। सज्वलनकषायका सस्कार अन्तर्मुहूर्त ही रहता है। इस

प्रकारचारित्रमोहनीयका जो दूसरा भेद है कषायवेदनीय उसके १६ भेद कहे गए है। मोह-नीयकी समस्त उत्तरप्रकृतियां मिलकर २८ है। सो यह सब मोहनीय कर्मका ही परिवार है। अब क्रम प्राप्त आयुकर्मकी उत्तर प्रकृतियोको कहते है।

## नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥८-१०॥

(२७०) **आयुकर्मका लक्षण व आयुकर्मके भेद**—नारकायु, तिर्यगायु, मानुषायु और देवायु, इस प्रकार आयु चार प्रकारकी उत्तर प्रकृतिरूप हैं। नरकभवमे जो होवे उसे नारक कहते है और नारककी आयुको नारक आयु कहते हैं। इस प्रकार शेष ३ गतियोमे भी लेना। आयुका अर्थ है—जिसका सद्भाव होनेपर जीवन रहे और जिसका अभाव होनेपर मरण हो जाय उसे आयु कहते हैं। अर्थात् भव धारण कराये सो आयु है। यहाँ शकाकार कहता है कि जीवनका कारण तो अन्नादिक है, फिर उसीको ही आयु समझ लेना चाहिए। अन्न आदिक का लाभ मिले तो जीवन रहता है, अन्नादिक न मिले तो मरण हो जाता है। फिर आयुका क्या अर्थ रहा ? इस शंकाके उत्तरमे कहते है कि यह सदेह यो न करना कि भवधारणका निमित्त तो आयु ही है और उस आयुकर्मका अनुग्राहक अन्नादिक है, जैसे मृत्पिण्डसे घडा बने, उसका अंतरंग कारण तो मृत्पिण्ड है, किन्तु उसका उपग्राहक दड, चक्र आदिक है, इसी प्रकार भवधारणका अतरंग कारण तो आयु ही है और अन्नादिक उसके उपग्राहक है। जब आयुका अभाव होता है, आयु क्षीण होने लगती है उस समय अन्नादिक कितने ही सामने रख दें तो क्या वे जीवित रख सकेंगे ? उसका तो मरण ही देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि देव और नारकियोमे तो अन्नादिक नही है, न उनका सेवन है, फिर भी उनका जीवन मरण है। तो अन्नादिकको जीवनमरणका कारण नही कह सकते। जो सभी आयुवोमे घटित हो वह बात यहाँ समझनी चाहिये।

(२७१) **आयुके चार उत्तरप्रकृतिप्रकारोंका विवरण**—नरकायुके उदयसे जीवका नरकोमे लम्बा जीवन होता है। वहाँ तीव्र शीत, उष्णकी वेदना हुआ करती है। उसके निमित्त से दीर्घ जीवन होता है। तो जो नरकभवको धारण कराये उसे नरकायु कहते हैं। तिर्यक् आयुके उदयसे क्षुधा, प्यास, ठड, गर्मी, डास, मच्छर आदिक जहाँ वेदनायें है ऐसे तिर्यंचभव मे बसना होता है। जो तिर्यंचके भवको धारण कराये उसे तिर्यगायु कहते है। मनुष्यायुके उदयसे मनुष्यभवमे जन्म होता है। जहाँ शारीरिक मानसिक दु:ख भी हैं, ऐसे मनुष्योंमे इस आयुके उदयमे जन्म होता है। देवायुके उदयसे देवगतिमे जन्म होता है। जहाँ प्राय. साधारण मानसिक सुख ही पडे हुए है। प्रायः शब्द इसलिए लगाया है कि कही यह न समझें कि हर समय देवोको पूरा सुख रहता है। देवोकी जो देवियां हैं उनकी आयु बहुत कम होती है और

एक देवके जीवनमे लाखो करोडो देविया गुजर सकती है। उनका वियोग होता है, उससे भी उन्हे दु ख होता है। अपनेसे बडी ऋद्धि वाले देवोकी सम्पन्नता, आज्ञा आदिक जब निरखते है तो उससे भी उन्हे कष्ट होता है। मरणका चिन्ह उनकी ही छातीपर बनी हुई प्राकृतिक मालाका मुरझा जाना है। तो जब उस मालाको मुरझाया हुआ देखते है तो उनको मानसिक दुःख होता है। तो सर्वथा सुख ही हो देवगतिमे यह बात नही है, किन्तु प्राय करके सुखी रहा करते है। ऐसा इन चार आयुवोका वर्णन किया। अब उस आयुके अनन्तर क्रम प्राप्त नामकर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ बतलाते हैं।

**गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्‌वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशस्कीर्तिसेतराणि तीर्थंकरत्वं च ॥ ८-११ ॥**

(२७२) **नामकर्मकी पिण्डरूप व अपिण्डरूप ब्यालीस प्रकृतियोमे से गतिनामकर्म व उसके प्रकारोंका वर्णन**—नामकर्मकी ४२ उत्तरप्रकृतियाँ बतलाते है जिनमे कुछ पिण्ड प्रकृतियाँ हैं और कुछ फुटकर प्रकृतियाँ है। उन प्रकृतियोका इस सूत्रमे निर्देश किया गया है। प्रथम है गतिनामकर्म। जिसके उदयसे आत्मा अन्य भवको जाता है उसे गति कहते है। यद्यपि गति शब्दका अर्थ यही हुआ कि जाय सो गति, फिर भी रूढिके वशसे किसी गति विशेषमे इसका अर्थ लगता है, और किसी गतिमे जाना तो मरणके बाद ही होता है एक बार, फिर तो जब तक वह आयु रहती है तब तक गति बनी रहती है। सो कही ऐसा न जानना कि जब आत्मा न जाता हो तो वह गति न कहलाता होगा। गतिका भावार्थ है ऐसी आयु वाले भवमे जन्म लेना जहा उसके अनुरूप भाव बनता रहे। तो गतिनामकर्मके उदयसे उस उस गतिमे उस उस तरहके भाव होते है। यह गति नामकर्म ४ प्रकारका है—(१) नरकगति, (२) तिर्यञ्चगति, (३) मनुष्यगति, (४) देवगति। नरकगति नामकर्मके उदयसे आत्माके नरकगति जैसा भाव होता है, ऐसे ही समस्त गतियोमे समझना। जैसे जिस जीवका मनुष्यगतिमे जन्म हुआ है तो उसका उठना, बैठना, खाना सब कुछ मनुष्यो जैसा ही चलेगा। तिर्यञ्चगतिमे जन्म हुआ है तो अब तिर्यंच जैसा ही चलेगा। मनुष्य घास खाना पसंद नही करते, तिर्यंचको घास बहुत बडे मीठे व्यञ्जनकी तरह लगता। ऐसे ही अन्य व्यवहार तिर्यञ्चके तिर्यञ्चोके साथ चलते हैं, मनुष्यके मनुष्योके साथ चलते है।

( २७३ ) **जातिनामकर्म व उसके प्रकारोका वर्णन**—जातिनामकर्म उन नारकादि

गतियोमे समानतासे एक रूप किये गये प्राणिवर्गको जाति कहा जाता है। जाति जिस नामकर्म के उदयसे हो उसका नाम है जातिनामकर्म। जातिनामकर्म ५ प्रकारका है। एकेन्द्रिय जाति, दोइन्द्रिय जाति, तीनइन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति और पचेन्द्रिय जाति नामकर्म। जिसके उदयसे आत्मा एकेन्द्रिय बने उसे एकेन्द्रिय जाति नामकर्म कहते हैं। इन्द्रियाँ ५ होती है--(१) स्पर्शन, (२) रसना, (३) घ्राण, (४) चक्षु और (५) कर्ण। एकेन्द्रिय जीवके केवल स्पर्शनइन्द्रिय होती है। दोइन्द्रिय जीवके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती है। तीन इन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रिय होती है। चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं और पञ्चेन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे पाँचो ही इन्द्रियाँ होती है। तो इन्द्रियकी दृष्टिसे इन जीवोमे समानता है इसलिए इनको जाति कहते है। जैसे जितने एकेन्द्रिय जीव है वे सब स्पर्शनइन्द्रिय वाले है और स्पर्शनइन्द्रियसे ही उनके ज्ञानादिक चलते हैं। इस सदृशताके कारण केवल स्पर्शनइन्द्रिय वाले जीवोको एकेन्द्रिय जाति कहा जाता है। इसी प्रकार शेष सभी जातियोमे समझना।

(२७४) **शरीरनामकर्म व उसके प्रकारोका वर्णन**—शरीर नामकर्म—जिसके उदय से आत्माके शरीरकी रचना हो वह शरीर नामकर्म है। शरीर आहार वर्गणाओके परमाणु-पुञ्जमे बनता है मगर उस निर्माणमे निमित्त है शरीर नामकर्मका उदय। शरीर ५ प्रकारके हैं। उन शरीरोके निमित्तकारणभूत कर्म भी ५ प्रकारके है। औदारिक शरीर नामकर्म—जिसके उदयसे औदारिक शरीर बने। ये शरीर मनुष्य और तिर्यञ्चोके हुआ करते है। वैक्रियक शरीर नामकर्म—जिसके उदसे वैक्रियक शरीरकी रचना हो। यह शरीर देव और नारकियोके होता है। आहारक शरीरनामकर्म—जिसके उदयसे आहारक शरीरकी रचना होती। आहारक शरीर आहारक ऋद्धि वाले छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके होता है। तैजस शरीर नामकर्म—जिसके उदयसे तैजस शरीरकी रचना होती है। औदारिक आदिक शरीरमें जो तेज पाया जाता है वह तैजस शरीरकी ही तो झलक है। कार्माण शरीर नामकर्म— जिस कर्मके उदयसे कार्माण शरीरकी रचना है वह कार्माण शरीर नामकर्म है। जीवके कर्म बँधते हैं, पर उन बँधे हुए कर्मोंका उस कार्माण शरीरमे समावेश होना यही तो कार्माण शरीरकी रचना है जैसे ईंट और भीत। ईंटें पडी हैं, उन ईंटोको सिलसिलेसे लगाकर भीत बना दी तो भीतमे ईंट ही तो है, जो बाहर पडी थी वही एक भीतकी रचनामे आ गया, पर ईंट वहीकी वही है, इसी प्रकार जो कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बनती है, उस रूप परिणमती हैं वह सब कार्माण शरीरकी रचनामे सत्तामे रहती है, वह आकार वह कार्माण शरीर है।

(२७५) **अङ्गोपाङ्गनामकर्म व निर्माणनामकर्मका वर्णन**—अगोपाग नामकर्म—

जिसके उदयसे शरीरमे अंग और उपांगकी रचना हो वह अगोपांग नामकर्म है। जिस नाम-कर्मके उदयसे सिर, पीठ, पेट, जघा, बाहु, नितम्ब, पैर और हाथ इन ८ अगोकी रचना होती है और इन अगोमे होने वाले छोटे अन्य अगोपांग कहलाते हैं, उनकी भी रचना होती है वह अगोपाग नामकर्म कहलाता है। अगोपाग नामकर्म तीन प्रकारका है—(१) औदारिक शरीर अगोपाग (२) वैक्रियय शरीर अगोपांग और (३) आहारक शरीर अगोपाग। तैजस शरीर और कार्माण शरीरमें अगोपाग नही होते क्योकि ये इन तीन शरीरोके आधारमे रहते हैं और उस ही जैसा इनका आकार बनता है। निर्माणनामकर्म—जिस नामकर्मके उदयसे रचना, माप और स्थानकी विधिसे बने उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं। यह निर्माण नामकर्म दो प्रकारका होता है—(१) स्थाननिर्माण और (२) परिमाण निर्माण। स्थाननिर्माण नामकर्म के कारण तो जिस स्थानपर जो अग रचा जाना चाहिए वैसा ही वह अग बनता है और परिमाण निर्माण नामकर्मके उदयसे जिस परिमाणमे, जिस भवमे जो अग बनना चाहिए उस ही परिमाणमे उस अगकी रचना होती है। अब जैसे हाथीकी नाक यदि मनुष्यके नाकके बराबर ही बनी हो तो उसको तो सारी असुविधायें हुई। हाथीके लिए तो उस परिमाणकी ही नाक चाहिए। और कदाचित् मनुष्यकी नाक हाथीके नाककी तरह बना दी जाय तो उसको बहुत तकलीफ होगी। तो जिस भवमे जहाँ जिस परिमाणसे जिस अगोपागको रचना होनी चाहिए उस ही परिमाणमे हो वह परिमाण नामकर्म कहलाता है। यह स्थान और परिमाण निर्माण जातिनामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखता है याने जिस जातिमे जैसा स्थान चाहिए, जो परिमाण चाहिए उस प्रकारकी रचना होती है। निर्माण नामकर्मकी व्याख्या इस प्रकार है। निर्माण शब्दमे निर् तो उपसर्ग है और मा धातु है, जिसकी निरुक्ति है—निर्मी-यते अनेन इति निर्माण।

(२७६) बन्धन व सघात नामकर्मका विवरण—बन्धन नामकर्म—इस नामकर्मके उदयसे शरीर नामक कर्मोदयको प्राप्त पुद्गलका परस्परमे प्रदेशका सम्बध हो जाता है अर्थात् शरीर नामकर्मके उदयसे तो शरीरवर्गणाओको ग्रहण किया। ग्रहण किया हुआ वह पुद्गल एक दूसरेसे सट जाय, सम्बन्धित हो जाय, यह बन्धननामकर्मके उदयसे होता है। यदि बन्धन नामकर्मका अभाव हो तो शरीरके प्रदेश फिर इस तरहसे इकट्ठे रहेगे जैसे कोई लकडी बेचने वाला लकडीका गट्ठा बना लेता है। उस गट्ठेमे लकडी तो सब सग्रहीत है, किन्तु एकका दूसरे से भिन्न-भिन्न प्रविष्ट नही है। फिर तो शरीर भी इसी तरहका हो जाता, किन्तु ऐसा नही है। शरीरके स्कध एक दूसरेसे टसे हुए बँधे हुए हैं। यह बधननामकर्मके उदयका विपाक है। यह बधननामकर्म भी ५ प्रकारका है—(१) औदारिकशरीरबधन नामकर्म, (२) वैक्रियक-

शरीरबंधन नामकर्म, (३) आहारकशरीरबंधन नामकर्म, (४) तैजसशरीरबंधन नामकर्म, (५) कार्माणशरीरबन्धन नामकर्म । अपने-अपने बन्धन नामकर्मके उदयसे अपने-अपने शरीर स्कधों का परस्पर सश्लेष हो जाता है । सघात नामकर्म--इस नामकर्मके उदयसे औदारिक सहित शरीर स्कध जिन्हे अन्योन्य प्रवेश बन्धन नामकर्मसे मिल रहा है उनका परस्पर ऐसा सट जाना कि भीतरमे कोई छिद्र भी न रहे, इस प्रकारका एकत्व बनना सघातनामकर्मके उदयसे होता है । यदि सघात नामकर्मका उदय न हो तो जैसे चनेके लड्डूका जो बन्धन होता है तो उसमे परस्परमे बीचमे छिद्र रह जाता है इसी तरह यदि सघात नामकर्म न हो तो शरीर के स्कध परस्पर मिल तो जायेंगे, मगर बीच-बीचमे छेद रहेगे, किन्तु ऐसा तो नही है। शरीर तो बिना छिद्रके ही अच्छी तरहसे गुथा हुआ है । सघात नामकर्म ५ प्रकारका है— (१) औदारिकशरीर सघात नामकर्म, (२) वैक्रियकशरीर सघात नामकर्म, (३) आहारक-शरीरसघात नामकर्म, (४) तैजसशरीर सघात नामकर्म और (५) कार्माणशरीर संघात नाम-कर्म । इनमे प्रत्येकके उदयसे उन-उन शरीरोके स्कंध पूरे सिमट करके शरीरसे सम्बद्ध होते है ।

(२७७) संस्थाननामकर्म व उसके प्रकारोका वर्णन — संस्थान नामकर्म—जिस नाम कर्मके उदयसे शरीरका आकार बनता है उसे संस्थान नामकर्म कहते है । यह ६ प्रकारका है—(१) समचतुरश्रसस्थाननामकर्म—शरीरका आकार कितना सुडौल होना जो सर्वोत्कृष्ट सुन्दर आकार होता है--कितनी भुजायें होना, कितने पैर होना नाभिसे नीचेके अंग भी उतने ही विस्तृत है जितने कि नाभिसे ऊपर होते हैं । यह तीर्थंकरोके तो पाया ही जाता है, अन्य पुरुषोके भी पाया जाता है । (२) न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थान नामकर्म—जिस नामकर्मके उदयसे वडके पेडकी तरह आकार हो अर्थात् नाभिसे नीचेके अग छोटे हो और नाभिसे ऊँचे के अग विस्तृत हो । (३) स्वातिसस्थान नामकर्म—इस नामकर्मके उदयसे शरीरका आकार सांपकी वामीकी तरह होता है अर्थात् नाभिसे नीचेके अगका विस्तार अधिक होता है और नाभिसे ऊपर विस्तार कम होता है । (४) कुब्जकसंस्थान नामकर्म इस नामकर्मके उदयसे शरीर कुवडा होता है । जैसे पीठपर कूबड निकल आना इस तरहके अग होते हैं । (५) वामन सस्थान नामकर्म—इस नामकर्मके उदयसे शरीरका आकार बौना होता है । जैसे कि कही कही बौने मनुष्य पाये जाते हैं । बुद्धि बल सब बडे लोगो जैसा होता, पर कद छोटे बच्चो जैसा छोटा होता है । (६) हुडक सस्थान नामकर्म — इस नामकर्मके उदयसे सर्व अगोपांग अटपट हुआ करते हैं, जैसे गाय, भैंस, कीडा मकोडा आदि कितनी ही तरहके जीव पाये जाते । मनुष्योमे भी जहाँ कोई ऊपरके ५ संस्थानोमे से एक भी नही है किन्तु किसीका चिन्ह

मिल रहा, कुछ किसीका आकार है तो वह भी हुडक सस्थान कहलाता है।

(२७८) **सहनन नामकर्म व उसके प्रकारोका वर्णन**—सहनननामकर्म— जिसके उदय से हड्डियोका बन्धन विशेष होता है उसे सहनन नामकर्म कहते है। यह ६ प्रकारका होता है। (१) वज्रवृषभनाराचसहनन नामकर्म—इस नामकर्मके उदयसे वज्रके हाड, वज्रके बेंठन और वज्रकी कीलियां होती है। उनसे बडा दृढ रचा हुआ शरीर होता है। बेंठन कहलाता है हड्डीके ऊपर चढे हुए भीतरी मांसपिण्ड। ये सब वज्रके होते हैं। इस सहननधारी पुरुषका शरीर बहुत मजबूत होता है। पर्वतसे भी गिर जाय यह शरीर तो भी इस शरीरके खण्ड नही हो पाते। श्री हनुमान जी जिनका जन्म वनमे गुफामे हुआ था और अचानक उनके मामा वायुविमानसे जा रहे थे, वह विमान वहाँ स्थिर हो गया तो नीचे जाकर देखा कि उसकी ही बहन अजनाके पुत्र हुआ था सो वह पुत्रसहित अजनाको अपने विमानमे बैठाकर जा रहा था। अचानक ही वह बालक हनुमान खेलते हुए मे विमानसे नीचे जा गिरा। उस समय अजनाने भारी विकल्प किया। खैर विमान रुका, नीचे जाकर देखा तो क्या देखनेमे आया कि वह हनुमान बालक पत्थरकी एक शिलापर गिरा था, शिलाके टूक टूक हो गए थे पर बालक हनुमान प्रसन्न मुद्रामे अपने पैरका अगूठा चूस रहा था। उस समय हनुमानके मामाने अजनासे बताया कि बालक हनुमान मोक्षगामी जीव है, इसी भवसे मोक्ष जायगा। यह बहुत पवित्र आत्मा है। तब उस बालक हनुमानको तीन प्रदक्षिणा देकर उठाया और अजना बहुत प्रसन्न हुई। तो वज्रवृषभनाराचसहननसहित जो होता है वह जीव मोक्ष जा सकता है, और ७वें नरकमे भी इस सहननका धारी जीव उत्पन्न हो सकता है। (२) वज्रनाराचसहनन नामकर्म—वज्रके हाड और वज्रकी कीली हो, पर बेंठन वज्रमय न हो, ऐसे शरीरको जो रचे उसे बज्रनाराचसहनन नामकर्म कहते हैं। (३) नाराचसहनन नामकर्म— इस नामकर्मके उदयसे कीलियां तो होती हैं वज्रमयी, पर अस्थि और बेंठन बज्रके नही होते। (४) अर्द्धनाराच सहनन— इस नामकर्मके उदयसे कीलियोसे हड्डिया जडी होती है। जैसे एक हड्डीमे दोनो तरफ कीली निकली है और दूसरी हड्डीमे दोनो तरफ छिद्र हैं तो वे दोनो तरफकी कीली उन छिद्रोमे टसी हुई हैं, इसी पर इस सहननमे काफी कीलियां होती है। (५) कीलकसहनन इस सहननसे केवल कीलका जैसा ही सकेत रहता है और ये दोनो ही अन्तमे कीलीसे रचे हुए होते है। (६) असम्प्राप्तासृपाटिका सहनन––इस नामकर्मके उदय से भीतर हड्डियोका परस्पर बध तो नही होता किन्तु नशाजाल, मांस आदिक लिपटकर वे हड्डियां इकट्ठी रहा करती हैं। इस नामकर्मके उदयमे शरीर विशिष्ट बलशाली नही होता। इस शरीरमे कोई झटका लगे, पेडसे गिरे या कोई एक्सीडेन्ट हो तो हड्डी भी टूट सकती है

और अलग भी हो सकती है नसाजाल भी बिखर सकता है।

(२७९) स्पर्शनामकर्म व उसके प्रकारोंका वर्णन—स्पर्शनामकर्म– जिस नामकर्मके उदयसे शरीरमे स्पर्शका प्रादुर्भाव हो उसे स्पर्शनामकर्म कहते है। यद्यपि स्पर्श सभी पुद्गलमे होते है, शरीर भी पुद्गल है, तो पुद्गलके नाते स्पर्श होना प्राकृतिक बात है, फिर इसे नामकर्ममे क्यो रखा ? ऐसी आशका हो सकती है। याने स्पर्श नामकर्म नही होता। वह जब शरीर पुद्गल है तो स्पर्श तो हुआ करते, फिर इन कर्मोंकी क्या आवश्यकता रही ? इस शङ्काका समाधान यह है कि इस स्पर्श नामकर्मके उदयसे प्रतिनियत शरीरमे प्रतिनियत स्पर्श होता है। जैसे जितने घोडे है उनका स्पर्श घोडो जैसा मिलेगा, मनुष्योमे उनका स्पर्श मनुष्यो जैसा मिलेगा। तो ऐसे शरीरमे जो एक नियत सा स्पर्श होता है यह स्पर्श नामकर्म के उदयसे है। इसके ८ भेद है—करकसनामकर्म–इससे शरीर कठोर मिलता है। मृदुनाम-कर्म–इससे शरीरमे कोमलता होती है। गुरुनामकर्म–इससे शरीरमे वजन होता है। लघुनाम-कर्म—इससे शरीरमे चिकनाई होती है। स्निग्ध नामकर्म–इस नामकमके सभीके और भी अनेक प्रकार है जिससे नाना प्रकारके स्निग्धके अश पाये जाते है। रूक्षनामकर्म–जिसके उदय से शरीरमे रूखापन हो। शीतनामकर्म–जिसके उदयसे शरीरमे ठडापन हो, उष्णनामकर्म–जिसके उदयसे शरीरमे गर्मी हो।

(२८०) रसनामकर्म व उसके प्रकारोका वर्णन—रस नामकर्म– इसके उदयसे शरीरमे विभिन्न रस हुआ करते है। यहाँ भी वही शका समाधान समझना कि जब शरीर पौद्गलिक है तो रस तो हुआ ही करता, फिर रस नामकर्मकी क्या आवश्यकता रही ? तो उत्तर यह है कि रस नामकर्मके उदयसे प्रतिनियत शरीरमे प्रतिनियत रस रहता है। जैसे मनुष्योके शरीरमे मनुष्यो जैसा रस मिलेगा, गाय, पशु आदिकके शरीरमे उन जैसा होगा। तो शरीर पुद्गलमय है तो रस होता है पर रस नामकर्मके उदयसे उसमे विशेषता बनती। जिन जिन शरीरोमे जैसा रस सम्भव है वैसा ही होगा। रस नामकर्म ५ प्रकारके है—तिक्तनामकर्म—जिसके उदयसे शरीरमे तीखा रस हो—जैसे नमक, मिर्च जैसा। अथवा पसीना आने पर पसीनेका रस तीखा ही होता है। कटुक नामकर्म– जिसके उदयसे शरीरमे कडवा रस हो। किसी मनुष्यके शरीरपर मच्छर कम बैठते हैं, किसीके शरीरपर अधिक, तो उसका कारण यह है कि जिनके कटुक शरीर नामकर्मका उदय है उनके कडवा रस होता है। वह मच्छरोको इष्ट नही है। कषाय नामकर्म—जिसके उदयसे शरीरका रस कषायला हो। आम्लनामकर्म—जिसके उदयसे शरीरका रस खट्टा हो। मधुर नामकर्म–जिसके उदयसे शरीरका रस मधुर हो।

(२८१) गन्धनामकर्म व वर्णनामकर्म तथा उनके प्रकारोका वर्णन—गध नामकर्म-जिसके उदयसे शरीरमे विविध गंध उत्पन्न हो। शरीर पौद्गलिक होनेसे गध तो होता, पर नामकर्मके उदयके कारण प्रतिनियत शरीरमे प्रतिनियत गध होना है। जैसे जितने घोडे है उनकी गध घोडो जैसी ही होती है। लोग कैसे परख जाते हैं कि यहाँ रीछ रहता है ? रीछ जैसी गंध आती है। सिंह कैसे जान जाता है कि यहाँ कोई गाय, बैल मौजूद हैं ? उनकी वैसी ही गध आती है। तो जिन शरीरोमे जैसी गध है उन शरीरोमे उस जातिकी वैसी ही गध होना यह गध नामकर्मके उदयसे है। वर्णनामकर्म—इस नामकर्मके उदयसे प्रतिनियत शरीरो मे प्रतिनियत जैसा वर्ण होता है। शरीर पौद्गलिक होनेसे कोई न कोई रूप तो रहता ही है, मगर नामकर्मके कारण जैसा रूप होना है वैसा ही होता है। जैसे गायका रूप सब गायो जैसा हुआ करता है, मनुष्योका रूप मनुष्यो जैसा हुआ करता है। किसी मनुष्यका रूप कही भैंस जैसा न हो जायगा। तो इस प्रकार प्रतिनियत रूप रहा करता है। ये नामकर्म ५ प्रकार के हैं। कृष्णवर्ण नामकर्म—इसके उदयसे शरीरका वर्ण काला होता है। नीलवर्ण नामकर्म—इसके उदयसे शरीरका वर्ण नीला होता है। रक्तवर्ण नामकर्म—इसके उदयसे शरीर का वर्ण लाल होता है। पीतनामकर्म—इसके उदयसे शरीरका वर्ण हल्दीके समान पीला होता है। शुक्लवर्ण नामकर्म—इसके उदयसे शरीरका वर्ण श्वेत होता है।

(२८२) शरीररचनाके निमित्तकारणका प्रकाशन—कुछ लोग मानते हैं कि इस शरीरकी रचना करने वाला कोई एक विधाता है। यदि कोई एक आत्मा जगतके जीवोके शरीरोको रचता है तो वह रचने वाला क्या निमित्त कारण होकर रचता है या उपादान कारण बनकर रचता है ? यदि वह ईश्वर निमित्त कारण बनकर रचता है तो इसकी मीमासा तो फिर हो जायगी, पर इतना तो निश्चत हो गया कि उपादानभूत पुद्गल वर्गणायें अवश्य है, और जिसमे शरीर रचा जाता है। तब जैसे कुम्हारने घडा बनाया तो घडा मृत्पिण्डसे ही बना। वह सत्ता तो पहलेसे ही रही। और जब सत्ता पहलेसे है तो उन पदार्थोंमे उनमे रचना बन गई। तो वास्तवमे तो करने वाला दूसरा न रहा। जो पदार्थ है उन्हीका ही एक परिणमन हो गया। और फिर अनन्तानन्त जीव है। कोई एक आत्मा अनन्तानन्त जीवोका शरीर रचता रहे तो उसे अपने आपको तो व्यग्रता हो गई। और यह प्राकृतिक बात है कि जो जीव जैसी कर्म चेष्टा करता है उसको उस प्रकारके नामकर्मका बन्ध होता है और उसके उदयमे उस प्रकारका शरीर प्राप्त होता है। तो ये सब जो पुद्गलके परिणमन हैं, शरीररूप रचनायें है ये कर्मोदयका निमित्त पाकर स्वय ही वर्गणावोमे उस उस प्रकारकी रचना बन जाती है।

(२८३) आनुपूर्व्यनामकर्म और उसके प्रकारोका वर्णन—आनुपूर्व्यनामकर्म-जिसके

उदयसे पूर्वशरीरके आकारका विनाश नहीं होता है उसको आनुपूर्व्यनामकर्म कहते हैं। इसके चार प्रकार हैं— (१) नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वनामकर्म (२) तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनामकर्म (३) मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनामककर्म और (४) देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनामकर्म। जिनके संक्षिप्त नाम हैं—नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यक्गत्यानुपूर्व्य, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य' और देवगत्यानुपूर्व्य। जिस समय कोई मनुष्य अथवा तिर्यंच आयु पूर्ण करके अपने पूर्व शरीरसे अलग होता है और मानो वह नरकभवके प्रति अभिमुख है याने नरकगतिमे जा रहा है, उसके विग्रहगतिमे पूर्व शरीरके आकार आत्मप्रदेश रहेंगे। सो पूर्वशरीरके आकार आत्मप्रदेशोके रहनेका कारण नरकगत्यानुपूर्व्यका उदय है। विग्रहगतिका अर्थ है— मरणके बाद जन्मस्थानपर पहुचनेके बीच जो क्षेत्रमे गमन होता है वह विग्रहगति कहलाती है। विग्रह मायने शरीर है। नवीन शरीर पानेके लिए गति होनेका नाम विग्रहगति है। अथवा विग्रह मायने मोडा है। मोड सहित गतिको विग्रहगति कहते है। तो ऐसे ही अन्य आनुपूर्वियोका भाव समझना चाहिए। यहां इतना विशेष समझना कि मनुष्य मरकर चारो गतियोमे उत्पन्न हो सकते हैं, तिर्यंच मरकर चारो गतियोमे उत्पन्न हो सकते है, देव मरकर मनुष्य या तिर्यंच इन दो गतियोमे उत्पन्न हो सकते है, नारकी मरकर मनुष्य या तिर्यंच इन दो गतियोमे उत्पन्न हो सकते है। मरकर जीव जिस गतिमे जायगा उस गतिके नाम वाली आनुपूर्वीका उदय विग्रहगतिमे होता है। तो विग्रहगतिमे आकार तो पूर्व शरीरके आकारका होता है, किन्तु जीव कहलाता है जिस गतिमे उत्पन्न होगा उस गतिका। अथवा आयुके हिसाबसे वह जीव मरणकालमे ही उत्पन्न हो गया तो विग्रहगतिमे भी उसका जन्म कहलाता है, पर शरीर पानेके हिसाब से उस क्षेत्रपर जाकर जन्म कहलाया। और यहां रूढिमे लोकव्यवहारमे मनुष्य या तिर्यंचोके गर्भसे निकलकर बाहर आनेको जन्म कहा करते है। वस्तुतः जन्म नवीन आयुका उदय होते ही कहलाने लगता है।

( २८४ ) निर्माणनामकर्मके उदयसे औदारिकादि शरीरमे आकार तथा आनुपूर्व्यनामकर्मके उदयसे औदारिकादिशरीररहित तैजसकार्माण शरीरस्थ आत्माका आकार—यहां शंकाकार कहता है कि विग्रहगतिमे जीवका आकार रहता है सो आकार रहनेका निमित्त कारण निर्माण नाम कर्म बन जायगा। याने विग्रहगतिके आकार रचनाका कार्य निर्माण नामकर्मके उदयसे हो जायगा, फिर आनुपूर्वी नामकर्म माननेकी जरूरत नही। इस शंकाके उत्तर मे कहते है कि निर्माणनामकर्मका कार्य और प्रकार है, आनुपूर्वी नामकर्मका कार्य और तरह है। पहली आयुका विछोह होनेके समय ही पूर्व शरीर तो अलग हट ही गया, उसमे जीवका सम्बन्ध नही है। तो जब पूर्व शरीर हटा उस ही कालमे निर्माण नामकर्मका उदय भी हट

गया। अब पूर्व शरीरके हटने पर, निर्माण नामकर्मके उदयके हटने पर अब यह सूक्ष्म शरीर वाला जीव रहा, अर्थात् ८ प्रकारके कर्मपिण्ड रूप कार्माण शरीर और उस ही के साथ तैजस शरीर, इन दो शरीरोसे सम्बध रखने वाला आत्मा रहा, उस आत्माके अब जो पूर्व शरीरके आकार जैसा आकार है उस पूर्वाकारका नाश नही हुआ है इसके कारण आनुपूर्वी नामकर्म का उदय है। निर्माण नामकर्मका उदय शरीर रहने तक रहता है।

( २८५ ) **विग्रहगतिमे रहनेके समयोका सयुक्तिक विवरण**—विग्रहगतिमे जघन्य तो एक समय रहता है और उत्कृष्ट तीन समय रहता है। कोई जीव मरण स्थानसे जन्म स्थान तक पहुचनेमे एक मोडा लेता है तो उसका विग्रहगतिमे एक समय रहना होता है। यदि दो मोडा लिया तो दो समय और तीन मोडा लिया तो तीन समय तक विग्रहगतिमे रहना बनता है। यदि कोई जीव ऋजुगतिसे गमन करके जन्म लेता है अर्थात् बीचमे मोडा नही लेता तो उसके पूर्व शरीरका आकार नष्ट होने पर अगले शरीरके योग्य पुद्गल वर्गणावो का ग्रहण होने लगा सो वहा निर्माण नामकर्मके उदयका व्यापार है। जीव मरकर जन्म-स्थानपर पहुचता है तो उसको मोडा क्यो लेना पडता है ? इसका कारण यह है कि जीव मरण करके सीधी दिशामे गमन करता है। पूर्वसे पश्चिम, पश्चिमसे पूर्व, उत्तरसे दक्षिण, दक्षिणसे उत्तर, ऊपरसे नीचे ठीक सीधा गमन करता है। अब यदि कोई पूर्व दिशासे मरकर दक्षिण दिशाको जाता है तो सीधी गति होनेके कारण उसे मोडा नही लेना पडेगा, और यदि उसी दक्षिण दिशामे कुछ ऊपर नीचे जन्म लेता है तो एक मोडा लेना पडता है। ऐसे ही सब जगह घटा लेना चाहिए। पर लोकके किसी भी स्थानसे मरण करके किसी भी स्थानपर जन्म लेवे तो तीन मोडेसे अधिक लगानेकी आवश्यकता नही रहती, किन्तु ऋजुगति मे ठीक सीधा गमन कर गया नीचेसे ऊपर या पूर्वसे पश्चिम, उत्तरसे दक्षिण कही वह बिल्कुल सीधा गमन करता है तो वहाँ मोडा नही लेना पडता, इस कारण पूर्व शरीरका आकार नष्ट होते ही नवीन शरीरकी वर्गणायें ग्रहणमे आती हैं। वहाँ बीचमे एक समयका अन्तर नही मिल पाता और इसी कारण ऋजुगतिसे जन्म लेने वाले जीवके निर्माण नामकर्म का उदय प्रथम क्षणमे ही हो जाता है। वहाँ आनुपूर्वी नामकर्मका उदय नही है।

(२८६) **अगुरुलघुनामकर्मप्रकृतिका वर्णन**—अगुरुलघुनामकर्म—जिस नामकर्मके उदयसे न तो लोहेके पिण्डकी तरह ऐसा वजनदार शरीर होता जो यो ही नीचे गिर जाय और न आकके तूलकी तरह हल्का शरीर होता जो कि ऊपर ही सहज उडता उडता फिरे, किन्तु यथायोग्य शरीर होता है वह अगुरुलघु नामकर्म है। यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि धर्म, अधर्म, आकाश, आदिक अजीव द्रव्योमे अगुरुलघुपना कैसे होता है ? तो उसका समा-

धान है कि अनादिपारिणामिक अगुरुलघुगुण सब द्रव्योमे पाया जाता है। उस अगुरुलघु गुण के योगसे इनमे अगुरुलघुपना होता है। मुक्त जीवोके अगुरुलघुपना कैसे होता है ? उत्तर— अनादिकालीन कर्म नोकर्मका संबध जिन जीवोके है ऐसे ससारी जीवोके तो अगुरुलघुत्व कर्मोदयकृत होता है, अर्थात् कर्मका उदय होनेपर यह अगुरुलघुरूप परिणमन होता है, किन्तु कर्म और नोकर्मका सम्बन्ध बिल्कुल हट जानेपर अगुरुलघु स्वाभाविक प्रकट होता है।

**(२८७) उपघात परघात आतप उद्योत व उच्छ्वास नामकर्मप्रकृतियोका विवरण**— उपघातनामकर्म— जिस कर्मके उदयमे स्वयकृत बधन हो या स्वय पर्वतसे गिरने आदिकके कारण उपघात हो वह उपघात नामकर्म है। ऐसे भी अनेक मनुष्य पाये जाते है जो किसी स्थानपर ऊँचे पर्वतसे गिरकर मर जानेमे वैकुण्ठका लाभ मानते है, तो यो स्वय उपघात किया वह उपघातका ही तो विपाक है। परघात नामकर्म—जिसके उदयसे दूसरे प्राणियोके द्वारा प्रयोग किए गए शस्त्रादिकसे आघात होता है वह परघात नामकर्म है। इस परघात नामकर्म प्रकृतिके उदयमे यह जीव कवच आदिक धारण करके कितनी भी अपनी रक्षा करे तो भी दूसरेके द्वारा शस्त्रादिकसे उसका घात हो जाता है। आतपनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे आतपन तपा जाता है। जैसे कि सूर्य आदिकमे ताप होता है वह आताप नामकर्म है। तथा जिसके उदयसे चंद्रमा जुगनू तथा अन्य पशुपक्षियोमे, कीड़ोके शरीरमे जो उद्योत होता है वह उद्योत नामकर्म है। यहाँ चद्रसे मतलब चद्रविमानसे है। चद्रविमान पृथ्वीकायिक जीवका स्वरूप है। तो ऐसे उद्योतप्रकाश वाले देहके धारी पुरुषोके उद्योत नामकर्मका उदय है। उच्छ्वासनामकर्म—जिस कर्मके उदयसे उच्छ्वास हो, श्वास लेवे और छोडे उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते है। यह उच्छ्वास एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तकके सभी जीवोमे पाया जाता है। पृथ्वी, जल, वनस्पति आदिकके भी उच्छ्वास होता है। वृक्षोको तो लोग अनुमान करने लगे है कि ये श्वास लेते है और छोडते है, पर किन्हीका नही व्यक्त हो पाता। सभी प्राणियोके श्वास और उच्छ्वास होता है।

**(२८८) विहायोगगति नामकर्मप्रकृतिका वर्णन**—विहायोगगति नामकर्म—विहायस् नाम आकाशका है। उसमे गतिकी जो रचनाका निमित्त हो उसको विहायोगगतिनामकर्म कहते है। यह नामकर्म शुभ और अशुभके भेदोसे दो प्रकारका है। जिनका गमन शुभ हो, रमणीक हो उनके तो प्रशस्त विहायोगगति है जैसे श्रेष्ठ बैल, हाथी, हस आदिक। इनकी प्रशस्त गति हुआ करती है, और जिस विहायोगगतिके उदयसे अशुभ गमन हो वह अप्रशस्त विहायोगगति नामकर्म कहलाता है। इसके उदयसे ऊँट, गधा, आदिक जैसे प्राणियोमे अशुभगति हुआ करती है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि सिद्ध हो रहे जीवके अथवा शुद्ध हो रहे पुद्गलके अर्थात् पर-

माणुके विहायोगगति किस कारणसे होता है ? गमन तो उनके भी होता है । अष्ट कर्मोंसे मुक्त होनेपर जीव एक ही समयमे ७ राजू गति करके सिद्ध लोकमे विराजमान हो जाता है । परमाणुमे भी गति एक समयमे १४ राजू तक बतायी गई है । तो वह गति किस प्रकार होती है ? समाधान—सिद्धभगवानमे और शुद्ध परमाणुकी गति स्वाभाविकी होती है । यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि विहायोगगति नामकर्मका उदय पक्षियोमे ही पाया जाना चाहिये, क्योकि आकाशमें उडान उनका ही चलता है । मनुष्यगतिमे, पशु कीडोमे विहायोगगति न होनी चाहिए क्योकि वे तो जमीन पर चलते हैं । उत्तर—मनुष्यादिककी भी गति आकाशमे होती है । भले ही वे जमीनको तजकर ऊपर आकाशमे नही चले रहे, लेकिन जमीन तो एक शरीर का आधार मात्र है, पर गमन तो आकाशमे होता है । कही पृथ्वीके भीतर गमन नही हो रहा । और वैसे देखा जाय तो पृथ्वीके भीतर भी अकाश है । गमन तो आकाशमे हुआ । सभी जीवोकी गति आकाशमे ही है क्योकि आकाशमें ही अवगाहन शक्ति पायी जाती है ।

( २८६ ) **प्रत्येकशरीरनामकर्म व साधारणशरीरनामकर्मका वर्णन**—प्रत्येक शरीर नामकर्म—जिस शरीर नामकर्मके उदयसे रचा गया शरीर एक ही आत्माके उपयोगका कारण होता है वह प्रत्येक शरीर नामकर्म कहलाता है अर्थात् एक शरीरमे एक ही जीव होता है । एक एक आत्माके प्रति होनेका नाम प्रत्येक है और प्रत्येक शरीरको प्रत्येक शरीर कहते हैं—जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, नारकी आदिक जितने भी ये दृश्य प्राणी है वे सब प्रत्येक शरीरधारी है । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येकवनस्पतिके भी प्रत्येक शरीर है । साधारण शरीर नामकर्म—जिस नामकर्मके उदयसे बहुत आत्मावोके उपयोगका कारण रूपसे साधारण शरीर मिले उसको साधारण शरीर नामकर्म कहते है । इस नामकर्मके उदयसे जीव किस प्रकारके होते है सो सुनो—इस जीवके आहार आदिक चार पर्याप्तिकी रचना जन्ममरण श्वासोच्छ्वास अनुग्रह उपघात सब साधारण होता है । जिस समय एक जीवके आहार आदिककी रचना है उसी समय अनन्त जीवोके आहार आदिक पर्याप्तिकी रचना है । जिस क्षणमे एक जीव उत्पन्न होता है उसी क्षणमे अनन्त जीव उत्पन्न होते है । इसी तरह जिस क्षणमे एक जीव मरणको प्राप्त होता है उसी क्षणमे अनन्त जीवोका मरण होता है । ऐसे ही जिस समय एक जीवके श्वासोच्छ्वासका लेना छोडना होता है उसी समय अनन्त जीव श्वास और उच्छ्वासके लेने छोडनेको करते हैं । जब एक जीव आहार आदिकके द्वारा अनुगृहीत होता है तो उस ही समय अनन्त जीव उस ही आहारसे अनुगृहीत होते है । ऐसे ही जिस क्षणमे एक जीव अग्नि, विष आदिकसे उपघातको प्राप्त होता है उसी समय अनन्त जीवोका उपघात होता है । ऐसे ये जीव एक शरीरमे अनन्त पाये जाते है अर्थात् उन अनन्त जीवोका एक शरीर है ।

(२९०) त्रसनामकर्मप्रकृति, स्थावरनामकर्मप्रकृति, सुभगनामकर्मप्रकृति व दुर्भगनाम प्रकृतिका निर्देश—त्रस नामकर्म—जिस कर्मके उदयसे दोइन्द्रिय आदिकमे जन्म हो उसको त्रस नामकर्म कहते हैं। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते है। स्थावर नामकर्म—जिस नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रियमे जन्म होता है, एकेन्द्रियभव मिलता है उसे स्थावर नामकर्म कहते है। ये एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति के भेदसे ५ प्रकारके है— इन वनस्पतियोमे दो प्रकार है— (१) प्रत्येक वनस्पति और (२) साधारण वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति तो भक्ष्य वनस्पति है और साधारण वनस्पति व्रतियो द्वारा भक्ष्य नही मानी गई है, क्योंकि वहाँ एक शरीरके आश्रय अनन्त एकेन्द्रिय जीव पाये जाते हैं। सुभगनामकर्म– जिसके उदयसे रूपवान हो या अरूप हो, उसके प्रति लोगोको प्रीति उत्पन्न होवे उसे सुभग नामकर्म कहते है। इस नामकर्मके उदयसे दूसरा जीव अन्य अनेक जीवोको प्रिय लगा करता है। दुर्भगनामकर्म वह है कि रूपवान होकर भी जिसके उदयसे दूसरोको प्रिय न लगे किन्तु अप्रीतिकर प्रतीत हो वह दुर्भग नामकर्म है।

(२९१) सुस्वर, दुःस्वर, शुभ, अशुभ, सूक्ष्म व वादर नामकी नामकर्म प्रकृतियोंका निर्देश—जिसके उदयसे सुन्दर स्वर मिले वह सुस्वर नामकर्म है, और जिसके उदयसे भद्दा स्वर मिले वह दुस्वर नामकर्म है। दुस्वर किसके है, यह बात दूसरोको जल्दी विदित होती है। कोई खुद गाता है तो चाहे खोटा भी स्वर हो तो भी उसे प्रिय लगता है। विशेष दु स्वर होने पर वह खुद भी ज्ञान कर लेता है कि मेरा स्वर आलाप सही नही है। शुभ नामकर्म—जिसके उदयसे देखने या सुननेपर रमणीक प्रतीत हो, जिसके अंग सुन्दर लगें वह शुभ नामकर्म है और जिस नामकर्मके उदयसे अगादिक रमणीक न लगें वह अशुभ नामकर्म है। जिसके उदयसे अन्य जीवोके अनुग्रह या उपघातके अयोग्य सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति हो वह सूक्ष्म नामकर्म है। इस नामकर्मके उदयसे ऐसा सूक्ष्म शरीर मिलता है कि जिसको कोई घात नही सकता, छेद नही सकता, किन्तु वह जीव जिसको सूक्ष्म शरीर मिला है अपने ही आयु के क्षयसे मरता रहता है। जिस नामकर्मके उदयसे ऐसा स्थूल शरीर मिले जो दूसरेको बाधा करने वाला हो उसे वादर नामकर्म कहते है। इस नामकर्मके उदयसे ऐसा स्थूल शरीर मिलता है कि जिसको कोई छेद-भेद नही सकता। भले ही कितने ही वादर अदृश्य भी होते पर रूढिसे कहो अथवा इस तरहकी कुछ शक्ति पायी जाती है इसलिए उनके भी वादरनामकर्मका उदय जानना चाहिये।

(२९२) पर्याप्ति व अपर्याप्ति नामकर्मप्रकृतियोका वर्णन—जिसके उदयसे आत्मा आहार आदिक वर्गणावोके ग्रहणसे आहारादि पर्याप्तियो द्वारा अन्तर्मुहूर्तमे पूर्णताको प्राप्त

होता है उसे पर्याप्ति नामकर्म कहते हैं। वह ६ प्रकारका है—(१) आहारपर्याप्ति नामकर्म (२) शरीरपर्याप्तिनामकर्म (३) इन्द्रियपर्याप्ति नामकर्म (४) प्राणापानपर्याप्ति नामकर्म (५) भाषापर्याप्ति नामकर्म और (६) मनःपर्याप्ति नामकर्म। यहाँ कोई शकाकार कहता है कि प्राणापान पर्याप्ति नामकर्मसे ही वायुका निकलना, प्रवेश करना हो जाता है और वही काम उच्छ्वास नामकर्ममे बताया है। श्वासका लेना और छोडना होता है, तो फिर इन दोनोमे कोई अन्तर न रहा। समाधान—प्राणापानपर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास नामकर्ममे यह अन्तर है कि प्राणापानपर्याप्ति तो सब जीवोके होती है किन्तु वह अतीन्द्रिय है। कान और स्पर्शन से उसका अनुभव नही हो पाता, किन्तु उच्छ्वास कर्मके उदयसे पञ्चेन्द्रिय जीवोके जो शीत, उष्ण आदिकसे लम्बे श्वासोच्छ्वास निकलते है उनका स्रोत्रसे भी ग्रहण होता है और स्पर्शन से भी ग्रहण होता है। अर्थात् इनके श्वाससे निकली हुई हवा हाथ आदिकको मालूम पड जाती है और उसकी आवाज भी सुननेमे आती है, किन्तु श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिमे वह श्वासोच्छ्वास इन्द्रियसे ज्ञात नही हो पाता। यही इन दोनोमे अन्तर है। अपर्याप्तिनामकर्म—जिसके उदयसे छहो पर्याप्तियोकी पूर्णता करनेको आत्मा समर्थ रहे, आत्मसामर्थ्य रहे उसे अपर्याप्तिनामकर्म कहते है। यहा इतना विशेष समझना कि अपर्याप्त दो प्रकारके होते है—(१) निर्वृत्य अपर्याप्त तथा (२) लब्ध अपर्याप्त। निर्वृत्यअपर्याप्त—पर्याप्ति नामकर्मका उदय है किन्तु वह अभी पर्याप्तियोसे पूर्ण नही हो सकता किन्तु नियमसे पर्याप्तिया पूर्ण हो जायेंगी, किन्तु लब्धपर्याप्तकी अपर्याप्ति नामकर्मका उदय है, उनके पर्याप्तिया पूर्ण न तो हुईं और न होगी। अपर्याप्त अवस्थामे ही उनका मरण हो जायगा। आहार पर्याप्तिमे जिन वर्गणावोसे शरीर बनता है उन वर्गणावोको ग्रहण करनेकी शक्ति पूरी हो जाती है। शरीरपर्याप्तिमे शरीरवर्गणाकी पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है। इन्द्रियपर्याप्तिमे जिन वर्गणावोसे इन्द्रिया बनती है उन इन्द्रियोके बननेकी शक्ति आ जाती है। श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन, इन पर्याप्तियोमे भी अपनी योग्य वर्गणावोको ग्रहण करनेकी और उस कार्यके पूर्ण होनेकी शक्ति आ जाती है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास इन चार पर्याप्तियोमे आहार वर्गणावोका ग्रहण होता है। भाषा पर्याप्तिमे भाषा वर्गणावोका ग्रहण होता है। मनःपर्याप्तिमे मनोवर्गणाका ग्रहण होता है।

(२६३) स्थिर, अस्थिर, आदेय, अनादेय, यश कीर्ति व अयशःकीर्ति नामक नामकर्म की प्रकृतियोका वर्णन—स्थिरनामकर्म–स्थिर भावके रचने वाले कर्म स्थिरनामकर्म कहलाते है। इनके उदयसे ऐसे अगोपागकी स्थिरता रहती है कि बडे कठिन उपवास आदिक भी कर लिए जायें, तपश्चरण भी कर लिए जायें, फिर भी अंग और उपागोमे स्थिरता रहती है।

बात, पित्त, कफ आदिक कुपित नहीं हो पाते। अस्थिरनामकर्म—इस नामकर्मके उदयसे कोई थोडा भी उपवास आदिक करे या थोडा भी शीत, उष्ण आदिकका सम्बध हो तो अग और उपाग कृष हो जाते है, स्थिर नही हो पाते है। वात, पित्त कफ भी कुपित हो जाते है। आदेय नामकर्म—इस नामकर्मके उदयसे प्रभारहित शरीरकी रचना होती है। यहाँ एक शका हो सकती है कि तैजस नामका एक सूक्ष्म शरीर कहा गया है। उसके निमित्तसे शरीरकी प्रभा बन जाती है, फिर आदेय कर्म माननेकी क्या आवश्यकता है? समाधान—तैजस शरीर तो सर्व ससारी जीवोके तेजका निर्माता है। यदि शरीर यह व्यक्त प्रभा तैजस शरीर नामकर्मसे माना जाय तो सब ससारी जीवोके शरीरकी प्रभा एक समान बन जाना चाहिए, क्योकि तैजस शरीर तो सर्व ससारी जीवोके पाया जाता है किन्तु शरीरकी व्यक्त प्रभा सब जीवोमे नही पायी जाती। इससे सिद्ध है कि शरीरकी प्रभा आदेय नामकर्मसे होती है। यशकीर्ति नामकर्म—पवित्र गुणोकी प्रसिद्धिका कारणभूत जो नामकर्म है उसके उदयसे पुण्यवान जीवो के पुण्य गुणोका स्थापन होता है। यश नाम है गुणोका और कीर्ति नाम है स्तवनका। गुण का स्तवन हो सके उसे कहते है यशकीर्ति। यहाँ कीर्तिका अर्थ यश नही है जिससे यह सदेह बने कि पुनरुक्त शब्द बोला गया। कीर्तिका अर्थ है कीर्तन होना, प्रसिद्धि होना। गुणोकी प्रसिद्धि होना, गुणोकी स्तुति होना यश कीर्ति है। अयशकीर्ति—जिस कर्मके उदयसे अयशकी प्रसिद्धि हो, पहले गुणोका स्थापन हो उसे अयशकीर्ति नामकर्म कहते है।

(२६४) तीर्थंकरत्वनामप्रकृतिका वर्णन—तीर्थंकरत्वनामकर्म—जिसके उदयसे अरहत प्रभु सम्बधित अचिन्त्य विभूति विशेष प्राप्त हो उसे तीर्थंकरत्व नामकर्म कहते है। यहाँ कोई शका करता है कि जैसे तीर्थंकरत्व एक प्रकृति बतायी गई है इसी प्रकार गणधरत्व आदिक प्रकृतियाँ भी कही जाना चाहिए और उनका अर्थ यह होगा कि जिस प्रकृतिके उदय से गणधर पद प्राप्त हो वह गणधरत्वप्रकृति है। समाधान—गणधरत्व आदिक प्रकृति कहने की आवश्यकता नही है क्योकि जैसे तीर्थंकरत्व नामकर्म कहलाता है उसी प्रकार उसके उदय से अचिन्त्य समवशरण आदिक विशेष विभूति प्राप्त होती है, पर गणधरत्व होना यह श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमके कारण होता है। इसमे नामकर्मकी प्रकृति नही बनती। चक्रवर्ती आदिक होते हैं तो वे उच्चगोत्र आदिक विशेषके कारण होते है इसलिए गणधरत्व या चक्रवर्ती पनाके लिए नामकर्ममे कोई प्रकृति नही है। यहाँ शंकाकार कहता है कि जैसे उच्चगोत्र चक्रवर्ती आदिक बननेका कारण है तो वही उच्चगोत्र तीर्थंकरत्वका कारण बन जाय तो तीर्थंकरत्व नामका अलगसे कर्म न बनाना पडेगा। उत्तर—तीर्थंकरत्व प्रकृतिका फल है कि तीर्थकी प्रवृत्ति होती है। दिव्यध्वनि, धर्मोपदेश आदिक होना तीर्थंकर नामका फल

है जिससे कि धर्मप्रवृत्ति होती है। लोगोका कल्याण होता है। उच्चगोत्र भी है पर तीर्थंकर जैसा विशेष फल उच्चगोत्रका कारण होना ही पर्याप्त है। अब इस सूत्रमे जो नामके पद बनाये गए है सो तीन पदोमे विभक्त किए गए। जब सभी नामकर्मके भेद है तब ३ पद बनानेकी क्या जरूरत थी ? सबका ही द्वन्द्व समास करके एक ही पद बना दिया जाना चाहिए था। उत्तर—इसमे जो पहला पद है वह तो पिण्ड प्रकृतिका और जिनके प्रतिपक्षभूत कोई प्रकृतियाँ नहीं है उन्हे मिलाकर किया गया है। दूसरे पदमे वे प्रकृतियाँ आयी है जिन प्रकृतियोके प्रतिपक्षी अन्य प्रकृतियाँ हुआ करती है और तीर्थंकर प्रकृतियाँ हुआ करती है। और तीर्थंकर प्रकृतिको सबसे अलग अकेला इस कारण कहा है कि यह पुण्य प्रकृतियोमे सर्व प्रधान प्रकृति है। जितने भी शुभ कर्म है उन सबमे मुख्य है तीर्थंकर प्रकृति। भला जिस तीर्थंकरका इतना माहात्म्य कि पचकल्याणक मनाया जाय, समवशरणकी रचना हो, स्वर्गोसे देव, देवियाँ, मनुष्य, तिर्यञ्च आदिक और अधोलोकसे भवनवासी व्यन्तरोके इन्द्र देवतागण सब एकत्रित होकर धर्मोपदेश सुनें, हर्ष बनायें, यह एक विशेष पुण्य प्रकृति है। जगतमे जो और कोई बडे पुण्यवान पुरुष है चक्रवर्ती, देवेन्द्र आदिक वे भी तीर्थंकर प्रभुके चरणोमे शीश झुकाया करते हैं। दूसरी बात है कि तीर्थंकरप्रकृतिका उदय उनके होता है जो चरम शरीरी हैं, जो उस ही भव से मोक्ष जायेंगे, उनका भव अतिम भव है इस कारण भी तीर्थंकरत्व प्रकृतिको अलगसे कहा गया है। इस प्रकार नामकर्मकी प्रकृतियोका वर्णन हुआ, अब गोत्रकर्मकी प्रकृतियोका वर्णन करते हैं।

## उच्चैर्नीचैश्च ॥८-१२॥

(२९५) **गोत्रकर्मकी उत्तरप्रकृतियोका वर्णन**—गोत्रकर्म दो प्रकारका है—(१) उच्च गोत्र और (२) नीच गोत्र। जिस प्रकृतिके उदयसे लोक पूजित कुलोमे जन्म होवे, जैसे कि जिनकी महिमा प्रसिद्ध है ऐसे इक्ष्वाकुवश, उग्रवश, कुरुवश, हरिवश ऐसे उच्च कुलमे जन्म होवे उसे उच्च गोत्रकर्म कहते है। और जिस गोत्रकर्मके उदयसे निंदनीय दरिद्र, दु खोसे आकुल नीचवृत्ति वाले कुलोमे जन्म हो उसे नीच गोत्रकर्म कहते हैं। गोत्र कर्मके क्या आश्रव हैं, कैसे कार्य करनेसे नीच गोत्रमे जन्म लेता है यह सब वर्णन छठे अध्यायमे किया जा चुका है। जो दूसरेके गुणोमे हर्ष नही मानता, दूसरेके गुणोको दोष रूपमे प्रकट करता अथवा उन को ढकता और अपने मे गुण न भी हो तो भी सकेतसे सबको प्रकट करता है, तो ऐसी क्रियावोसे नीच गोत्रका आश्रव होता है। तो ऐसी चेष्टा वालेको नीच गोत्रमे जन्म लेना पडता है, और जो दूसरेके गुणोकी प्रशसा अपने अवगुणोकी निन्दा, दूसरेके गुणोका प्रकाशन, अपने गुणो को ढाकना, ऐसी उच्च वृत्तिसे चलता है वह उच्च कुलमे जन्म लेता है। नारकी जीवोके

सभीके नीच कुल कहलाता है। तिर्यञ्च गतिमे भी नीच गोत्र होता है। देवगतिमे सभीके उच्च गोत्र होता है। मनुष्यगतिमे ही कई भेद बन जाते है, कई उच्च कुली हैं, कोई नीच कुली है। तो उच्च गोत्रके उदयसे उच्च कुलमे जन्म होता और नीच गोत्रके उदयसे नीच कुलमे जन्म होता। इस प्रकार गोत्र कर्मको उत्तर प्रकृतियोका वर्णन हुआ, अब उसके बाद कहे गए अतराय कर्मके प्रकार बतलाते है।

## दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥८-१३॥

(२९६) अन्तरायकर्मकी उत्तरप्रकृतियोका वर्णन—दान लाभ भोग उपभोग और वीर्योका, सूत्रका अर्थ इतना ही होता है, पर अन्तरायके भेद कहे जानेसे सबके भेद पूर्ण हो चुके, अब शेष रहे अन्तरायके ये भेद है इसलिए अतराय शब्द इसमे लिया जाता है। दान का अन्तराय दानान्तराय, लाभान्तराय इस तरह इन सभीको षष्ठी विभक्तिमे कह कर इसके साथ अन्तराय शब्द जोडा जाता है। दानान्तराय कर्मके उदयसे दान देनेकी इच्छा करते हुए भी दे नही सकते है। लाभान्तराय नामकर्मके उदयसे लाभ पानेकी इच्छा करते हुए भी लाभ नही पाता। भोगान्तरायकर्मके उदयसे भोगनेकी इच्छा करते हुए भी भोग नही भोग पाता। उपभोगान्तराय कर्मके उदयसे उपभोगकी इच्छा करते हुए भी उपभोग नही कर सकता। वीर्यान्तराय कर्मके उदयसे उत्साह की इच्छा करते हुए भी सत्य पूर्ण किसी कार्यको करनेका भाव रखते हुए भी उत्साह नही बन पाता है। ये ५ अन्तराय कर्मके नाम कहे गए। वहाँ शका होती है कि भोगान्तराय और उपभोगान्तरायमे तो कोई फर्क न डालना चाहिए, क्यो कि भोग और उपभोगमे भी कोई विशेषता नही। भोगमे भी सुखका अनुभवन है और उपभोगमे भी सुखका अनुभवन है, इस कारण जब भोग और उपभोगमे कोई भेद न रहा तो इनके नाममे भी भेद न होना चाहिए। उत्तर—भोग और उपभोगमे भेद है। भोग कहते है उसे जो वस्तु एक बार भोगनेमे आये दुबारा भोगनेमे न आये—जैसे स्नान किया हुआ जल, भोजनपान, पुष्पमाला आदि। ये एक बार भोगे जानेपर दुबारा भोगनेमे नही आते, या बडे पुरुष इन्हे दुबारा नही भोगते। और वस्त्र, पलग, स्त्री, हाथी, घोडा, बग्घी, मोटर आदिक ये उपभोगकी सामग्री कहलाती है। इन्हे अनेको बार भोगते रहते है। तो जब भोग और उपभोगमे अन्तर है तो इसके अन्तराय भी दो प्रकारके कहे गए है। यहाँ तक ८ कर्मकी प्रकृतियोका वर्णन किया।

(२९७) प्रकृतिबन्धके वर्णनका उपसंहार व स्थितिबन्धके वर्णनकी भूमिका—ज्ञानावरण कर्मकी ये सभी उत्तर प्रकृतियाँ इतनी ही नही किन्तु सख्यात हो सकती है और ज्ञानावरण नामकर्म, इस जैसे कर्मोंकी प्रकृतियाँ असख्यात भी हो जाती है, क्योकि ज्ञान

अनेक वस्तुओका होता है और स्पष्ट, अस्पष्ट आदिक विधियोसे अनेक तरहका होता है। जितनी तरहसे ज्ञान बनता है उन ज्ञानोका न होना यही तो ज्ञानावरण है। तो ज्ञानावरण भी उतने ही हो गए। यही बात नामकर्मके फलमे देखी जाती है। जैसे करोडो मनुष्योका चेहरा एक दूसरेसे नही मिलता। यद्यपि नाक, आँख, कान आदि सभी मनुष्योके करीब करीब एक परिमाणके होते हैं, उसी स्थानपर होते है फिर भी उनकी बनावटमे कितना भेद पाया जाता। तो उनके निमित्तभूत नामकर्म भी उतने ही हो जाते हैं। और विशेष जीवो पर दृष्टि दीजिए तो कितने ही तरहके पशुपक्षी कीट पतिंगे, कितनी ही तरहकी वनस्पतियाँ हैं, कैसे कैसे विचित्र शरीर हैं, जिस ढंगके जितने प्रकारके शरीर है, उनके कारणभूत निमित्त कर्म भी उतने ही है। यो नामकर्ममे भी असख्यात भेद बन जाते है। इस प्रकार बधके जो ४ भेद कहे गए थे उनमे प्रकृति बधका वर्णन किया गया इसके बाद स्थितिबधका वर्णन आवेगा सो उसमे यह जिज्ञासा होती है कि यह जो स्थिति बध है सो जिसका लक्षण पहले कहा गया ऐसे प्रकृतिबधसे जिसका कि भली प्रकार विस्तार बताया गया उससे क्या भिन्न कर्म विषयक स्थिति बध है या उस ही प्रकृतिबधके बारेमे कोई स्थितिबध बताया जाता है अथवा प्रकृतिबध ही स्थितिबध है ऐसा क्या पर्यायवाची शब्द है ? इस शकाके उत्तरमे इतना ही समझना चाहिए कि जो ये प्रकृतियाँ बतलायी गई है ज्ञानावरणादिक कर्मोकी, सो वे प्रकृतिया यथायोग्य समयपर आत्मासे दूर होने लगती है। सो जब तक वे दूर नही होती तब तकका काल कितना हुआ करता है ? सो यह काल उन ही प्रकृतियोमे बताया जाता है। तो उन ही प्रकृतियोमे स्थितिबधकी विवक्षा है। सो वह स्थिति किसीके उत्कृष्ट रूपसे है और किसी के जघन्य रूपसे। अर्थात् वे कर्म आत्मामे अधिकसे अधिक रहे तो कितने समय तक और कमसे कम रहे तो कितने समय तक ? यो उन कर्मप्रकृतियोमे उत्कृष्ट और जघन्यकी स्थिति बतायी जायगी। तो उनमे से सबसे पहले कर्मको उत्कृष्ट स्थितियाँ बतायी जायेंगी। तो उसी सम्बन्धमे सबसे पहले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय, इन चार कर्मोकी उत्कृष्ट स्थिति बताने के लिए सूत्र कहते है

**आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमाकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥८-१४॥**

(२९८) **ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय व अन्तरायकर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन**—प्रारम्भसे लेकर आगे तीन तक अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय तथा अन्तिम अतराय इन चार कर्मोकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोडा कोडी सागर है। इस सूत्रमे आदितः

शब्द देनेसे मध्यके या अन्तके कर्म न लिए जायेंगे, किन्तु प्रारम्भके ही तीन कर्म लिए जायेंगे जैसे कि अष्ट कर्मोंके नाम वाले सूत्रमे नाम दिए गए है। दूसरा पद दिया सूत्रमे तिसृणाम्। इस शब्दसे यह नियम बनता है कि शुरूके तीन ही लेना, जिनकी कि ३० कोडाकोडी, सागर उत्कृष्ट स्थिति बतायी जा रही है। उसके बाद पद है अतरायस्य। इस कर्मका नाम अलगसे यो दिया गया है कि इस कर्मकी भी उन तीन कर्मोंके समान उत्कृष्ट स्थिति है। तो समान स्थिति अंतरायकी ही है उन तीन के बराबर इस कारण यहां अतरायस्य शब्द दिया गया है। इस प्रकार पहले कहे गए तीन पदोमे यहाँ चार कर्मोंका ग्रहण किया गया --ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय। इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोडा कोडी सागर है। यहाँ कोडाकोडी शब्द दिया है। कही दो कोटि शब्द लिखनेसे यह अर्थ न लगाना कि करोड, करोड सागर है। वीप्सा अर्थ वाला यहाँ अर्थ न लगाना। यदि करोड, करोड यह अर्थ इष्ट होता तो बहुवचनमे प्रयोग न होता, किन्तु यहा अर्थ है तत्पुरुष समास वाला याने कोडाकोडी, जिसका भाव है कि एक करोडमे एक करोडका गुणा करनेपर जो लब्ध होता है उसे कहते है कोडाकोडी। इस तरह ३० कोडाकोडी सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है।

(२९९) **सागरके कालका उपमाप्रमाणसे परिचय**—सागर एक बहुत बडा प्रमाण है जो गिनतीसे परे है। इसको उपमा देकर ही समझाया जा सकता है और इसके लिए शास्त्रोमे उपमा दी गई है कि दो हजार कोशके लम्बे, चौडे, गहरे गड्ढेमे बहुत कोमल बाल जिनको कैंचीसे इतने छोटे छोटे खण्ड करके भर दिए जायें कि जिनका दूसरा हिस्सा किया जाना अशक्य हो, जिससे कि वह गड्ढा खूब ठसाठस भर जाय। अब उस गड्ढेमेसे १००-१०० वर्षमे एक एक टुकडा निकाला जाय। सभी टुकड़े जितने वर्षोंमे निकल पाये उतनेका नाम है व्यवहारपल्य और उससे असख्यातगुना होता है उद्धारपल्य और उससे भी असख्यात गुना होता है अद्धापल्य। ऐसे १० कोडाकोडी अद्धापल्यका सागर होता है। ऐसे ३० कोड़ाकोडी सागर इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति है। यहाँ आस्था यो रखना कि समय तो अनन्त काल बीतेगा। उस अनन्तकालमे यह ३० कोडाकोडी सागर कोई आश्चर्य लायक समय नही है, किन्तु है गिनतीसे परे। उस समयका अदाज करनेके लिए यह उपमा प्रमाणसे बताया गया है।

(३००) **आदिमे तीन व अन्तिम कर्मकी उत्कृष्टस्थितिका इन्द्रियजातिकी अपेक्षा विवरण**—उक्त चार कर्मोंकी यह ३० कोडाकोड़ी सागर स्थिति उत्कृष्ट है, जघन्य नही है, ऐसा स्पष्ट कहनेके लिए सूत्रमे परा शब्द दिया है। सो यह उत्कृष्ट स्थिति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त

जीवोके हुआ करती है। ससारमे तो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदिक अनेक जीव है पर उन सब की उत्कृष्ट स्थिति इतनी नही होती। यह उत्कृष्ट स्थिति सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवकी ही है अर्थात् यह जीव ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय इन कर्मोंको अधिकसे अधिक स्थिति मे बांधे तो इतनी स्थिति तकका कर्म बांध सकता है। फिर अन्य जीवोकी उत्कृष्ट स्थिति कितनी है इन चार कर्मोंके विषयकी, तो वह आगमसे जानना चाहिए। आगममे बताया गया है कि एकेन्द्रियपर्याप्त जीवोके इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरके ७ भाग किये जा, उनमेसे ३ भाग प्रमाण है। दोइन्द्रिय पर्याप्तक जीवोकी उत्कृष्ट स्थिति २५ सागर प्रमाण कालके ७ भाग किए जायें उनमे तीन भाग प्रमाण है। तीन इन्द्रिय पर्याप्तक जीवोकी उत्कृष्ट स्थिति ५० सागर प्रमाण कालके ७ भागमेसे तीन भाग प्रमाण है। चौइन्द्रिय पर्याप्तक जीवोकी उत्कृष्ट स्थिति १०० सागरके ७ भागमे से तीन भाग प्रमाण है। जो असज्ञीपञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक जीव है उसकी उत्कृष्ट स्थिति एक हजार सागरके ७ भागोमे से तीन भाग प्रमाण है। और संज्ञीपञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तककी उत्कृष्ट स्थिति अन्तः कोडाकोडी सागर प्रमाण है अर्थात् एक कोडाकोडी सागरसे कम है। एकेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवोकी उत्कृष्ट स्थिति इसकी पर्याप्तिमे जो उत्कृष्ट स्थिति थी उससे पल्यके असख्यातवें भाग कम है। इस प्रकार दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, अपर्याप्त और संज्ञी अपर्याप्त जीवोकी जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है उसमे पल्यके सख्यात भाग कम है। इस प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतायी गई है। अब वेदनीय कर्मके बाद जिसका नम्बर है ऐसे मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतायी जायी है।

## सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥८—१५॥

(३०१) **मोहनीयकर्मके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका वर्णन**—मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोडाकोडी सागर है। यह उत्कृष्ट स्थिति सज्ञीपचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवोकी है। उत्कृष्ट स्थितिका कारण सक्लेश परिणामका होना है, मोहभाव आसक्तिभावका होना है। सो सज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीव अतीव मोह और आसक्ति करता है उसकी इस तीव्र आसक्तिकी व्यक्तताके कारण ७० कोडाकोडी सागर प्रमाण मोहनीयकर्म बध जाता है। अन्य जीवोके मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति जैसी आगममे लिखी है सो जानना। जैसे एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके मोहनीयकर्मका उत्कृष्ट स्थिति बध एक सागर प्रमाण होता है, दो इन्द्रिय पर्याप्तक जीवके मोहनीयकर्मका स्थिति बध २५ सागर प्रमाण होता है, तीनइन्द्रिय पर्याप्तक जीव अधिकसे अधिक मोहनीयकर्मकी स्थिति ५० सागर प्रमाण बांधते है, चार इन्द्रिय पर्याप्तक जीव अधिकाधिक मोहनीय कर्मको १०० सागर प्रमाण बांधते है। जो पर्या-

प्तक एकेन्द्रिय जीव है उनके जो मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागर प्रमाण बताया है उसमे एक पल्यके असंख्यातवे भाग कमकी जाय तो इतनी उत्कृष्ट स्थिति एकेन्द्रिय अपर्याप्त की होती है। इसी प्रकार दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय या चौइन्दिय जीवके अपर्याप्तकोकी उत्कृष्ट स्थिति उनके पर्याप्तमे जितनी उत्कृष्ट स्थिति थी उसमे पल्यके सख्यातवें भाग कम उत्कृष्ट स्थिति होती है। असज्ञी पर्याप्तक पञ्चेन्द्रिय जीवकी उत्कृष्ट स्थिति एक हजार सागर प्रमाण है और इस ही असज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तकी उत्कृष्ट स्थिति पल्यके सख्यातवें भाग कम एक हजार सागर प्रमाण है। सज्ञी अपर्याप्तकी उत्कृष्ट स्थिति अन्त. कोडाकोडी सागर प्रमाण है। यह ससारी जीव बडे चावसे मोह करता है, पर एक क्षणके मोहभावसे कितने विकट कर्म बँधते है, कितनी अधिक स्थितिके कर्म बंधते है, वह इस प्रकरणसे समझना चाहिये और यह शिक्षा लेना चाहिए कि हम विकारभावसे उपेक्षा करके अपने स्वभावभावका ही आदर रखें। अब मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति कह कर नाम और गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति कहते है। यद्यपि मोहनीयके बाद आयुकर्मका क्रम है फिर भी उसकी उत्कृष्ट स्थिति कोडा-कोडीमे नही है, सो इस समानतासे सूत्रके लाघव करनेके लिए नामकर्म और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति कह रहे हैं।

## विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥८-१६॥

(३०२) **नामकर्म व गोत्रकर्मके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका वर्णन**—नामकर्म और गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोडाकोडी सागर है। यह २० कोडाकोड़ी सागर स्थिति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवोके होती है अर्थात् सज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीव नामकर्म व गोत्र कर्म के आस्रवके कारण रूप तीव्र भावोमे रहे तो वह ज्यादहसे ज्यादह इन कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोडाकोडी सागरकी बांधता है। एकेन्द्रिय आदिक जीवोके नाम गोत्रकी स्थितिका बध कितना होता है यह आगमसे जानना। जैसे एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बांधे तो एक सागरके ७ भागमे से दो भाग प्रमाण बांधता है। दोइन्द्रिय पर्याप्तक जीव नाम और गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति २५ सागरके ७ भाग मे से दो भाग प्रमाण बांधता है। तीन इन्द्रियपर्याप्तक 'जीव नाम गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ५० सागरके ७ भागमे से दो भाग प्रमाण बांधता है, चौइन्द्रिय पर्याप्तक जीव नाम गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति १०० सागरोपम कालके ७ भागमे से दो भाग प्रमाण बांधता है। असज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीव नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति एक हजार सागरोपम कालके ७ भागमें से दो भाग प्रमाण बांधता है। संज्ञीपञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक अतः कोड़ाकोड़ीके भीतरकी स्थितिको बांधता है। एकेन्द्रिय जीव अपर्याप्तक हो तो वह उतनी उत्कृष्ट स्थिति बाधेगा

जितनी एकेन्द्रिय पर्याप्तक बाँधता था, उसमेसे एक पल्यके असंख्यात भाग कम करके जो शेष रहे। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक असंज्ञी जीवोकी जो स्थिति है उसमे पल्यके सख्यातभाग कम करने पर जो शेष रहे उतनी उत्कृष्ट स्थिति बँधती है।

(३०३) **स्थितिबन्धसे बद्ध कर्मोंके विपाकके प्रभावकी विधि**—यहाँ उत्कृष्ट स्थिति बधके सबधके वर्णनमे यह बात ज्ञात होती है कि अधिक स्थितिका कर्म बाँधनेकी सामर्थ्य सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तिमे है। हम आप जिस भवमे है वह भव सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तका है और यहाँ कर्मोकी उत्कृष्ट स्थिति बाँधी जा सकती है। जब कर्म अधिक स्थितिके बघते है तो उसके मायने यह नही है कि उस पूरी स्थितिके बाद ही यह एक समयमे बद्ध पूरा कर्म उदयमे आयगा। स्थिति तो बधी पर आबाधाकालके बाद याने थोडे ही समयके बाद वे कर्म उदयमे आने लगते हैं, और उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण तक उदयमे आते रहते हैं। सो उसमे जितने परमाणु बँधे थे उन परमाणुमे विभाग हो जाता है कि आबाधाकालके बाद इतने परमाणु उदयमे आयेंगे, उसीके दूसरे समयमे इतने परमाणु उदयमे आयेंगे। ऐसे ही वे अश उदय मे आते रहते है और उनकी परम्परा फल देनेकी सतति उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण तक चलती रहती है। ऐसा यह ससारचक्र है। सो अपने भाव प्रतिक्षण निर्मल उचित कर्तव्य वाले रखना चाहिये। अब आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं।

## त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥८-१७॥

(३०४) **आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका निर्देश**—आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर प्रमाण है। यहा सागरोपम लिखनेसे कोडाकोडीका अर्थ अलग हो जाता है, क्योकि सागरोपमका तो प्रकरण ही है। पूर्व सूत्रोसे अनुवृत्ति चली आ रही है फिर यहाँ सागरोपम देनेकी क्या आवश्यकता थी ? तो सागरोपम शब्दका ग्रहण सिद्ध करता है कि केवल ३३ सागर ही उत्कृष्ट स्थिति है। कोडाकोडी अर्थ यहाँ न लगाना। यह ३३ सागरकी उत्कृष्ट स्थितिका बध सज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त ही कर सकता है। जो मनुष्य निर्ग्रन्थ पद धारण कर समीचीन भावलिंगमे रहकर समाधिस्थ होकर आयुका क्षय करता है ऐसे जिस श्रमणने ३३ सागर प्रमाण सर्वार्थसिद्धिके देवोमे उत्पन्न होनेकी स्थिति बांध रखी थी सो वहा उत्पन्न होता है। सभी उत्पन्न नही होते। जिनका जैसा परिणाम है उस परिणामके अनुसार आयुकी स्थिति बाँधते है। और कोई मनुष्य वज्रवृषभनाराचसंहनन वाला अधिकसे अधिक पापकर्म करे, बहुत खोटे सक्लेशभाव रखे तो वह ३३ सागर प्रमाण नरकायुका बध करता है और वह मरकर ७वें नरकमे जाकर ३३ सागर प्रमाण नरकायुको भोगता है। तो आयुकर्मकी उत्कृष्ट

स्थितिका बध सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त ही कर सकता है। तब एकेन्द्रिय आदिक आयुकर्मका उत्कृष्ट स्थितिबध कितना करेगा वह आगमके अनुसार समझना। आगममे बताया है कि असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तका उत्कृष्ट स्थितिबध पल्यके असख्यात भाग प्रमाण होता है और शेप चौइन्द्रिय आदिककी उत्कृष्ट आयु स्थितिबध पूर्वकोटि प्रमाण होता है। अब यहाँ तक कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बतायी गई है, पर यह नहीं विदित होता कि इस कर्मकी जघन्य स्थिति बँधे तो कितनी जघन्य स्थिति बँधेगी। तो कर्मकी जघन्य स्थिति बतानेके लिए सबसे पहले वेदनीयकर्मकी स्थिति कह रहे है।

## अपरा द्वादश मूहूर्ता वेदनीयस्य ॥८-१८॥

(३०५) **वेदनीयकर्मकी जघन्य स्थिति बन्धके काल व बन्धकका परिचय**—वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति १२ मुहूर्त प्रमाण है। आयुकर्मको छोडकर शेष कर्मोंकी जघन्य स्थिति का बँधना किसी बडे आध्यात्मिक श्रमण संतके ही होता है। तो वेदनीय कर्मका यह जघन्य स्थिति बध सूक्ष्मसाम्यराय गुणस्थानमे होता है। श्रेणीपर समाधिमे बढे हुए श्रमण जब १० वें गुणस्थानमे पहुचते है तो वहाँ पर तीन कर्मोंकी जघन्य स्थिति बँध पाती है बाकी तो ससारी जीवोकी अधिक-अधिक स्थिति ही बँधती है। वेदनीय कर्मका स्थिति बंध १० वें गुणस्थानके बाद समाप्त भी हो जायगा। यद्यपि आश्रव चलेगा जिसे ईर्यापथाश्रव कहो अथवा कहो प्रकृतिबध और प्रदेशबध, चलेगा, पर वेदनीय कर्ममे स्थितिबध न बनेगा। इस कारण जो आखिरी ऐसे गुणस्थान हैं कि जिनके बादमे कर्मोंकी स्थिति बँधेगी वहाँ ही जघन्य स्थितिबध सम्भव है। अब नामकर्म और गोत्रकर्मकी जघन्य स्थिति बताते हैं।

## नामगोत्रयोरष्टौ ॥ ८-१९ ॥

(३०६) **नामकर्म व गोत्रकर्मके जघन्य स्थितिबन्धका परिचय**—नामकर्म और गोत्र-कर्मका जघन्य स्थितिबध ८ मुहूर्तका है। यह जघन्य स्थितिबध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमे होता है। १०वें गुणस्थानके बाद क्षपक श्रेणी वाला मुनि १२वें गुणस्थानमे पहुचता है या उपशम श्रेणीका हो तो वह ११वें गुणस्थानमे पहुचेगा। लेकिन १०वें गुणस्थानसे ऊपर कर्म की स्थिति नही बँधती। अतः जघन्य स्थिति १०वें गुणस्थानमे ही सम्भव है। तो शेष बचे हुए सर्व कर्मोंकी स्थिति जघन्य स्थिति एक सूत्रमे बतायी जा रही है।

## शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥८-२०॥

(३०७) **ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयुकर्म व अन्तरायकर्मके जघन्य स्थितिबन्धका वर्णन**—अभी तक वेदनीय, नामकर्म और गोत्र नामकर्मकी जघन्य स्थिति कही

गई। इन तीन कर्मोंको छोडकर शेष ५ कर्म बचे। उनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है। जैसे--ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म, इनका जघन्य स्थितिबध सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानमे होता है। स्थितिबध तो १०वें गुणस्थानसे ऊपर किसी कर्मका होता ही नही है, क्योंकि ऊपरके गुणस्थानोमे ईर्यापथाश्रव होता है। तो इन तीन कर्मोंका जघन्य स्थितिबध १० वें गुणस्थानमे होता है। मोहनीयकर्मका जघन्य स्थिति बंध ९ वें गुणस्थान में होता है। इसका कारण यह है कि मोहनीयकर्मकी अतिम शेष प्रकृति सज्वलन लोभ है, वह १० वें गुणस्थानके अन्तमे समाप्त हो जायगी, इस कारण १० वें गुणस्थानमे इसका स्थितिबध नही बन पाता। सो मोहनीयकर्मका जघन्य स्थिति बध ९ वें गुणस्थानमे सम्भव है। आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त प्रमाण तिर्यंच और मनुष्योमे ही बँधता है अर्थात् तिर्यंचायुका जघन्य स्थिति बध अन्तर्मुहूर्त बन जाता है, ऐसे ही मनुष्यायुका भी जघन्य स्थितिबध अन्तर्मुहूर्त बनता है, पर ऐसे तिर्यंच और मनुष्य कर्मभूमिया ही होगे, जिनकी सख्यात वर्षकी आयु होती है। ऐसे तिर्यंच, मनुष्योमे ही यह नवीन स्थिति बध सम्भव है। लब्ध्यपर्याप्तक जीव भी होते हैं, उनकी आयुकी जघन्य स्थिति एक श्वासमे १८ भाग प्रमाण होती है। इस प्रकार कर्मकी स्थिनि बधका प्रकरण समाप्त हुआ। यहाँ तक प्रकृतिबध और स्थितिबधका वर्णन किया। अब क्रम प्राप्त अनुभवबधका वर्णन करते हैं, इसका दूसरा नाम अनुभाग बन्ध है।

## विपाकोऽनुभवः ॥ ८-२१ ॥

(३०८) **कर्मप्रकृतियोके अनुभागबन्धका वर्णन**—नाना प्रकारका जो विपाक है उसे अनुभव कहते हैं। ज्ञानावरणादिक कर्मप्रकृतियोका अनुग्रह और घात करने वाली बनाना, उनके तीव्र मद भावके कारण विशिष्ट फलदान शक्ति बनना अनुभाग कहलाता है। अथवा इस कर्मप्रकृतिके उदयमे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप निमित्तके भेदसे नाना प्रकारका फल बने उसे विपाक कहते है। इस ही का नाम अनुभव है। शुभ परिणाम होनेसे शुभ प्रकृतियो मे अनुभाग विशेष पडता है। शुभ परिणाम यदि उत्कृष्ट हो तो सभी प्रकृतियोका अनुभाग उत्कृष्ट होता है। यदि शुभ भावकी प्रकर्षता हो तो अशुभ प्रकृतियोमे अधिक अनुभाग पडता है। अशुभ भावमे मदतासे कम अनुभाग अशुभ प्रकृतियोसे होता है। यद्यपि शुभ परिणाम होते हुए भी अशुभ प्रकृतियाँ भी बँधती, फिर भी विशुद्ध परिणाम होनेपर अशुभ प्रकृतियोमे अनुभाग कम होता है और शुभ प्रकृतियोमे अधिक होता है। इसी प्रकार अशुभ परिणाम होनेपर अशुभ प्रकृतियोमे अनुभाग अधिक होता है और शुभ प्रकृतियोमे अनुभाग कम होता है। यह अनुभाग बध दो तरहसे प्रवर्तित होता है—(१) स्वमुखसे और (२) परमुखसे।

सभी मूल प्रकृतियाँ स्वमुखसे ही फल दिया करती है अर्थात् ज्ञानावरणप्रकृति ज्ञानका आवरण करनेरूप फल देती है। दर्शनावरण दर्शनका आवरण करनेरूप फल देती है। इसी प्रकार अन्य सब मूल प्रकृतियोमे जानना। यहाँ ऐसा न होगा कि कभी ज्ञानावरण कर्म दर्शनावरण आदि अन्य कर्मोंके रूपसे फलदान करने लगे। उत्तरप्रकृतियोमे जो समान जाति वाली प्रकृतियाँ हैं उनका तो प्रायः स्वमुखसे उदय होता ही है, किन्तु परमुखसे भी उदय होता है। हाँ आयुकर्म दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयका परमुखसे कभी फल नही होता। कभी ऐसा न हो सकेगा कि तिर्यगायु अन्य आयुके रूपसे फल देने लगे अथवा मनुष्यायु आदिक कोई भी आयु अन्य रूपसे फल देने लगे, ऐसा आयुकर्ममे नही होता। इसी प्रकार दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीयके रूपसे भल देने लगे या चारित्रमोहनीय दर्शनमोहनीय जैसा फल देने लगे यह न होगा। केवल इन प्रकृतियोको छोडकर अन्य समान जाति वाली प्रकृतियां परमुखसे भी उदित हो जाती है। अब यहाँ जिज्ञासा होती है कि पहले जिन कर्मोंका बध किया था उनका नाना प्रकारसे फल मिलना, फल देनेकी शक्ति आना, यह अनुभव बध है। यह तो जाना परतु यह जाननेमे नही आता कि यह अनुभव बध किस-किस प्रकारका होता है और कितनी सख्यावो मे होता है? इसका समाधान यह है कि वह सख्यात रूपमे होता है और विशेष सूक्ष्म रूपसे देखें तो अनगिनते रूपमे होता। फिर भी जैसा कि उल्लेख है, जहाँ तक निमित्त मिलता है उसके अनुसार किस रूपमे अनुभागबंध होता है उसका वर्णन सूत्रसे करते है।

## स यथानाम ॥८-२२॥

(३०९) **बद्ध प्रकृतियोके विपाकके व्यक्त होनेकी मुद्रा**—ज्ञानावरणका फल ज्ञानका अभाव करना है, दर्शनावरणका फल दर्शनकी शक्तिको रोकना है, वेदनीयका फल साता असातारूप परिणाम होना है। इस प्रकारसे जिस प्रकृतिका विपाक बताना हो उस प्रकृतिका जैसा नाम है वैसा ही अनुभाग होता है। तो यहाँ तक यह बात आयी कि जो कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणमती है उनमे प्रकृतिबध, स्थिति बध, अनुभागबंध उक्त प्रकारसे होता है। अब रहा प्रदेशबध, उसका वर्णन आगे होगा, पर सक्षेपमे यह जानना कि जो भी परमाणु बधे है वे ही तो प्रदेशबंध कहलाते है। सर्व प्रकृतियां १४८ कही गई है। उनमे सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इन दो प्रकृतियोका बध कभी नही होता। फिर इनकी सत्ता कैसे होती है? तो प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तो उस प्रथमोपशम सम्यक्त्व परिणाम के बलसे उसके प्रथम क्षणमे ही मिथ्यात्वके खण्ड हो जाते है। सो सत्तामे पडे हुए मिथ्यात्व कुछ सम्यग्मिथ्यात्वरूप बन जाते, कुछ सम्यक्प्रकृतिरूप बन जाते और कुछ मिथ्यात्व ही रह जाते। जैसे चक्कीमे उडद, मूग, चने आदि दले जायें तो कुछ दाने तो एकदम चूरा बन

जाते, कुछ दाल बनते और कुछ साबुत दानेके दाने निकल जाते इसी तरह सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिकी सत्ता बनती है। बंध १४६ का ही होता है। अब उसका वर्णन करने की दिशामे कुछ सक्षेप किया जाता है अर्थात् ५ शरीर, ५ बधन, ५ सघात ये एक ही नामके हैं जैसा कि नामकर्मकी प्रकृतियोमे बताया है। अतएव उन १५ का संक्षेप करके ५ मे ले लिया। ५ बधन और ५ सघातका अन्तर्भाव ५ शरीरोमे कर लिया, इस तरह १० तो ये घट गए और स्पर्श ८, रस ५, गध २ और वर्ण ५, इस प्रकार ये २० प्रकृतियां है। इन २० प्रकृतियोका ग्रहण सामान्य स्पर्श, रस, गंध, वर्णमे मूल ४ हो जानेसे १६ प्रकृतियां ये घट गईं। १६ और १० यो कुल २६ प्रकृतियां कम गणनामे लेनेसे १२० प्रकृतियां बध योग्य होती है।

(३१०) **सम्यक्त्वरहित गुणस्थानोमे ओघालापसे बन्धका विवरण**—बन्धयोग्य १२० प्रकृतियोमे प्रथम गुणस्थानमे ११७ प्रकृतियोका बध होता है। इसका कारण यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर और आहारक अगोपाग इन तीन प्रकृतियोका बध करनेकी योग्यता नही रखते, क्योकि ये प्रकृतियां प्रशस्त हैं इसलिए इन तीनका बध पहले गुणस्थानमे नही है। हां आगेके गुणस्थानोमे हो सकेगा, ३ कम करनेसे मिथ्यात्व गुणस्थान मे ११७ प्रकृतियोका बध होता है, दूसरे गुणस्थानमे तीन तो ये ही प्रकृतियां नही बँधती, इस प्रकार १६ प्रकृतियां न बधनेसे दूसरे गुणस्थानमे १०१ प्रकृतियोका बँध होता है। यहां यह विशेष जानना कि जो तीन प्रकृतियां नही बँध रही यहां पर वे आगे बँध सकेंगी, किन्तु १६ प्रकृतियां जो यहां नही बँध रही वे आगे भी कभी किसी गुणस्थानमे न बँधेंगी, इसी कारण उन १६ प्रकृतियोकी बध व्युच्छित्ति पहले गुणस्थानमे कही गई है अर्थात् मिथ्यात्व हुण्डक, नपुसक, अन्तिम संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रियजाति, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, नरकायु इन १६ प्रकृतियो के बधका नियोग प्रथम गुणस्थानमे होता है याने पहले गुणस्थानमे तो बँधती है, आगे न बँधेगी। तो इस प्रकार जिस गुणस्थानमे जितनी प्रकृतियोकी बध व्युच्छित्ति कही जाय उसका अर्थ यह है कि आगेके गुणस्थानोमे वे प्रकृतियां न बँधेंगी। यहां दूसरे गुणस्थानमें २५ प्रकृतियोकी बध व्युच्छित्ति होती है। वे २५ प्रकृतियां ये है—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, दुर्भग दुस्वर, अनादेय, ६ संस्थानोमे से बीचके चार संस्थान, ६ सहननोमे से बीचके ४ सहनन। अप्रशस्त विहायोगति—स्त्रीवेद, नीच गोत्र तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उद्योत, तिर्यगायु, इन २५ प्रकृतियोका बध तीसरे गुणस्थानमे नही है और पहले तीर्थंकर आदिक तीन प्रकृतियोका भी नही है, और इसके अतिरिक्त इन

गुणस्थानोमे चूँकि किसी भी आयुका बध नही होता, सो नरकायु, तिर्यगायु पहले दूसरे गुण-स्थानमे बधसे व्युच्छिन्न है सो नरकायु, तिर्यगायु तो पहले दूसरे गुणस्थानमे बधसे व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियोमे शामिल है। शेष दो आयु मनुष्यायु और देव आयु इनका बध नही होता। इस प्रकार दूसरे गुणस्थानमे बँधने वाली १०१ प्रकृतियोमे से २७ प्रकृतियां घट जाने से ७४ प्रकृतियोका बध होता है। गुणस्थान गुणोके विकाससे आगे बढते जाते है। तो जितना जितना विकास होता है उतनी ही प्रकृतियोका बध कम हो जाता है।

(३११) **सम्यग्दृष्टि जीवोमें ओघालापसे बन्धका विवरण**—चौथे गुणस्थानमे अब तीर्थंकर प्रकृति बँधने लगी तथा मनुष्यायु, देवायु बँधने लगी तो तीसरे गुणस्थानमे बँधने वाली ७४ प्रकृतियोमे ३ बढ़ानेसे ७७ प्रकृतियोका बध होता है। ५वें गुणस्थानमे १० प्रकृतियां जो कि चतुर्थ गुणस्थानमे बँधसे हट जाती है उनको कम करनेसे ६७ प्रकृतियोका बध होता है। चौथे गुणस्थानमे बन्धव्युच्छिन्न प्रकृतियाँ ये है—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, वज्रवृषभनाराचसंहनन, प्रथम संहनन, औदारिकशरीर, औदारिकाङ्गोपांग, मनुष्यगति व आनुपूर्वी तथा मनुष्यायु। छठे गुणस्थानमे ४ प्रकृतिया और घट जाती है जिनकी बधव्युच्छित्ति ५वें गुणस्थानमे होती है। वे ४ प्रकृतिया है– प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। इनके हटनेसे महाव्रत हुआ करता है। अब छठे गुणस्थानमे बध व्युच्छित्तिकी ६ प्रकृतियाँ घटनेसे तथा आहारक शरीर, आहारक अङ्गोपाग बधमे बढ जानेसे यहां ५९ प्रकृतियोका बन्ध होता है। ८वें गुणस्थानमे देवायुप्रकृतिका बंध नही होता, इसकी व्युच्छित्ति ७वें गुणस्थानमे हो जाती है, अतः ५८ प्रकृतियोका बन्ध होता है। ८वें गुणस्थानमे ३६ प्रकृतियां बधसे अलग हो जाती है। उन्हे घटानेसे ९वें गुणस्थानमे २२ प्रकृतियोका बन्ध होता है। आठवें गुणस्थानमे बन्धव्युच्छिन्न ३६ प्रकृतियां ये है– निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, पञ्चेन्द्रिय, तैजसद्विक, आहारकद्विक, समचतुरस्र सस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य, वैक्रियक शरीर, वैक्रियकाङ्गोपाङ्ग, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, वादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर व आदेय, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा। ९वें गुणस्थानमे क्रमशः ५ प्रकृतियोकी बध व्युच्छित्ति होती है। पुरुषवेद, सज्वलनक्रोध, संज्वलनमान, सज्वलनमाया व सज्वलन लोभ। इनके घटानेसे १०वें गुणस्थानमे १७ प्रकृतियोका बन्ध होता है। १०वें गुणस्थानमे १६ प्रकृतिया बन्धसे व्युच्छिन्न हो जाती है, वे १६ प्रकृतियाँ है—५ ज्ञानावरण, ५ अन्तराय, ४ दर्शनावरण, यशकीर्ति और उच्चगोत्र। इनके हट जानेसे ११वें गुणस्थानमे सिर्फ एक प्रकृतिका बन्ध होता है अर्थात् साता वेदनीयका बन्ध होता है। १२वें गुणस्थानमे भी एक साता वेदनीयका बन्ध होता है।

१३वें गुणस्थानमे भी एक साता प्रकृतिका बन्ध होता है। इसका बन्ध व्युच्छेद १३वें गुणस्थानमे हो जाता है। अतः १४वें गुणस्थानमे कोई भी प्रकृति नही बँधती। ये बँधी हुई प्रकृतिया अपनी स्थिति रखती हैं और अपनी स्थितिपर्यन्त जीवके साथ रहती है। जब उनकी स्थिति पडी हुई है तो वे कर्मप्रकृतियां आत्मासे अलग हो जाती है। ऐसे अलग होने का नाम उदय है और इसीको निर्जरा भी कहते है। उसीका वर्णन करते हैं कि स्थिति पूरी होनेपर फिर इन प्रकृतियोका क्या होता है ?

## ततश्च निर्जरा ॥७-२३॥

(३१२) **साधारण निर्जराका वर्णन**—पहले बँधी हुई कर्म प्रकृतियोके परित्यागका नाम निर्जरा है, जिन कर्म प्रकृतियोका बँध हुआ था वे अन्तमे निकलते समय आत्माको पीडा अथवा अनुग्रह देकर आत्मासे झड जाती है अर्थात् वे कर्मरूप नही रहती। जैसे कि जो भी भोजन किया वह भोजन अपनी स्थिति तक पेटमे रहता है, पीछे निकलकर नि सार हो जाता है, मलरूपमे अलग हो जाता है इसी तरह कर्मप्रकृतियां स्थितिको पूर्ण करने पर फल दे करके निःसार हो जाती हैं। वह निर्जरा दो प्रकारकी कही गई—(१) विपाकजा और (२) अविपाकजा। इस ससार मोहसमुद्रमे जहाँ चारो गतियोमे जीव भ्रमण कर रहा है उस परिभ्रमण करने वाले जीवके शुभ और अशुभ कर्मका विपाक होने पर या उदीरणा होनेपर वह फल दे करके झड जाय इसको कहते हैं विपाकजा निर्जरा। जैसी भी उन कर्मोंमे फलदान शक्ति है, सातारूप हो, असातारूप हो उसके उस प्रकारसे अनुभाग किये जाने पर स्थितिके क्षयसे वे सब कर्म झड जाते हैं। सो यह विपाकजा निर्जरा ससारी जीवोके अनादिकालसे चल रही है। इस निर्जरासे तो इस जीवने कष्ट ही पाया, इससे इसको मुक्तिका मार्ग नही मिल पाता। दूसरा है अविपाकजा निर्जरा। किसी कर्मप्रकृतिकी स्थिति तो पूरी नही हो रही, परस्थिति पूरी होने से पहले ही ज्ञानबलसे, पुरुषार्थसे, तपश्चरणसे उस प्रकृति को ही उदीरणामे लेकर उदयावलिमे प्रवेश कराकर उसका फल जब भोगा जाता है तो वह अविपाकजा निर्जरा कहलाती है। जैसे आमका फल अपनी स्थिति पर स्वयं डालमे पक जाता है किन्तु किसी आम्रफलको पकने से पहले ही गिरा दिया जाय और उसे भूसा, मसाला आदिमे रखकर पका लिया जाय तो पहले ही पका दिया, इसी प्रकार कर्मप्रकृतियां पहले ही खिरा दी गईं, इसे अविपाक निर्जरा कहते हैं।

(३१३) **प्रकृतसूत्रसम्बन्धित कुछ शब्दानुशासित तथ्योपर प्रकाश**—इस सूत्रमे च शब्द दिया है जिससे दूसरी बात यह सिद्ध होती है कि निर्जरा स्थिति पूर्ण होनेपर भी होती है और तपश्चरण आदिकके बलसे भी होती है। यहाँ शकाकार कहता है कि ९ वें अध्यायमे

सम्वरके प्रकरणमे सूत्र आयगा निर्जरा बताने वाला। सूत्रमे यह भी जोड दिया जाय अथवा सबर यहाँ शब्द जोड़ दिया जाय तो एक सूत्र न बनाना पडेगा। इसके उत्तरमे कहते है कि यहां इस सूत्रमे लिखनेसे लाघव होता है। अगर आगे इस निर्जरा शब्दमे ग्रहण करते तो वहां फिरसे विपाकोनुभव: इतना शब्द और लिखना पडता। यहां शकाकारका एक अभिप्राय यह है कि जैसे पुण्य और पापका पृथक् ग्रहण नहीं किया, क्योकि पुण्य और पापका बधमे अन्तर्भाव कर लिया, उसी प्रकार निर्जराका भी बधमे अन्तर्भाव कर लिया जाय अर्थात् अनुभवबंधमे निर्जराका अन्तर्भाव कर लिया जाय तो निर्जराका फिर पृथक् ग्रहण न करना पडेगा। इसका समाधान यह है कि यहाँ अनुभवका अभी शङ्काकारने अर्थ नही समझा। फल देनेकी सामर्थ्यका नाम अनुभव है, और फिर अनुभव किया गया पुद्गलका जिनमे कि शक्ति पडी थी, उनकी निवृत्ति हो जाना निर्जरा है। अनुभवमे और निर्जरामे अर्थभेद है, इसी कारण सूत्रमें ततः शब्द दिया है पंचमी अर्थमे, अर्थात् अनुभवसे फिर निर्जरा होती है। यहां शंकाकार कहता है कि लाघवके लिए इस ही सूत्रमे तपसा शब्द और डाल दिया जाय तो सूत्र बन जायगा ततोनिर्जरा तपसा च और फिर आगे सूत्र न कहना पडेगा। समाधान—सूत्र दोनो जगह कहना आवश्यक है। यहा तो विपाक भोगनेकी मुख्यतासे वर्णन चल रहा है। कर्म उदयमे आये, स्थिति पाकर झडे, फल देकर निकले, इसका नाम निर्जरा है। साथ ही तपसे भी निर्जरा होती है, ऐसा बतानेके लिए च शब्द जोड दिया और ९ वें अध्यायके संवर के प्रकरणमे जो तपसा निर्जरा च सूत्र आया है उसकी मुख्यता सबरमे है। तो तपसे सबर होता है और निर्जरा भी होती है। तो संबरकी प्रधानता बतानेके लिए वहा भी सूत्र कहना आवश्यक है।

(३१४) **नवम अध्यायके संवर प्रकरणमें निर्जरासंबधित सूत्रको पृथक् कहनेके तथ्योंपर प्रकाश**—यहा फिर शका होती है कि आगे क्षमा, मार्दव आदिक दस लक्षणधर्म कहे गए हैं, उनमे तप भी आया है। उत्तम तप भी तो धर्मका अग है और तपमे ध्यान आता है सो यह उत्तम तप सवरका कारण हो गया, सो आगे खुद कहेगे। तो तपसे सवर होता है यह बात अपने आप उससे ही सिद्ध हो जायगी। और यहां जो सूत्र बनाया है सो निर्जराका कारण बताया है कि निर्जरा सविपाक निर्जरा अविपाक निर्जरा दो प्रकारकी होती है—फल देकर झडे वह भी निर्जरा है। तो वह सब बात युक्तिसे ठीक हो जाती है। शका—तब आगे ९वें अध्यायमे तपका ग्रहण करना निरर्थक है। उत्तर— कहते है कि वहा पुनः तप का ग्रहण करके पृथक् सूत्र बनाया सो प्रधानता बतानेके लिए बनाया गया। जितने संवर और निर्जराके कारण है उन सब कारणोमे तप प्रधान कारण है। क्षमा, मार्दव आदिक सभी

कारण बताये गए। गुप्ति, समिति आदिक सभी बताये गए हैं मगर संवरके कारणोमे तपकी प्रधानता है और तब ही रूढ़िमे भी यही बात है कि तपश्चरण करनेसे मोक्ष होता है। सवर होता है, निर्जरा होती है इसी कारण इस प्रकृत सूत्रमे तपका शब्द रखने से गारव हो जाता है याने शब्द अधिक बढ जाते है। जरूरत नही होती इसलिए इस सूत्रमे तप शब्द को ग्रहण नही किया किन्तु च शब्दसे तपको गौणरूपमे लिया, क्योकि यह अनुभाग बधका प्रकरण है।

**(३१५) घातिया कर्मकी प्रकृतियोकी मूल विशेषताओका वर्णन**—वे कर्मप्रकृतियाँ दो प्रकारकी होती हैं—(१) घातिया कर्म, (२) अघातिया कर्म। जो आत्माके गुणोको पूरी तरहसे घात दे सो तो घातियाकर्म है और जो गुणोको तो न घाते किन्तु गुणोके घातने वाले कर्मके सहायक बनें, नोकर्म सत् बनें उन्हे अघातिया कर्म कहते है। घातिया कर्म ४ हैं—(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) मोहनीय और (४) अन्तराय। ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञानगुणको घातता है। दर्शनावरण आत्माके दर्शन गुणको घातता है। मोहनीय कर्म आत्माके सम्यक्त्व गुण व सम्यक्चारित्र व आनन्द गुणको घातता है। अन्तरायकर्म आत्मा की दान आदिक शक्तियोका उपघात करता है। घातियाकर्म भी दो प्रकारके हैं—(१) सर्वघाती और (२) देशघाती। सर्वघाती प्रकृतियाँ उन्हे कहते है जिनके उदयसे उस गुणका पूरा घात हो जिस गुणका आवरण करने वाला सर्वघाती है। ये सर्वघाती प्रकृतियाँ २० होती हैं—केवलज्ञानावरण—यह प्रकृति केवलज्ञानका घात करती है। निद्रानिद्रा— इस प्रकृतिके उदय से दर्शनगुणका घात होता है। प्रचलाप्रचला— स्त्यानगृद्धि, निद्रा, प्रचला, केवलदर्शनावरण—इन प्रकृतियोके उदयसे आत्माके दर्शनगुणका घात होता है। १२ कषायें— अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, ये १२ प्रकृतिया सर्वघाती है। अनन्तानुबन्धीके उदयसे सम्यक्त्व गुणका घात होता है और पूरा ही घात होता है तब ही सर्वघाती है याने रच भी सम्यक्त्व प्रकट नही हो सकता। अप्रत्याख्यानावरणके उदयमे अणुव्रतका घात होता है। रच भी अणुव्रत नही हो सकता। प्रत्याख्यानावरणके उदयमे महाव्रतका घात होता है अर्थात् रच भी महाव्रत नही हो सकता, और दर्शनमोहनीय भी सर्वघाती प्रकृति है, इससे सम्यक्त्व गुण प्रकट नही होता। इस प्रकार सर्वघाती प्रकृतिया २० है— देशघाती प्रकृति इस प्रकार है। ज्ञानावरणकी ४, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मन पर्ययज्ञानावरण, इनका क्षयोपशम होता है और क्षयोपशमके समय वह ज्ञान व्यक्त होनेसे रह जाता है, परन्तु कुछ रहता है, क्योकि यह सर्वघाती प्रकृति नही है। दर्शनावरणकी तीन प्रकृतियाँ—चक्षुदर्श-

नावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण, इनके क्षयोपशममे कुछ ज्ञान होता है कुछ नही रहता। अन्तरायकी ५ प्रकृतियां इनका क्षयोपशम होता है। कुछ दानशक्ति प्रकट है कुछ नही प्रकट है, कुछ लाभशक्ति प्रकट है कुछ नही, इस कारण वे देशघाती सज्वलनकी चार कषायें, इनके रहते हुए संयम नही बिगडता, फिर भी सयममे कमी रहती है जिससे यथाख्यातचारित्र नही बनता। ९ नो कषाय ये भी देशघाती प्रकृति है। इनके कालमे भी कुछ ज्ञान रहता, कुछ नही रहता। ये घातियाकर्मकी प्रकृतियां है।

**(३१६) अघातिया कर्मोंकी प्रकृतियोंकी मूल विशेषतायें**—घातिया प्रकृतियोके सिवाय शेष बची सब अघातिया कर्मकी प्रकृतियां है। वहां यह विभाग जानना चाहिए कि कुछ नामकर्मकी प्रकृतिया पुद्गलमे फल देती है और उनको पुद्गल विपाकी प्रकृति कहते है। ऐसी प्रकृति शरीर नामकर्मसे लेकर स्पर्श पर्यन्त तो पिण्ड प्रकृतियां है। शरीर, बन्धन, संघात, संस्थान, सहनन, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श ये नामकर्मकी प्रकृतियां पुद्गलविपाकी है याने इनके उदयमे फल पुद्गलपर पड़ता है याने कुछ प्रभाव पुद्गलपर आता है। शरीरनामकर्मके उदयसे शरीरकी ही तो रचना हुई, पुद्गलमें ही तो फल मिला। ऐसे ही सबका अर्थ समझिये—और उनके अतिरिक्त अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, प्रत्येकवनस्पति, साधारण वनस्पति, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ निर्माणनामकर्म, ये सब पुद्गलविपाकी प्रकृतिया है, इनका असर पुद्गलमे होता है। कर्मप्रकृतियोमे क्षेत्रविपाकी प्रकृतिया चार है—(१) आनुपूर्वी वाली, क्योकि आनुपूर्वीके उदयमे विग्रहगतिमे पूर्ण आकार रहता है। तो मरण के बाद जन्म लेनेके पहले जो विग्रहगतिका क्षेत्र है उस क्षेत्रमे इसका फल मिला कि पूर्व शरीरके आकार रहे। आयुकर्म भवविपाकी प्रकृति है। नरकायुके उदयमे नरकभवमे उत्पन्न होता, तिर्यक् आयुके उदयमे तिर्यंच भवमे उत्पन्न होता, ऐसे ही सबकी बात जानना। चूकि भवपर प्रभाव करने वाली हैं ये प्रकृतियां, इस कारण चारो आयुकर्म भवविपाकी प्रकृति है। कुछ प्रकृतियां जीवविपाकी हैं याने जीवमे फल देनेके कारणभूत है। जैसे गति, जाति इनमे उत्पन्न होनेसे जीव अपने आपमे ही कमजोरी महसूस करता और अपनेमे ही अपना अनुरूप भाव करता है। सो ये जीवविपाकी प्रकृतियां है। इस तरह अनुभाग बधका वर्णन किया।

**(३१७) सम्यक्त्वरहित गुणस्थानोंमे उदययोग्य प्रकृतियोंका निर्देश**—अनुभागबधसे बँधी हुई प्रकृतियां अपनी स्थिति पूर्ण करनेपर या कदाचित् पहले उदयमे आनेपर इनका फल मिलता है, जिसे कहते है कर्म उदयमे आयेंगे और फल मिलेगा। सो इन १४८ प्रकृतियोका भी उदय हो सकता है, एक साथ सबका उदय नही होता, क्योकि अनेक प्रकृतियां सप्रतिपक्ष हैं। अब उन १४८ प्रकृतियोमे १० तो बँधन और सघातके गर्भित किया और २० स्पर्शादिक

प्रकृतियोमे ४ मूल रखकर १६ ये कम किया तो यो २६ कम हो जानेसे उदय योग्य प्रकृतियो की गणना, चर्चा १२२ प्रकृतियोमे की जाती है। इन १२२ उदययोग्य प्रकृतियोमे इस प्रथम गुणस्थानमे ११७ प्रकृतियोका उदय रहता है। जब मिथ्यादृष्टि कहा तो सभी प्रकारके मिथ्यादृष्टि ग्रहण कर लेते, चाहे वे यथासंभव किसी मार्गणाके हो, प्रथम गुणस्थानमे तीर्थंकर आहारक शरीर, आहारक अगोपाङ्ग, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति इन ५ प्रकृतियोका उदय नही होता। इसके आगे उदय हो सकेगा, इसलिए इसको अनुदयमे शामिल किया। और पहले गुणस्थानमे ५ प्रकृतियोकी उदयव्युच्छित्ति होती है। वे ५ प्रकृतियां है--मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण। इनका अब इसके आगेके किसी भी गुणस्थानमे उदय न हो सकेगा। अतएव इसका नाम है उदयव्युच्छित्ति। यहां एक बात और विशेष समझना कि प्राय' जिस गुणस्थानमे जिन प्रकृतियोका बन्ध नही कहा गया तो मरकर वह जिस गतिमे न जायगा वैसा उदय न आ पायगा, ऐसा समन्वय होता है। तो प्रथम गुणस्थानके उदययोग्य ११७ प्रकृतियोमे पहले ५ अनुदयकी और ५ उदयव्युच्छित्तिके हटनेसे तथा नरकगत्यानुपूर्वी का उदय न होनेसे ११ प्रकृतियां कम हो जाती है। इस प्रकार दूसरे गुणस्थानमे १११ प्रकृतियोका उदय होता है। दूसरे गुणस्थानमे ६ प्रकृतियोकी उदयव्युच्छित्ति होती है। वे ६ प्रकृतिया हैं– अनन्तानुबधी चार, एकेन्द्रिय, स्थावर, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय इनका उदय आगेके गुणस्थानोमे न आयगा। इससे सिद्ध है कि इसका उदय दूसरे गुणस्थानसे रहता है। तब ही तो एकेन्द्रिय जीवके दो गुणस्थान बताये गए। भले ही पञ्चेन्द्रिय जीव दूसरे गुणस्थानमे मरकर एकेन्द्रियमे जाय तो उसके अपर्याप्तमे दूसरा गुणस्थान मिलेगा, पर मिला तो सही। यही बात दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीवोमे अपर्याप्त अवस्थामे इसका दूसरा गुणस्थान हो सकता है। मिश्रमे दूसरे गुणस्थानमे उदय वाली १११ प्रकृतियोमे से ६ प्रकृतिया कम हो गईं तब १०२ बचनी चाहिएँ, लेकिन तीसरे गुणस्थानमे किसी भी आनुपूर्वीका उदय नही होता, क्योकि इस गुणस्थानमे मरण नही है, अतएव आनुपूर्वी तो तीन कम हो गए। नरकगत्यानुपूर्वी अनुदयके कारण दूसरेके गुणस्थानमे भी न थी और सम्यग्मिथ्यात्वका उदय बन गया। इस प्रकार १०० प्रकृतिया तीसरे गुणस्थानमे उदयमे रहती हैं।

( ३१८ ) **प्रमत्त सम्यग्दृष्टियोमे उदययोग्य प्रकृतियोंका निर्देश**--तीसरे गुणस्थानमे उदयव्युच्छित्ति एक सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिकी होती है तो १०० मे एक कम करनेसे ६६ हुए और यहां चार आनुपूर्वी व सम्यक्प्रकृतिके उदयमे आने लगे, इस तरह ५ प्रकृतियां उदयमे बढ जानेसे १०४ प्रकृतियां हो जाती है। चौथे गुणस्थानमे १७ प्रकृतियोका उदयव्युच्छेद होता है। वे १७ प्रकृतियां ये हैं—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, वैक्रियक शरीर,

वैक्रियक अंगोपाङ्ग, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु, देवायु, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, और अयशकीर्ति । तो चौथे गुणस्थानके उदय वाली उन १०४ प्रकृतियोंमे से १७ कम हो जानेसे ८७ प्रकृतियोका उदय ५वें गुण-स्थानमे होता है । ५वें गुणस्थानमे उदय व्युच्छेद ८ प्रकारका है, वह है प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, तिर्यगायु, उद्योत, नीच गोत्र, तिर्यग्गति । यो ५वें गुणस्थानकी ८७ उदय वाली प्रकृतियोंमे से ८ प्रकृतियां घट जानेसे तथा आहारककी दो उदय होनेसे ८१ प्रकृ-तियोका उदय होता है ।

(३१९) **प्रमादरहित गुणस्थानोंमें उदययोग्य प्रकृतियोंका निर्देश**—छठे गुणस्थानमे उदयव्युच्छेद ५ प्रकृतिका है, वह है आहारकशरीर, आहारक अंगोपांग, स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचलाप्रचला । यो ८१ मे से प्रकृतियाँ घट जानेसे ७६ प्रकृतियोका उदय ७वें गुण-स्थानमे होता है । ७वें गुणस्थानमे ४ प्रकृतियोका उदयव्युच्छेद होता है—सम्यक् प्रकृति, अन्तके तीन सहनन । सो ७६ मे से चार घटानेसे ८वें गुणस्थानमे ७२ प्रकृतियोका उदय है । ८वें गुणस्थानमे उदयव्युच्छेद ६ प्रकृतियोका है । वे है ६ नोकषाय हास्यादिक । उनके घटने से ६६ प्रकृतियोका उदय ९वें गुणस्थानमे रहता है । ९वें गुणस्थानमे ६ प्रकृतियोका उदय-व्युच्छेद है । नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, सज्वलन क्रोध, मान, माया, ये ६ प्रकृतियां घट जाने से १०वें गुणस्थानमें ६० प्रकृतियोका उदय रहा । १०वें गुणस्थानमे एक सज्वलन लोभका उदयव्युच्छेद है । उसके घटनेसे ११वें गुणस्थानमें ५९प्रकृतियोका उदय रहा । ११ वें गुणस्थानमें दो प्रकृतियोका उदयव्युच्छेद है । वज्रवृषभनाराचसहनन व नाराचसंहनन इनके घटनेसे १२वें गुणस्थानमे ५७ प्रकृतियोका उदय रहा । १२वें गुणस्थानमे १६ प्रकृ-तियोंका उदयव्युच्छेद है । ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अंतराय, निद्रा और प्रचला । इन १६ के घटनेसे तथा तीर्थंकरप्रकृतिका उदय बढ जानेसे १३वें गुणस्थानमे ४२ प्रकृतियोका उदय है । १३वे गुणस्थानमे ३० प्रकृतियोका उदयव्युच्छेद है । वे ३० हैं—वेदनीयकी एक, पहला संहनन, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुस्वर, प्रशस्त, अप्रशस्त विहायोगति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, तैजस शरीर, तैजस अंगोपांग, सस्थान ६, वर्णादिक ४, अगुरुलघुत्व आदिक ४ और प्रत्येक । इन ३० के घटनेसे १४वें गुणस्थानमे १२ प्रकृतियोका उदय रहा । यहां यह बात जाहिर होती है कि १३वें गुणस्थानमे शरीरादिककी जो उदयव्युच्छित्ति हुई, तो इसके मायने है कि १४वें गुणस्थानमे इसका उदय न होनेसे शरीर ही न कुछकी तरह है । अन्तमे शेष १२ प्रकृतियोका भी उदय खतम होनेसे ये सिद्ध भगवान बन जाते है । यहां तक प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंधका वर्णन किया । अब

अन्तिम प्रदेशबध कहा जा रहा है। उसमे सर्वप्रथम इतने प्रश्न आयेंगे कि प्रदेशबध किस कारणसे होता है, कब होता है, कैसे होता है, किस प्रभाव वाला है, कहा होता है और कितने परिमाणमे होता है ? इन सब प्रश्नोका उत्तर देने वाले सूत्रको कहते हैं—

**नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥८-२४॥**

(३२०) **प्रदेशबन्धका निर्देश और प्रदेशबन्धनिर्देशकप्रकृत सूत्रमें 'नामप्रत्ययाः' पद की सार्थकता**—नामके कारण समस्त भावोमे योगविशेषसे सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाहमे स्थित समस्त आत्मप्रदेशोमे अनन्तानन्त प्रदेश है। इस अर्थसे यह ध्वनित होता कि जीवके साथ अनन्तानन्त कार्माणवर्गणायें कर्मरूप होकर स्थित रहती है। सर्वप्रथम शब्द आया है–नाम-प्रत्यय। इसका अर्थ है कि सर्व कर्म प्रकृतियोके कारणभूत अर्थात् परमाणुवोका बध होगा, उन्हीमे तो वे प्रकृतियाँ आयेंगी जिनका पहले वर्णन किया, जो यह प्रदेशबध हुआ, वहा ही प्रकृति होगी, स्थिति होगी, अनुभाग होगा। तो उन सब बन्धोका आधार उपादान तो ये कार्माणवर्गणायें है, यह बात प्रथम पदमे भाषित की है। यहा शकाकार कहता है कि नाम प्रत्ययका यह अर्थ किया जाय तो सीधा अर्थ है कि जिन प्रकृतियोका नामकरण है। उत्तर–ऐसा अर्थ ठीक नही है, क्योकि इस अर्थके किए जानेमे केवल नामकर्मका ही ग्रहण होगा और यह आगमविरुद्ध रहेगा। इस पदमे तो हेतुभावका ग्रहण किया गया है अर्थात् जैसे कि पहले सूत्र कहा गया था—'सत्यथानाम' जैसा कि कर्मोंका नाम दिया गया है उनकी तरहकी प्रकृति स्थिति आदिक बनती है, उनके आधारभूत ये कर्मपरमाणु हैं।

(३२१) **सूत्रोक्त सर्वतः पदकी सार्थकता**—दूसरा पद है सर्वतः, इसका अर्थ है कि सभी भवोमे यह बध होता रहा, इसमे कालका ग्रहण बताया गया है। एक-एक जीवके अनन्त भव गुजर चुके है और आगामी कालमे किसीके संख्यात, किसीके असख्यात और किसीके अनन्त भव गुजरेंगे, उन सभी भवोमे यह प्रदेशबध होता रहा है। ऐसा नही है कि जीव पहले शुद्ध हो, पश्चात् कर्म परमाणुवोका बधन हुआ। यदि जीव शुद्ध होता तो कर्म परमाणुवोका बधन हो ही न सकता था, क्योकि कर्मपरमाणुवोके बधनका कारण तो जीवके अशुद्ध भाव है। और मान लिया गया जीवको पहलेसे शुद्ध तो कर्मबन्धन कैसे हो सकता ? क्योकि जब कर्मबध पहलेसे होता तब उनके उदयमे अशुद्धभाव बनता। सो अब अशुद्धभाव तो हो नही सक रहा, फिर कर्मबंध कैसे होता ? इस कारण जो तथ्य है वह कहा जा रहा है कि इस जीवके सभी भवोमे कर्मबध हुआ है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्मसम्बन्ध अनादि

कालसे है।

(३२२) **सूत्रोक्त 'योगविशेषात्' पदकी सार्थकता**—सूत्रमे तीसरा पद है योगविशेषात् अर्थात् मन, वचन, कायके योगसे कर्मका आस्रव होता है योगके कारण। आत्माके प्रदेशोमे परिस्पद होनेसे आत्मस्वरूपके क्षेत्रमे रहने वाली कार्माणवर्गणायें, विश्रसोपचय वाली वर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती है, तो उनका कारण योगविशेष है। जहाँ योग नही रहता वहाँ कर्मका आस्रव नही होता, बधकी बात तो अलग रही। यद्यपि आस्रव और बध एक साथ होते हैं किन्तु कोई जीव ऐसे होते है कि जिनके ईर्यापथास्रव होता है याने कर्म आये और गए, उनमे एक क्षणकी भी स्थिति नही बँधती। वहाँ बंध तो नही कहलाया, आस्रव कहलाया फिर भी जो सकषाय जीवकी गतियाँ है उनमे बध है। सो जिस समय कर्म आये वह समय भी स्थितिमे शामिल हो गया, आगे भी रहेगा। तो यो आस्रव और बध एक साथ हो गए। योगविशेषसे आस्रव होता है, यही बधका ग्रहण कराता है।

(३२३) **"सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिता" इस सूत्रोक्त पदकी सार्थकता**—चौथे पदमे कई बातोका वर्णन है। पहली बात कही गई है कि वे कर्मपरमाणु सूक्ष्म हैं। है वे पुद्गल, किन्तु शरीरस्कधकी भाँति स्थूल नही है। और ऐसी सूक्ष्म कार्माणवर्गणायें है तब ही वे जीवके द्वारा ग्रहण करने योग्य बन पायी है। जीव द्वारा ग्रहण योग्य पुद्गल सूक्ष्म हो सकता है, स्थूल नही हो सकता। दूसरी बात यह कही गई है कि ये कर्मपुद्गल एक क्षेत्रावगाहमे स्थित है अर्थात् जहाँ आत्मप्रदेश है उस ही क्षेत्रमे अवगाहरूपसे वे कर्म पुद्गल स्थित है। ऐसा नही है कि आत्माके निकट आत्मासे चिपके हुए कर्मपुद्गल हो, किन्तु जितने विस्तारमे आत्मा है उतने ही विस्तारमे उन्ही जगहोमे ये कार्माण वर्गणायें पडी हुई है। यहा आत्मप्रदेशोका और कर्म पुद्गलका एक अधिकरण बताया गया है, याने व्यवहारनयसे जहां आत्मप्रदेश है उन्हीके ही साथ वहां ही ये कार्माण वर्गणायें हैं, अन्य क्षेत्रमे नही है। तीसरी बात इस पदमे स्थित शब्द देनेसे यह ध्वनित हुई कि वे ठहरे हुए कर्मपुद्गल है जो बधमे आये है वे जाने वाले नही हैं, डोलने वाले नही हैं, अन्य क्रियायें उनमे नही है, केवल स्थिति क्रिया है। इस प्रकार चौथे पदमे बताया गया कि वे कर्म वर्गणाये सूक्ष्म हैं, आत्माके एक क्षेत्रावगाहमे है और स्थित है।

(३२४) **सूत्रोक्त पञ्चम और षष्ठपद सम्बधित तथ्योपर प्रकाश**—पांचवें पदमे कहा गया है कि वे कर्मवर्गणायें सर्व आत्मप्रदेशोमे है। आत्माके एक प्रदेशमे या कुछ प्रदेशोमे कर्मबंध नही है, किन्तु ऊपर नीचे अगल बगल सर्व आत्मप्रदेशोमे व्याप करके ये कर्मवर्गणायें स्थित है। छठे पदमे बताया है कि यह अनन्तानन्त प्रदेशी है। यहां प्रदेश शब्दका अर्थ

परमाणु है, लेकिन जो कर्मवर्गणायें कर्मबन्ध रूपमे होती है वे एक दो करोड अरब असख्यात नही किन्तु अनन्तानन्त परमाणु एक समयमे बंधको प्राप्त होते है। ये बँधने वाले कर्मस्कध न तो सख्यात परमाणुवोका है और न असख्यात परमाणुवोका है और अनन्तका भी नही किन्तु अनन्तानन्त परमाणुवोका है। कर्मपरमाणु अभव्य राशिसे अनन्त गुणे है, सिद्धराशिके अनन्तभाग प्रमाण है। घनागुलके असख्येय भाग क्षेत्रोमे अवगाही हैं। उनकी स्थितिया अनेक प्रकारकी हैं। कोई एक समय कोई दो समय आदिक बढ बढकर कोई सख्यात समय कोई असंख्यात समयकी स्थिति वाले है। इनकी स्थितियोका वर्णन पहले किया जा चुका है। इन कर्मवर्गणावोमे ५ वर्ण ५ रस, २ गध, ४ स्पर्श अवस्थाये है। ये कर्मवर्गणामे ८ प्रकार की कर्मप्रकृतियोके योग्य हैं अर्थात् इनमे ८ प्रकारकी प्रकृतियां बन जाती हैं। इनका बध मन, वचन, कायके योगसे होता है। होता तो आत्माके प्रदेश परिस्पदसे पर वह प्रदेशपरि-स्पद मन, वचन, कायके वर्गणाओका आलम्बन लेकर होता है उनकी बात बतानेके लिए तीन योगकी बात कही गई है। कर्मबन्धके मायने क्या है ? आत्माके द्वारा वह स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार प्रदेश बन्धका वर्णन किया और इसीके साथ बंध पदार्थका भी वर्णन हो चुकता है। अब उन बँधी हुई प्रकृतियोमे पुण्य प्रकृति कौन सी है, पाप प्रकृतियोमे पुण्य प्रकृति कौन सी है, पाप प्रकृतिया कौन सी हैं, यह बात बताते हैं। और चूँकि पुण्य प्रकृति और पाप प्रकृति दोनोका अतर्भाव बधमे हो जाता है, इसलिए ७ तत्त्वोमे इनका वर्णन नही किया गया तो भी चूकि बधमे ही ये शामिल हैं तो उन पुण्य और पापप्रकृतियोका अलग अलग नाम बतलानेके लिए सूत्र कहेगे। उनमे सबसे पहले पुण्यप्रकृतियोकी गणना वाला सूत्र कहते है।

## सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥८-२५॥

(३२५) **पुण्यप्रकृतियोके नामका निर्देश**—सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नामकर्म, शुभगोत्र कर्म ये पुण्य प्रकृतियाँ कहलाती है। शुभका अर्थ है, जिनका फल ससारमे अच्छा माना जाता है। शुभ आयु तीन प्रकारकी है-(१) तिर्यंचायु (२) मनुष्यायु और (३) देवायु। यहां कुछ सदेह हो सकता है कि मनुष्य और देव इन दो आयुको शुभ कहना तो ठीक था, पर तिर्यंचायुको शुभ क्यो कहा गया ? साथ ही गतियोमे तिर्यंचगतिको अशुभ कहा गया है। तो जब गति अशुभ है तो यह आयु भी अशुभ होना चाहिए। पर यह संदेह इसलिए न करना कि आयुका कार्य दूसरा है, गतिका कार्य दूसरा है। आयुका कार्य है उस शरीरमे जीवको रोके रखना, और गतिका कार्य है कि उस भवके अनुरूप परिणामोका होना। तो कोई भी तिर्यंच पशु, पक्षी, कीडा मकोड़ा यह नही चाहता कि मेरा मरण हो जाय। मरण

होता हो तो बचनेका भरसक उद्यम करते हैं। इससे सिद्ध है कि तिर्यंचको आयु इष्ट है, किंतु तिर्यंच भवमे दुःख विशेष है और वे दुःख सहे नही जाते उन्हे दुःख इष्ट नही हैं इस कारण तिर्यक् गति अशुभ प्रकृतिमे शामिल की गई है और तिर्यंचायु शुभ प्रकृतिमे शामिल की गई है। शुभ नामकर्ममे ३७ प्रकारकी कर्मप्रकृतियां है। मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, पाँचो शरीर, तीनो अगोपांग, पहला सस्थान, पहला सहनन, प्रशस्त वर्ण, प्रशस्त गध, प्रशस्त रस, प्रशस्त स्पर्श, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु परघात। उच्छ्‌वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण, और तीर्थंकर नामकर्म। शुभगोत्र एक उच्चगोत्र ही है। सातावेदनीयका पूरा नाम अब सूत्रमे दिया हुआ ही है। इस प्रकार ये सब ४२ प्रकृतियां पुण्य प्रकृति कहलाती हैं। अब पाप प्रकृतिया कौन सी है इसके लिए सूत्र कहते है।

## अतोऽन्यत पापम् ॥८—२६॥

(३२६) **पापप्रकृतियोके नामोका निर्देशन**—पुण्यप्रकृतियोके सिवाय शेषकी सब प्रकृतियां पापप्रकृतियां कहलाती है। ये पाप प्रकृतियाँ ८२ हैं, ज्ञानावरणकी प्रकृतियाँ ५, दर्शनावरणकी प्रकृतियां ९, मोहनीयकर्मकी प्रकृतियाँ २६, अन्तराय कर्मकी प्रकृतियां ५, ये समस्त घातिया कर्म पाप प्रकृतियां कहलाती है। यहां मोहनीयकर्मकी २६ प्रकृतियां कही गई है। सो बधकी अपेक्षा वर्णन होनेसे २६ कही गई है। मोहनीयकी कुल प्रकृतिया २८ होती है, जिनमे सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति उन दो प्रकृतियोका बंध नही होता। किन्तु प्रथमोपशम सम्यक्त्वके प्रथम क्षणमे मिथ्यात्वके टुकड़े होकर ये दो प्रकृतियां बनकर सत्तामे आ जाती है। इन घातिया कर्मोके अतिरिक्त अघातिया कर्मोमे जो पापप्रकृतियां हैं उनके नाम ये हैं। नरकगति, तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, अन्तके ५ संस्थान, अंतके ५ सहनन, अप्रशस्त वर्ण, अप्रशस्त गध, अप्रशस्त रस, अप्रशस्त स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यगत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशकीर्ति ये ३४ नामकर्मकी प्रकृतियां पापप्रकृतियां हैं। नामकर्म प्रकृतियोके अतिरिक्त असातावेदनीय, नरकायु, और नीचगोत्र ये भी पापप्रकृतियां है।

(३२७) **प्रथमसे सप्तम गुणस्थान तकमे सत्त्वयोग्य प्रकृतियोंका निर्देशन**—सब प्रकृतियोंका बध होकर ये सत्तामे स्थित हो जाते हैं, सिर्फ सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति इन्य विधियोसे सत्त्वमे १४८ प्रकृतिया मानी गई है उनमे से पहले गुणस्थानमे १४८ प्रकृतियोंका सत्त्व रह सकता है। यह सब नाना जीवोंकी अपेक्षा कथन है। दूसरे गुणस्थानमे तीर्थंकर

प्रकृति आहारक शरीर आहारक अंगोपांग इनका सत्त्व नही है। जिन जीवोके इनका सत्त्व होता है वे दूसरे गुणस्थानमे आते ही नही है। इस प्रकार दूसरे गुणस्थानमे ३ कम होनेसे १४५ प्रकृतियोका सत्त्व है। तीसरे गुणस्थानमे १४७ प्रकृतियोका सत्त्व है। यहा तीर्थंकरका सत्त्व नही। चौथे गुणस्थानमे १४८ प्रकृतियां सत्त्वमे पायी जा सकती है। ५वें गुणस्थानमे १४७ की सत्ता हैं। एक नरकायुका सत्त्वविच्छेद चौथे गुणस्थानमे हो चुकता है। छठे गुणस्थानमे १४६ की सत्ता है। तिर्यंचायुका सत्त्वविच्छेद ५ वें गुणस्थानमे हो जाता है। ७ वें गुणस्थानमे स्वस्थान और सातिशय ऐसे दो भेद है, जिनमे स्वस्थानमे १४६ का सत्त्व हो सकता है परन्तु सातिशयमे यदि क्षपक श्रेणीपर जाने वाला जीव है तो उसके सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियोका क्षय हो चुका है। इस कारण ये ७ प्रकृतिया एक देवायु, इनका सत्त्व न मिलेगा क्योकि उसे मोक्ष जाना है। यदि वह उपशम श्रेणीपर चढेगा तो उसके १४६ प्रकृतियोका सत्त्व हो सकता है।

(३२८) **आठवेंसे चौदहवें गुणस्थान तकके सत्त्व वाली प्रकृतियोका निर्देशन**—अब सप्तम गुणस्थानसे ऊपर दो श्रेणियां हो गई। (१) उपशम श्रेणी और (२) क्षपकश्रेणी। उपशम श्रेणीमे १४६ प्रकृतियोका सत्त्व है, पर जो कोई जीव ऐसे है कि जिनके क्षायिक सम्यक्त्व तो है पर उपशम श्रेणी मारी है तो उसके १३९ प्रकृतियोका सत्त्व रहेगा। क्षपक श्रेणीमे ८ वें गुणस्थान वाले जीवके १३८ प्रकृतियोका सत्त्व है। इनके ३ तो आयु नही हैं और ७ सम्यक्त्व घातक प्रकृतियां नही हैं। ९ वें गुणस्थानके पहले भागमे १३८ प्रकृतियो का सत्त्व है। उस भागमे १६ प्रकृतियो क्षय हो जाता है। अत. ९ वें के दूसरे भागमे १२२ प्रकृतियोका सत्त्व है। १६ प्रकृतियोके नाम ये हैं—नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, उद्योत आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म व स्थावर। इन १६ प्रकृतियोका सत्त्वविच्छेद होने से नवमे गुणस्थानके दूसरे भागमे १२२ प्रकृतियोका सत्त्व रहता है। इस दूसरे भागमे १२२ प्रकृतियोका सत्त्व रहता है। इस दूसरे भागमे ८ प्रकृतियोका क्षय हो जाता है। अत तीसरे भागमे ११४ प्रकृतियोका सत्व रहता है। ये ८ प्रकृतियां अप्रत्याख्यानावरण ४ और प्रत्याख्यानावरण ४ हैं। इस तीसरे भागमे नपुंसकवेदका क्षय हो जानेसे चौथे भागमे ११३ प्रकृतियोका सत्व है। यहां स्त्रीवेदका क्षय हो जानेसे ५ वें भागमे ११२ प्रकृतियोका सत्व है। इस भागमे ६ नोकषायोका क्षय हो जानेसे ९वें गुणस्थानके छठे भागमे १०६ प्रकृतियोका सत्त्व रहता है। इस भागमे पुरुषवेदका क्षय हो जानेसे ७ वें भागमे १०५ प्रकृतियोका सत्व रहता है। यहा संज्वलन क्रोधका क्षय हो जानेसे ८वें भागमे १०४ प्रकृतियोका सत्त्व रहता

है। इस भागमे संज्वलन मानका क्षय होनेसे ६ वें भागमे १०३ प्रकृतियोका सत्त्व रहता है। ९ वें गुणस्थानके अन्तिम भागमे संज्वलन मायाका क्षय हो जानेसे १०वें गुणस्थानमे १०२ प्रकृतियोका सत्त्व रहता है। दसवें गुणस्थानमे संज्वलन लोभका क्षय हो जानेसे १२ वें गुणस्थानमे १०१ प्रकृतियोका सत्त्व रहता है। यहाँ १६ प्रकृतियोका क्षय हो जानेसे १३ वें गुणस्थानमे ८५ प्रकृतियोका सत्त्व रहता है। ये १६ प्रकृतियाँ ये है—निद्रा, प्रचला, ज्ञानावरण की ५, अन्तरायकी ५, दर्शनावरणकी ४ याने चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण व केवलदर्शनावरण। १४वें गुणस्थानमे भी ८५ प्रकृतियोका सत्त्व रहता है। यहाँ उपांत्य समयमे ७२ प्रकृतियोका क्षय हो जाता है वे ७२ प्रकृतियाँ ये हैं—शरीरनामकर्मसे स्पर्शनामकर्म पर्यन्त ५०, स्थिरद्विक, शुभद्विक, स्वरद्विक, देवद्विक, विहायोगतिद्विक, दुर्भग, निर्माण, अयशःकीर्ति, अनादेय, प्रत्येक अपर्याप्ति, अगुरुचतुष्क, अनुदित वेदनीय १, तथा नीच गोत्र। अयोगकेवलीके अंतिम समयमें १३ प्रकृतियोका सत्त्व रहता है। इनके क्षय होनेपर ये प्रभु सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार बद्ध प्रकृतियोकी सत्ताका कथन हुआ।

(३२६) **बन्धपदार्थका परिचयोपाय बताकर समाप्तिकी अष्टम अध्यायकी सूचना—** यह बन्धपदार्थ अवधिज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी व केवलज्ञानी आत्माके द्वारा प्रत्यक्षगम्य है, वीतराग सर्वज्ञ आप्तद्वारा उपदिष्ट आगमद्वारा गम्य है व विपाकानुभव आदि साधनोसे अनुमानगम्य है। इस प्रकार बन्धपदार्थका वर्णन इस अष्टम अध्यायमे समाप्त हुआ।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन २१ वां भाग समाप्त ॥

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
श्रीमत्सहजानन्द महाराज द्वारा विरचितम्

## सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः, प्राप्स्यन्ति चापुरचलं सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमंत्रं, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतंत्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पा, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योतिः परं स्वरसमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं, भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम् ।
आनन्दशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमिं, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः ।
यद्दर्शनात्प्रवहति प्रभुमोक्षमार्गं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः ।
सहजानन्दसुवन्द्यं स्वभावमनुपर्ययं याति ॥९॥

## आवश्यक विज्ञप्ति

आध्यात्मिक संत न्यायाचार्य पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णीके पट्टशिष्य अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द जी महाराजने १९४२ ई० से समाजमें उपदेश, अध्यापन, चर्चा, शिक्षासस्थान-स्थापन आदि द्वारा जो समाजका उपकार किया है, उससे समाज सुपरिचित है। इसी बीच अपने अनेक आध्यात्मिक, दार्शनिक व धार्मिक विज्ञान सम्वन्धित ग्रन्थोका सरल रीतिसे निर्माण किया है तथा विशिष्ट ग्रन्थोपर आपके जो प्रवचन होते रहे हैं, उनको नोट कराया जाता रहा था, सो उनका भी सकलन हुआ है। कठिनसे कठिन ग्रन्थोपर जो सरल रीतिसे प्रवचन हुए है, उनको पढकर कल्याणका मार्गदर्शन व सत्य आनन्द प्राप्त हो जाता है। इसी कारण समाजने साहित्य-सस्थायें स्थापित की और उन संस्थाओ द्वारा महाराजश्री के ५४५ ग्रन्थोमे से करीव ३०० ग्रन्थ प्रकाशित हो गये।

अब समाजने ज्ञानप्रभावनाके लिये भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्यमन्दिरकी स्थापना की है, जिसका उद्देश्य स्वाध्यायार्थी बन्धुवों, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंके लिये उक्त साहित्यको पौनी लागतसे भी कममे वितरित कराके ज्ञानप्रसार करना है। यदि किसी वर्ष शास्त्रदानमे अधिक रकम प्राप्त हो जाती है तो यह उक्त साहित्य तिहाई, चौथाई लागत तकमे भी वितरित किया जाता है। हमारी कामना है कि आत्महितैषी बधु इस साहित्यका अवश्य अध्ययन करके इस दुर्लभ मानवजीवनमे वास्तविक मायनेमे जीवनकी सफलता प्राप्त करें, जिससे कि सदाके लिये जन्म-मरणका सकट छूटे और सहज ज्ञान एव सहज आनदका निर्वाध पूर्ण अनंत लाभ बना रहे। जो ग्रन्थ अभी छपे नही हैं उनकी प्रकाशन-व्यवस्था चालू है। श्री सहजानद साहित्य अभिनन्दन समिति २१/२७ शक्तिनगर दिल्ली, श्री भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिर व सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ, इनमे से किसीके भी सदस्य ५००) से लेकर ५०००) तक शुल्क वाले आजीवन सदस्य होते हैं। इन सदस्योको 'वर्णी प्रवचन प्रकाशिनी सस्था' मुजफ्फरनगरसे प्रकाशित मासिक पत्र 'वर्णी प्रवचन' भी भेंटस्वरूप प्रति माह भेजा जाता है। उक्त तीन सस्थावोमे किसीके भी कमसे कम ५००) शुल्क वाला आजीवन सदस्य बनने वालेको अब तकके प्रकाशित उपलब्ध ग्रथ भेंटमे दिये जाते हैं तथा भविष्यमे प्रकाशित सभी ग्रन्थ भेंटमे दिये जायेंगे। इस ही कोषसे ग्रन्थ प्रकाशित होते रहते हैं।

खेमचन्द जैन

मन्त्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ